पाश्चात्य दर्शन

डॉ. ब्रह्म स्वरूप अग्रवाल

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक :
डॉ० सुधाकर अदीब
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 1979
द्वितीय संस्करण : 2002
तृतीय संस्करण : 2013

ISBN - 978-93-82175-20-9

प्रतियाँ : 500

मूल्य : ₹ 100=00 (सौ रुपये मात्र)

मुद्रक :
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा, लखनऊ

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ ६/१४

(श्वेताश्वतर उपनिषद्)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १८/६६

(श्रीमद्भगवद्गीता)

There is no choice between having a philosophy and not having one, but between having a good philosophy and a bad philosophy.

(Aldous Huxley)

रात्रि का तारों भरा नीलगगन किस विचारशील व्यक्ति को दार्शनिक चिन्तन की ओर उत्प्रेरित नहीं करता!

(लेखक)

प्रकाशकीय

दार्शनिक विचार–विमर्श एक समग्र अवधारणा है, फिर भी, सामान्यतया इन्हें प्राच्य और पाश्चात्य दो दृष्टियों से देखा जाता रहा है। अस्तित्व के विषय में भारतवर्ष की धारणा और पश्चिम की धारणा में स्पष्ट अन्तर है। सत्य एक है किन्तु उस तक पहुँचने के मार्ग भिन्न–भिन्न हैं। दूसरी ओर, पश्चिमी अवधारणा में भौतिकता, वैज्ञानिकता और उसके अन्तर्गत मानवीय विकास पर अधिक बल दिया गया है। हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित दर्शन शास्त्र के प्रख्यात विद्वान डॉ0 ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल की पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन' में पश्चिमी दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन करते हुए अधिक से अधिक जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयास किया गया है।

'पाश्चात्य दर्शन' पुस्तक के पन्द्रह अध्यायों में दर्शन का स्वरूप (अर्थ, परिभाषाएँ, उत्पत्ति के कारण, दार्शनिक चिन्तन की स्वाभाविकता आदि) दर्शन के क्षेत्र (विश्व मीमांसा, सत्ता मीमांसा, ज्ञान मीमांसा, मूल्य मीमांसा आदि) दर्शन विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में उपयोग, समानता, विभिन्नता आदि का विवेचन सविस्तार किया गया है। विद्वान लेखक डॉ0 ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल ने विकास के सिद्धान्तों यथा यान्त्रिक सिद्धान्त, जैविक सिद्धान्त, लैमार्क का सिद्धान्त, डार्विन का सिद्धान्त, उन्मेषवाद या नव्योत्क्रान्तिवाद आदि को समाहित करते हुए यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद की भी विस्तार से विवेचना की है। इसमें आत्मा और चिंतन पर भी चर्चा करते हुए डैकार्ड, ह्यूम, काण्ट, प्रभृति दार्शनिकों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही चिंतन और शरीर का सम्बन्ध निर्धारित करते हुए अन्तःक्रियावाद, यथावसरवाद, समान्तरवाद, अध्यात्मवाद, नव्योत्क्रान्तिवाद, संकल्प स्वातंत्र्य व ज्ञान मीमांसा इत्यादि का विवेचन है। ईश्वरीय सत्ता के स्वरूप, उसके अस्तित्व के प्रमाण, ईश्वर और जगत का सम्बन्ध, मूल्य–मीमांसा आदि दुरूह विषयों पर भी लेखक ने सहज विवेचन प्रस्तुत किया है। विद्यार्थियों के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्रश्न भी दिये गये हैं। विद्वान लेखक का प्रयास है कि दर्शन के जिज्ञासुओं के प्रश्नों का भी समाधान हो सके।

पश्चिमी दर्शन जैसे अत्यंत गूढ़ विषय पर चिंतक डॉ. ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल द्वारा इतनी बोधगम्य मीमांसा प्रस्तुत करना निश्चित रूप से एक उपलब्धि है, जिसे समय–समय पर पाठकों के बीच निरंतर सराहा गया है। पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन' के इस तीसरे संस्करण का प्रकाशन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के हिन्दी ग्रंथ अकादमी प्रभाग की प्रकाशन योजना के अन्तर्गत किया जा रहा है। हमें विश्वास है कि पूर्व संस्करणों की भांति यह संस्करण भी उपयोगी सिद्ध होगा और विद्यार्थियों व जिज्ञासुओं के बीच पर्याप्त लोकप्रिय होगा।

डॉ0 सुधाकर अदीब

निदेशक

निवेदन

तोड़ दो यह क्षितिज कारा, देख लूं उस ओर क्या है, जा रहे जिस पंथ से युग–कल्प, उसका छोर क्या है– सुविख्यात कवयित्री महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में मानव मात्र की ज्ञान की सर्वप्रमुख आकांक्षा और आतुरता निहित है। किसान हो मजदूर, बुद्धिजीवी हो या अन्य वर्ग – सभी की जिंदगी में कभी न कभी ऐसे प्रश्न मन में उभरते ही हैं कि हम कहां से आये हैं और हमें कहां जाना है, आत्मा है या नहीं, इसी तरह ईश्वर व ब्रह्माण्ड के अस्तित्व और स्वरूप को लेकर भी सवालों का शाश्वत क्रम चलता रहा है। ये प्रश्न मानव जिजीविषा की उन ऊंचाइयों का सुमेरू हैं, जो अपने भौतिक अस्तित्व को विकसित या परिमार्जित करने के लिए निरंतर समर्पित रहती है।

इस विहंगम क्षेत्र को विश्व मनीषा ने 'दर्शन' या 'फिलासफी' नाम दिया है। 'दर्शन' शब्द संस्कृत की 'दृश' धातु से बना है, जिसका आशय है वह पद्धति या मार्ग, जिसके द्वारा विश्व के मूल तत्व का साक्षात्कार हो। इसके लिए अंग्रेजी शब्द है – फिलासफी। फिलो (प्रेम) और सोफिया (ज्ञान) शब्दों से मिल कर बने इस शब्द का अर्थ है – 'ज्ञान से प्रेम'। संक्षेप में कहें तो दर्शन का वास्तविक उद्देश्य है विभिन्न ज्ञात–अज्ञात वस्तुओं के शाश्वत अथवा मूल स्वरूप का विशेष ज्ञान। जब से मनुष्य सभ्यता विकसित हुई है, आम जन के इन शाश्वत प्रश्नों को हल करने के लिए दार्शनिक लगातार समर्पित रहे हैं। इसी कारण देश–विदेश में अनेक मत–मतांतर सामने आये। कुछ इतने व्यापक और गूढ है कि उन पर आज भी चिंतन व मनन और व्याख्याएं हो रही हैं। इनकी व्यापकता, वास्तविक अर्थों में मानव मन की जिज्ञासा की व्यापकता है।

भारतीय संस्कृति में दर्शन की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। अनेक दार्शनिक विचारधाराएँ अस्तित्व में हैं उन पर गहन–मंथन चलता रहा और आज भी वे भारतीय चिंतन परम्परा को विश्वचिंतन में महत्वपूर्ण स्थान दिलाते हैं। दर्शन हो या विकास के

अन्य क्षेत्र सभी वैश्विक प्रगति के मूलाधार है। मनुष्य एक दूसरे के सहयोग से ही आगे बढ़ता रहा है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को व्यावहारिक रूप देता रहा है। ऐसे में यह अनिवार्य हो जाता है कि हम विश्व की अन्य संस्कृतियों व देशों की उपलब्धियों विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में उपलब्ध ऐसे ही प्रचुर ज्ञान से परिचित हों। इस सन्दर्भ में तत्काल पश्चिमी विद्वानों व उनकी उपलब्धियाँ भी महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी में पाश्चात्य दर्शन से सम्बन्धित परिचयात्मक एवं विश्लेषणात्मक पुस्तक की आवश्यकता काफी समय से अनुभव की जा रही है।

दर्शन शास्त्र के प्रख्यात विद्वान डॉ0 ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल की पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन' इस कसौटी पर पूरी तरह खरी उतरती है। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के हिन्दी ग्रंथ अकादमी प्रभाग द्वारा पहली बार इसका प्रकाशन 1979 में किया गया था, तब से यह पुस्तक शोधार्थी हो या जागरूक पाठक – सभी के बीच यह निरंतर सराही गयी। परिणामस्वरूप अब इसका तीसरा संस्करण आपके समक्ष है। आशा है, डॉ. ब्रह्म स्वरूप अग्रवाल द्वारा रचित 'पाश्चात्य दर्शन' पुस्तक का यह तीसरा संस्करण भी सभी मर्मज्ञ, जिज्ञासु और अन्वेषी पाठकों के बीच पूर्व की भांति समादृत होगा।

उदय प्रताप सिंह

कार्यकारी अध्यक्ष

आमुख

(प्रथम संस्करण)

पाश्चात्य दर्शन के प्रति अभिरुचि रखने वाले पाठकों के मन में एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह भी होती है कि वे एक ही स्थान पर साथ-साथ यह जानें कि जीवन, जगत्, ईश्वर आदि सम्बन्धी समस्याओं के विषय में पाश्चात्य दार्शनिकों ने क्या-क्या निर्णय दिये हैं। किन्तु, जब हम पाश्चात्य दर्शन पर हिन्दी भाषा में प्रणीत ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें अधिकतर ऐसी ही पुस्तकें दृष्ट होती हैं जो हमें पाश्चात्य दर्शन का ऐतिहासिक दिग्दर्शन कराती हैं, समस्यात्मक दिग्दर्शन नहीं। हिन्दी में पश्चिमी दर्शन पर उपलब्ध वाङ्मय में समस्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली पुस्तकों का प्राय: अभाव सा है। डॉ० ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल, जो अपने विद्यार्थी जीवन में मेरे एक प्रतिभाशाली एवं सुयोग्य शिष्य रहे हैं, ने प्रस्तुत पुस्तक लिखकर इस अभाव की पूर्ति की है। उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।

डॉ० अग्रवाल की यह पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन' हिन्दी पुस्तक भण्डार की एक अमूल्य निधि है। उन्होंने इस पुस्तक के प्रणयन में बड़ा कठिन परिश्रम किया है। विभिन्न विषयों (topics) का विस्तृत अध्ययन और उनमें अवगाहन कर उन्होंने पाश्चात्य दर्शन की सभी प्रमुख समस्याओं पर दार्शनिकों के निर्णय प्रस्तुत किये हैं। उनके द्वारा दार्शनिकों के विचारों के प्रस्तुतीकरण की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि सर्वत्र ही विचार-शृंखला का एक अद्‌भुत तारतम्य देखने में आता है। अनेक स्थलों पर उन्होंने अपने स्वतंत्र विचार भी अभिव्यक्त किये हैं। उनके इन विचारों से उनके गहन दार्शनिक चिन्तन और उनकी मौलिक प्रतिभा का स्पष्ट परिचय मिलता है।

पुस्तक की भाषा जहाँ एक ओर अत्यन्त परिष्कृत, परिमार्जित एवं स्तरीय है, वहाँ साथ ही साथ सुबोध एवं सर्वग्राह्य भी है। उस (भाषा) में पाठकों को सर्वत्र एक चित्ताकर्षक प्रवाह एवं अक्षुण्णता का अनुभव होगा।

मेरा यह सुविचारित मत है कि यह पुस्तक सर्वांगीण है, पूर्ण है, और पाश्चात्य दर्शन के हृदय एवं आत्मा का ज्ञान कराने वाली है। हिन्दी भाषा में अभी तक इस प्रकार की कोई दूसरी

पुस्तक दिखायी नहीं पड़ती। इसे पढ़कर पाठक को निश्चय ही पाश्चात्य दर्शन का हस्तामलकवत् ज्ञान हो जायेगा, और इस दर्शन की गहराइयों में सरलता से प्रवेश हो सकेगा। मुझे विश्वास है कि बी०ए० तथा एम०ए० दोनों के ही विद्यार्थी इस पुस्तक से बहुत अधिक लाभान्वित होंगे। मैं डॉ० अग्रवाल से अनुरोध करता हूँ कि इसी ढंग पर हिन्दी में 'भारतीय दार्शनिक समस्याएँ' नामक एक दूसरी पुस्तक लिख कर प्रकाशित करायें, जिससे भारतीय दार्शनिक हिन्दी वाङ्मय को भी वैसा ही बल मिले जैसा कि प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा पाश्चात्य दार्शनिक हिन्दी वाङ्मय को मिला है।

बी०एल० आत्रेय
एम०ए०, डी०लिट्०,
पद्मभूषण नाइट कमाण्डर, दर्शनाचार्य,
भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
दर्शन, मनोविज्ञान
एवं भारतीय दर्शन तथा धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

दो शब्द

(प्रथम संस्करण)

पाश्चात्य दर्शन पर हिन्दी में लिखित पुस्तकों का अब भी अभाव ही है। विशेष रूप से बी०ए० के विद्यार्थियों के लिए तो उपयोगी पुस्तकें अभी भी बहुत कम हैं। इसका एक कारण सम्भवत: यह है कि पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तों को हिन्दी की प्रचलित शब्दावली द्वारा स्पष्ट करना एक कठिन कार्य है। प्राय: नये शब्दों का प्रयोग करना होता है। ऐसी स्थिति में डॉ० ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल की पुस्तक 'पाश्चात्य दर्शन' बड़े महत्त्व की है। डॉ० अग्रवाल दर्शनशास्त्र के बड़े मननशील अध्यापक हैं। दार्शनिक गुत्थियों को स्पष्ट करने की इनमें सराहनीय क्षमता है। इसके साथ ही इनको बी०ए० के छात्र-छात्राओं के अध्यापन का दीर्घकालीन अनुभव भी है। इन सब कारणों से डॉ० अग्रवाल को इस पुस्तक में असाधारण सफलता मिली है।

यह पुस्तक पाश्चात्य दर्शन का इतिहास नहीं है वरन् पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है, जिससे लेखक की गहरी सूझ-बूझ का पता चलता है। पुस्तक की भाषा सुन्दर और सरल है और यह बी०ए० के विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। उन (विद्यार्थियों) की कठिनाइयों को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है। मुझे आशा और विश्वास है कि अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही डॉ. अग्रवाल की इस कृति का स्वागत करेंगे और दोनों ही इससे लाभान्वित होंगे। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने इस पुस्तक को प्रकाशित कर सराहनीय कार्य किया है।

रमाकान्त त्रिपाठी
एम०ए०, डी०लिट्०
प्रोफेसर एवं भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

दो शब्द

(प्रथम संस्करण)

दर्शन (फिलॉसफी) आत्मदर्शन, परमात्मदर्शन और निजान्तलोक में सर्वान्तर्लोक-गत ब्रह्माण्डदर्शन की चिन्तनानुचिन्तनान्तः संगर्भित तात्त्विक तत्त्वान्वेषसरणि है। इस अर्थाशय से निखिल विश्व का दर्शन एक है। पर जिस अमुकामुकदृष्टि से उसे देखा जाता है। तत्तत्संदर्भ में तत्तद्दृष्टि के आश्रय से उस एक ही दर्शन की दृष्टि अमुकामुक हो विभिन्न-विशिष्ट हो जाती है। इसी आधार पर सर्वभूम्यात्मक, सर्वकालात्मक इस दर्शन जैसे विषय के भी पृथुल भेद कर लिये गये हैं। आज ये भेद दार्शनिक अनन्तता के समान ही अनन्तता की संख्या में विद्यमान हैं। जिनमें दो मूल जैसे भेद आज के विश्व में अतिशय स्थूल एवम् गोचर बन गये हैं-ये हैं एक भारतीय दर्शन और दूसरा पाश्चात्य दर्शन। पाश्चात्यता आज के सारे संसार को मुग्ध बनाये हुए है - मुग्ध के यहाँ दोनों ही प्रचलित अर्थ ग्राह्य हैं। यद्यपि दर्शन सूक्ष्म चिन्तन का ही विषय है परन्तु पाश्चात्य दर्शन को कोई पार्थिव जैसा विशेषण देना किसी को अप्रियङ्कर भले ही हो, आप्रासंगिक बिल्कुल नहीं है। वहाँ की दृष्टि सदैव से धरित्री से ही सम्पृक्त होकर ध्वनि तक जाती रही है; वह सामान्यतः पार्थिवता का पारगमन कर ही नहीं सकी है; इसी से इसका विमुग्धकारी वैशिष्ट्य इसकी भौतिकात्मकता में ही मुख्यतः सन्निहित है।

परन्तु, भारतीय तत्त्वदर्शियों का दार्शनिक अनुसंधान अपनी सूक्ष्मतमा तात्त्विकता के कारण ही आज इस संसार में पहला है, नैवद्वितीय है, सर्वोपरि है और सभी का इस तत्त्वानुसंधान-दिशा में मार्गोपमार्गसंदर्शयिता है। पारिभाषिकता जैसी शब्दावली में कहें तो जीवन-जगत् के प्रति स्थूल दृष्टि-परम्परा का अभिधेय पाश्चात्य दर्शन है और जीवन-जगत् एवम् जीवनान्तर-जगदन्तर में अभिसन्निविष्ट सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि-परम्परा की तत्त्व-संज्ञा भारतीय दर्शन है। यही संस्कार भारतीय दर्शन का मेरु-सुमेरु-दण्ड है।

दार्शनिक भेदद्वय का प्रोक्त एवम्प्रकारी निर्धारणीकरण तथा एवम्विध विश्लेष-प्रक्रिया यह आशयोद्देश्य कदापि नहीं रखते कि एक को छोटा तथा दूसरे को बड़ा करके प्रस्तुत-प्रस्तावित किया जा रहा है, प्रत्युत यह प्रयत्न तो वस्तु-सत्ता का एक ऐसा निर्व्यवधान स्वरूप-निर्धारण है जो

अतिपूर्वत: स्वभावेनैव एतद्विध सहस्राब्दियों से सुविद्यमान रहा है। साथ ही अविस्मरणीय यह भी है कि विधाता की इस अद्‌भुत संसृष्टि में तत्त्व और वस्तु, भावास्तित्त्व और गोचरास्तित्त्व – मिथ्या दोनों ही नहीं हैं – तात्त्विकता और वास्तविकता दोनों ही सत्य हैं, चिर सत्य हैं। वस्तु का एक जीवन है, एक के पश्चात् एकान्य, एवम् आगे अन्यान्य जीवन संभव है; परन्तु इस मुहुर्मुहुर्पुनर्पुन: भूयमान जैविकता में नित्य ही एक नित्य तत्त्व विद्यमान है। आदित: इसी नित्य से चिन्तनारंभ भारतीय दृष्टि की मनन–दृष्टि रही है और इसके विपरीत गोचर से विमुह्यमान आरम्भानुसंधान–यत्न पाश्चात्य दर्शन–दृष्टि का स्वधर्म रहा है। परन्तु सर्व–स्वीकृत सा सत्य है कि बिना पूर्व के दर्शन को समझे पश्चिम के दर्शन को पहचान पाने का प्रयत्न निराधार–दर्शन–स्वाध्याय ही कहलायेगा। जब तक भारतीय दर्शन के सम्पर्क में पश्चिम का दर्शनार्थी–विद्यार्थी नहीं आया रहा होगा तब तक उसकी दशा–स्थिति यही रही होगी। दर्शन, वस्तुत: बुद्धि की अतृप्ति का नाम है; परन्तु हम फिर कहते हैं कि बिना पूर्व को समझे पश्चिम को समझने के प्रयत्न में अतृप्ति की जो रिक्तता बची रहती है, वह भयावह है। इसलिए स्पष्ट है कि पाश्चात्य दर्शन का सम्यगनुशीलन और अपेक्षया अधिक तोषदायी निष्कर्ष–निकष–निर्धारण भारतीय तत्त्वचिन्ता के संस्कार से निष्पन्न मेधा ही सरलता–सफलता–पूर्वक कर सकती है। पाश्चात्य दर्शन पर भारतीयों अथवा भारतीयेतर विद्वानों द्वारा इस संस्कार के फलस्वरूप प्रणीत दर्शन–ग्रन्थ – चाहे वे साधारण विद्यार्थियों के लिए लिखे गये हों अथवा सञ्ज्येष्ठ विद्वानों के लिए – निष्पक्ष विद्याधर्मियों के मन्तव्य में अवश्य ही अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं।

डॉक्टर ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल इसी आर्ष संस्कार के विद्वान हैं। उनकी कृति 'पाश्चात्य दर्शन' में भी मैंने विपुल अंश और अनेक स्थल मनोयोगपूर्वक देखे–पढ़े हैं, और मुझे अनुभव हुआ है कि इस पुस्तक का निर्माण चिन्तन की स्वाधीन भित्ति पर प्रतिष्ठित है। फलत: इसका योगदान और उपयोगिता–सफलता असंदिग्ध है। यद्यपि दर्शन सभी कुछ संदेह की दृष्टि से देखता है और साहित्य तल्लीन परिणयन के माध्यम से आत्म–विसर्जन–जनित तल्लीनता से तद्‌गतता की ब्रह्मानन्दतुल्य कैवल्य को प्राप्त होता है, फिर भी भावाम्भोधि–ज्वार का संरक्षण–विधायक तत्त्व–दर्शन ही है।

सेवकवात्स्यायन

17 फरवरी, 1978

हिन्दी विभागाध्यक्ष

क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर

विस्तार हो जाने का भय था। प्रकरणवशात् हम अपने पाठकों से यह निवेदन करेंगे कि जो लोग इस विषय की अधिक जिज्ञासा रखते हैं वे हमारी दूसरी पुस्तक श्री शंकराचार्य तथा स्पाइनोज़ा (जो शीघ्र प्रकाशित होने वाली है) के प्रथम अध्याय का स्वाध्याय करने की कृपा करें।

हमने इस पुस्तक में पाश्चात्य दर्शन की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया है। समस्याओं के समाधान में हमने सदैव यह प्रयत्न किया है कि हमारे पाठक सभी विषयों (Themes) को अत्यन्त सुगमता से हृदयगंम कर सकें और दर्शन विषय के प्रति उनकी अभिरुचि अधिकाधिक बढ़े। अध्येताओं की सुविधा हेतु विषय प्रतिपादन में सर्वत्र शीर्षकों (Headings) का प्रयोग किया गया है। इन शीर्षकों द्वारा जहाँ एक ओर विषय को समझने और स्मरण रखने में सुविधा होगी, वहाँ दूसरी ओर परीक्षाओं की दृष्टि से ये बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे। परन्तु हमें यह दृढ़ निश्चय है कि इन शीर्षकों से व्याख्या की अक्षुण्णता एवं प्रवाहमानता में किंचित भी न्यूनता नहीं आ पायी है, पुस्तक को पढ़ते हुए स्वयं पाठक इस तथ्य का अनुभव करेंगे। सभी अध्यायों के अन्त में हमने भारत के विभिन्न विश्व विद्यालयों में पूछे गये प्रश्नों की सूचियाँ भी दे दी हैं। इन प्रश्न-सूचियों से विद्यार्थियों को परीक्षाओं की तैयारी में बड़ी सहायता मिलेगी।

पहले से ही हमारी यह धारणा रही है कि दार्शनिक विषयों को अधिक सुचारू रूप से समझने के लिए तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही उपादेय रहता है। यह तुलनात्मक अध्ययन आज के युग में (जबकि पूर्व और पश्चिम दिन प्रतिदिन एक दूसरे के अधिकाधिक समीप आते जा रहे हैं) यदि पूर्वी और पश्चिमी दर्शन में किया जाये तो निश्चय ही पाठकों को जहाँ एक ओर बहुत आकर्षक होगा, वहाँ साथ ही साथ दूसरी ओर अधिक लाभप्रद भी होगा। हमने इस पुस्तक में दोनों प्रकार की तुलनाएं प्रस्तुत की हैं- पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तों की पारस्परिक तुलनाएं और प्राच्य तथा पाश्चात्य दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलनाएं। प्राच्य और पाश्चात्य विचारों की तुलना में हमने भारतीय दर्शन के वाङ्मय से पुष्कल उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक की यह शैली दर्शन-प्रेमियों को उत्तम सिद्ध होगी।

प्रत्येक विषय के प्रतिपादन करने के पश्चात् उसकी समालोचना भी साथ-साथ दे दी गयी है। इन समालोचनाओं के देने का उद्देश्य सर्वदा ही दर्शन के विद्यार्थियों को दार्शनिक चिन्तन की प्रेरणा प्रदान करना रहता है। इसी कारण परीक्षाओं में भी विषय की व्याख्या के साथ उसकी समालोचना या समीक्षा देना अत्यंत आवश्यक समझा जाता है। दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में दर्शन के मूल एवं प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है। विषय की विवेचना तथा समालोचना में यत्र-तत्र हमने अपना विनम्र मत भी अभिव्यक्त किया है, और अपने मत के समर्थन में अपनी सीमित बुद्धि के अनुसार तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। हमारा विश्वास है कि हमारा ये तर्क दर्शन के अध्येताओं को दार्शनिक चिन्तन की ओर अधिकाधिक प्रेरित करेंगे।

पुस्तक की शब्दावली के सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ शब्द देना आवश्यक प्रतीत होता है। वर्तमान संक्रमण काल को दृष्टि में रखते हुए हमने सर्वत्र कोष्ठों में हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी रूपान्तर दिये हैं। पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त भाषा-सौष्ठव के कारण हमें जहाँ कुछ क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है, वहाँ भी हमने उन शब्दों के अंग्रेजी पर्याय दे दिये हैं, जिससे हमारे पाठकों को विषय समझने में भाषा सम्बन्धी कोई कठिनाई न हो। पुस्तक के अंत में हमने एक संक्षिप्त शब्दकोश भी दे दिया है, जिससे अध्येताओं को उपर्युक्त प्रकार के समग्र शब्द और उनके पर्याय एक ही स्थान पर प्राप्त हो जायें। पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद में हमने भारत सरकार द्वारा प्रकाशित मानविकी शब्दावली का अनुसरण किया है, जिससे भाषा की एकरूपता अवस्थित रहे।

पारिभाषिक शब्दावली के पश्चात् हमने एक सहायक ग्रन्थ-सूची भी दी है। जो पाठक पश्चिमी दर्शन का अधिक विस्तृत अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए हमारे विचार से यह ग्रन्थ-सूची बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी।

जिन दिनों इस पुस्तक का लेखन चल रहा था मन में यह स्फुरणा हुई कि जब एक पाठक किसी दार्शनिक के विचारों का अध्ययन करता है तो उसमें यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि वह उस दार्शनिक के देश एवं जीवन काल से अवगत हों। अत: हमने अपनी पुस्तक के अंत में दार्शनिकों को देश और जीवन काल की एक सूची भी दी है। हमारा विश्वास है कि यह सूची निश्चय ही पाठकों की जिज्ञासा को परितृप्त करेगी।

सामान्य प्रणाली के अनुसार इस स्थान पर कृतज्ञता प्रकाशन करना लेखक अपना एक पावन कर्त्तव्य मानता है। सर्वप्रथम लेखक अपने अध्यात्म-गुरु परमपूज्य स्वामी कृष्णानंद जी तथा परम पिता परमेश्वर के प्रति सर्व दृष्ट्या एवं सर्व प्रकारेण अपनी असीम कृतज्ञता प्रकट करता है। इसके पश्चात् वह अपने विद्या गुरुजनों डॉ० बी.एल. अत्रेय, डॉ० टी.आर.वी. मूर्ति, डॉ० एस.के.मैत्रा, डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, डॉ० जे. एन. सिंहा, डॉ० बी. भट्टाचार्य तथा पं० वैद्यनाथ द्विवेदी के प्रति आभार व्यक्त करता है। वास्तविकता यह है कि लेखक ने उक्त गुरुजनों के चरणों में रह कर दर्शनशास्त्र की जो शिक्षा प्राप्त की है वही इस पुस्तक में साकार हो गयी है। दर्शन शास्त्र का प्रेम और दार्शनिक चिन्तन की प्रेरणा मुझे सर्वप्रथम अपनी पूज्य माता जी श्रीमती मनभि देवी तथा पूज्य पिता श्री रघुवीर सिंह जी से प्राप्त हुई। मेरी माता जी तो वेदान्त दर्शन की बड़ी योग्य विदुषी थीं ही, पिताजी भी वेदान्त के प्रति बड़े निष्ठावान् थे। अत: अपने बालपन से ही मुझे अनेक विद्वान मनीषी संतों के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य उपलब्ध रहा। अपने माता-पिता के साथ-साथ मैं उन सभी संत-महात्माओं का भी चिर ऋणी हूँ कि उन्होंने मुझमें दर्शनरूपी पौधे को पल्लवित और पुष्पित किया।

इस स्थान पर विशेष रूप से दो नामों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है - एक नाम है उपर्युक्त पूज्य विद्या गुरु डॉ० बी.एल. अत्रेय का और दूसरा नाम है मेरे एक आदरणीय मित्र डॉ० रमाकान्त त्रिपाठी का। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम.ए. कक्षाओं में पढ़ते हुए और उसके पश्चात् भी सदा ही जो अमूल्य शिक्षा एवं स्नेह मुझे इन दोनों से प्राप्त हुआ वह मेरे जीवन की एक महत्त्वपूर्ण निधि है। पुन:, उक्त दोनों ही विद्वानों ने इस पुस्तक के आमुख लिखकर मुझे अत्यधिक अनुगृहीत किया है, मैं उनके इस स्नेहाशीष के लिए भी उनका हृदय से आभारी हूँ। पुन: इस पुस्तक के प्रणयन की पृष्ठभूमि में मेरे व्यक्तिगत जीवन तथा व्यक्तित्व के विकास में कुछ विशिष्ट तत्त्वों ने जो कार्य किया है, उसकी यहाँ चर्चा करना अत्यधिक आवश्यक है। इन तत्त्वों में एक नाम है मेरी आदरणीया बहन श्रीमती चंद्रवती का और दूसरा नाम है मेरे बड़े भाई श्री रामगोपाल जी का। श्रीमती चंद्रवती के द्वारा मुझे बालपन में कुछ अध्यात्म ग्रन्थों तथा अन्य धार्मिक साहित्य के श्रवण का बहुत लाभ हुआ। यह अध्यात्म श्रवण मेरे लिए सदा ही प्रेरणास्रोत का कार्य करता रहा है। मेरे बड़े भाई श्री रामगोपाल जी ने भी मेरे शिक्षार्जन काल में मुझे अत्यधिक सहयोग प्रदान किया है। इन दोनों नामों के अतिरिक्त कहने की बात नहीं मेरी धर्मपत्नी श्रीमती सुभाषिनी ने मेरे प्राध्यापकीय जीवन में जितना त्याग, सेवा और सहयोग मुझे दिया है उसे किन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त करना मेरे लिए बहुत ही कठिन कार्य है। इस सबके अतिरिक्त चेतन तथा अचेतन स्तर पर मेरी अपनी सन्तति, परिवार-सदस्यों तथा अन्य सभी आत्मीयजनों ने मुझे निरन्तर जो सहयोग प्रदान किया है, उन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करना भी मैं अपना धार्मिक कर्त्तव्य मानता हूँ।

अंत में दो शब्द क्षमायाचना के भी आवश्यक प्रतीत होते हैं। भरसक प्रयत्न करने पर भी प्रूफ रीडिंग में कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं। पाठकगण उनके लिए हमें क्षमा करेंगे। पुन:, वे यदि सहृदयता पूर्वक अपने कुछ सुझाव भेजेंगे, कृतज्ञता पूर्वक हमें सहर्ष स्वीकार्य होंगे।

डॉ० ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल

पूर्व अध्यक्ष
दर्शन विभाग, क्राइस्ट चर्च कालेज,
कानपुर विश्वविद्यालय कानपुर

विजिटिंग प्रोफेसर
कनाडा (1975, 1978)
यू०एस०ए० (1975, 1978)

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रथम अध्याय
दर्शन का स्वरूप

द्वितीय अध्याय
दर्शन का क्षेत्र

तृतीय अध्याय
दर्शन, विज्ञान और धर्म

चतुर्थ अध्याय

विकास के सिद्धान्त

पञ्चम अध्याय

यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद

पृष्ठ

नवम अध्याय

अध्यात्मवाद

दशम अध्याय

आत्मा या मनस्

एकादश अध्याय

मनस् और शरीर का सम्बन्ध

प्रथम अध्याय

दर्शन का स्वरूप

(Nature of Philosophy)

दर्शन का अर्थ तथा उसकी परिभाषा

(Meaning and Definition of Philosophy)

'दर्शन' शब्द संस्कृत भाषा की 'दृश्' (दृशिर् प्रेक्षणे) धातु (जिसका सामान्य अर्थ 'देखना' है) से करण अर्थ में 'ल्युट्' (अन) प्रत्यय लगाकर बना है। इसका वाच्यार्थ है 'जिसके द्वारा देखा जाय' ('दृश्यते अनेन इति दर्शनम्') । साधारणतया देखने का करण (Instrument) चक्षुरिन्द्रिय होती है। परन्तु, क्योंकि 'दृश्' धातु का 'प्रेक्षण' अर्थ है जिसका तात्पर्य है 'प्रकृष्ट रूप से देखना', अत: 'ज्ञानदृष्टि' या 'दिव्य दृष्टि' से देखना ही दर्शन शब्द का वास्तविक अभिधेय निश्चित होता है। अब प्रश्न उपस्थित होता है — 'ज्ञानदृष्टि' या 'दिव्य दृष्टि' से क्या देखना? मनीषियों का कथन है — 'विश्व का सारभूत तत्व'। कारण यह है कि जबतक विश्व के सारभूत तत्व का साक्षात् नहीं होता, तब तक विश्व का समुचित ज्ञान ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि 'दर्शन का अभिप्राय है वह पद्धति या मार्ग जिसके द्वारा विश्व के सारभूत या मूल तत्त्व का साक्षात् हो'। दर्शन का लक्ष्य है — इस संसार की आधारभूत सत्ता क्या है ? क्या वह जड़ है ? अथवा चेतन ? सृष्टि का निर्माता कौन है ? आत्मा का क्या स्वरूप है ? आत्मा का सृष्टिनिर्माता से क्या सम्बन्ध है ? मनुष्य जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य क्या है ? उस उद्देश्य को प्राप्त करने के क्या-क्या साधन हैं ? आदि प्रश्नों पर विचार करना। इस प्रकार के प्रश्नों एवं जिज्ञासाओं का उत्तर खोजने के फलस्वरूप ही समस्त दर्शनशास्त्र का विकास हुआ है और भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

अंग्रेजी भाषा में 'दर्शन' शब्द का पर्यायवाची शब्द 'फिलॉसॉफी' ('Philosophy') है। 'फिलॉसॉफी' शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों के सम्मिश्रण से बना है — 'फिलॉस'('Philos') तथा 'सोफिया' ('Sophia') । फिलॉस का अर्थ है 'प्रेम'

या 'अनुराग' और 'सोफिया' का अर्थ है 'ज्ञान'। अतः 'फिलॉसॉफी' का शब्दार्थ होता है 'ज्ञान का प्रेम' या 'ज्ञान का अनुराग'। विचारकों का कहना है कि यही 'ज्ञान का प्रेम' या 'ज्ञान का अनुराग' विश्व के मूल स्वरूप या सारभूत तत्व को समझने का करण अर्थात् साधन है। सर्वप्रथम 'फिलॉसॉफी' शब्द का प्रयोग यूनानियों ने किया था, और वे लोग इस शब्द को अपने इसी मूल अर्थ 'ज्ञान के प्रेम' में लिया करते थे। जो विचारवान् व्यक्ति विश्व के आधारभूत तत्व, आत्मा और परमात्मा के स्वरूप, मानवीय जीवन के चरम लक्ष्य तथा अन्य धार्मिक एवं सामाजिक विषयों पर विचार किया करते थे वे 'फिलॉसॉफर्स' (Philosophers) (अर्थात् ज्ञानानुरागी) कहलाते थे। उस समय फिलॉसॉफी के अन्तर्गत ज्ञान की प्रायः सभी शाखाएँ सम्मिलित थीं, जैसे कि 'भौतिक विज्ञान', 'रसायन विज्ञान', 'जन्तु विज्ञान', 'वनस्पति विज्ञान', 'ज्योतिः शास्त्र' आदि। परन्तु, समय की गति के साथ ज्यों-ज्यों ज्ञान की अभिवृद्धि होती गई, त्यों-त्यों यह अनुभूत किया जाने लगा कि सम्पूर्ण ज्ञान-राशि को अब आगे केवल 'फिलॉसॉफी' में समाहित करना कदापि सम्भव नहीं है। अस्तु, धीरे-धीरे ज्ञान की विभिन्न शाखाओं ने अपना-अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर लिया और वे पृथक्-पृथक् नामों से अंकित की जाने लगीं। इन ज्ञान-शाखाओं में भिन्न-भिन्न विषयों का विशिष्ट अध्ययन (special study) किया जाने लगा और तब 'फिलॉसॉफी' (या दर्शन) से पृथक् उनकी संज्ञा 'साइन्स' (या 'विज्ञान') हो गई।[1] इस प्रकार भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि अनेक विज्ञानों का उद्भव हुआ। अब इन विज्ञानों का कार्य भिन्न-भिन्न विषयों का विशिष्ट अध्ययन करना माना जाने लगा, और दर्शन का कार्य विश्व तथा जीवन के सामान्य रूप की मीमांसा (Critical examination) और सृष्टि की आधारभूत सत्ता की खोज करना हो गया। वर्त्तमान काल में दर्शन अपने इसी अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है।

दर्शन के स्वरूप को इंगित करते हुए बड़े ही सुन्दर एवं साहित्यिक रूप में प्रोफैसर पैट्रिक (Prof. Patrick) कहते हैं, "A little girl stood looking out the window, very thoughtful. Presently she turned and said, 'Mother, what I don't understand is — how there came to be any world ?' Her thought became serious and she became a philosopher." ("एक विचारशील छोटी लड़की खड़े हुए वातायन के बाहर देख रही थी। शीघ्र ही वह माता के अभिमुख होकर पूछने लगी 'माता जी, मैं यह नहीं समझ पा रही हूँ कि यह संसार कैसे बना ?' उसका यह विचार गम्भीर हो गया और

1. देखिये तृतीय अध्याय

वह दार्शनिक हो गई"।) । कहने का भाव यह है कि जब कोई व्यक्ति संसार के मूल स्वरूप, उसकी उत्पत्ति और उद्देश्य के विषय में चिंतन करने लगता है तब वह दर्शन की ओर उन्मुख हो जाता है, और यदि उसका यह चिन्तन गम्भीरता पूर्वक कुछ काल तक चलता रहे तो वह दार्शनिक हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि विश्व की आधारभूत सत्ता, जीव और ईश्वर का स्वरूप, जीवन-यात्रा का अन्तिम गन्तव्य आदि समस्याओं पर विचार करना ही 'दर्शन' है। पैट्रिक के समान ही फारसी भाषा के एक कवि ने भी 'दर्शन' के स्वरूप को व्यंजित करते हुए बड़े रोचक ढंग से कहा है:—

"मा जे आग़ाज ओ जे अंजामे जहाँ बे ख़बर अम् ।
अव्वलो आख़िरे ईं कुहना किताब उफ्ताद अस्त" ॥

अर्थात् यह संसार एक ऐसी पुरानी पुस्तक के समान है जिसके प्रथम तथा अन्तिम पृष्ठ खो गये हैं; मनुष्य आदि काल से ही इन पृष्ठों की खोज में प्रयत्नशील रहा है; इन पृष्ठों की खोज का नाम ही 'दर्शन' है और ऐसे खोज करने वालों को ही 'दार्शनिक' कहते हैं। इस प्रकार इस कवि के अनुसार भी जगत् की उत्पत्ति, उसके अन्तिम लक्ष्य आदि के विषय में विचार करना ही दर्शन है।

दर्शन की कुछ अन्य परिभाषायें

(Some Other Definitions of Philosophy)

ऊपर की पंक्तियों में हमने 'दर्शन' तथा 'फिलॉसॉफी' इन दोनों शब्दों के अर्थ तथा उनकी व्युत्पत्यात्मक (Etymological) परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं और दर्शन (अथवा फिलॉसॉफी) के सामान्य स्वरूप का भी निर्धारण किया। अब हम पाठकों की जानकारी हेतु कुछ दार्शनिकों द्वारा दी गई दर्शन की परिभापायें उद्धृत कर रहे हैं। यह हो सकता है कि इन सब परिभाषाओं से पाठक पूर्णरूपेण सहमत न हों। किन्तु अधिक वाद-विवाद में न पड़कर यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इन सभी परिभाषाओं में अध्येताओं को दार्शनिकों की दृष्टिकोण-भिन्नता के साथ-साथ सत्य के अंश के भी दर्शन अवश्य होंगे। ये परिभाषायें इस प्रकार हैं:—

(1) "दर्शन ज्ञानात्मक वृत्ति (Cognition) का विज्ञान एवं समीक्षा है"। (काण्ट)।

(2) "दर्शन ज्ञान का विज्ञान है"। (फिश्टे)।

(3) "दर्शन विज्ञानों का विज्ञान है"। (कॉम्टे)।

(4) "विशेष विज्ञानों द्वारा प्राप्त ज्ञान को एक संगत साकल्य (Consistent whole) में एकीकरण करना ही दर्शन है"। [वुण्ट (Wundt)]।

(5) "दर्शन पूर्णतया एकीकृत ज्ञान है, और दर्शन के सामान्यीकरण

(generalizations of philosophy) विज्ञान के विस्तीर्णतम सामान्यीकरणों को अपने में समाविष्ट एवं समाकलित (consolidated) करते हैं।"

(हर्बर्ट स्पैन्सर)

(6) "दर्शन वह विज्ञान है जो परम सत्ता के स्वरूप तथा उस स्वरूप से सम्बन्धित सभी गुणों (Attributes) का अन्वेषण करता है।" (अरस्तु)

(7) "दर्शन का उद्देश्य वस्तुओं के शाश्वत अथवा मूल स्वरूप का ज्ञान करना है।" (प्लैटो)

दर्शन की उत्पत्ति के कारण

(Causes of the Origin of Philosophy)

मनीषियों ने दर्शन की उत्पत्ति के निम्नलिखित चार प्रमुख कारण बताये हैं, जिनकी हम क्रमश: विवेचना करेंगे :—

(1) आश्चर्य (Wonder)

(2) संशय (Doubt)

(3) ज्ञान की प्यास (Thirst for knowledge)

(4) वर्त्तमान परिस्थितियों से असन्तोष (Dissatisfaction with the present state of affairs)

1. आश्चर्य (Wonder)

यह विश्व अनेक आश्चर्यों से भरा है। अगणित चमचमाती तारावलियों से सुशोभित रात्रि का नीला आकाश, धरातल के शीर्ष पर मुकुट-सदृश विशाल हिमाच्छादित गगनचुम्बी पर्वत श्रेणियाँ, अत्यन्त उन्मत्त एवं उत्ताल तरङ्गों से परिप्लावित विस्तृत जलनिधि, समस्त संसार को आलोकित करने वाला अमित तेज का पुञ्ज दिवाकर, अपनी अतीव शीतल किरणों से अशान्त हृदय को भी शान्त करने वाला राकापति, असंख्य पशु-पक्षियों से आवासित विशाल वन-उपवन तथा अपरमित जलराशियों को अपने अंक में लिये हुए नित्य निरन्तर प्रवाहित रहने वाली नदियाँ किस मनुष्य के मन और बुद्धि को आश्चर्य-चकित नहीं कर देतीं! विशाल प्रकृति के इन अद्‌भुत सौन्दर्यमय दृश्यों को देख किसका अन्त:करण विस्मयोदधि में डुबकियाँ नहीं लगाने लगता! निश्चय ही, मनुष्य सोचने लगता है कि विविध विस्मयों से परिपूर्ण यह विश्व क्या है? इसका प्रादुर्भाव कैसे हुआ है? क्या यह पञ्च तत्वों या असंख्य परमाणुओं की अन्ध क्रीड़ा मात्र है? अथवा इसका सृजन किसी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न सत्ता ने किया है? ये और इस प्रकार के अन्य प्रश्न ही उस (मनुष्य) के जीवन में दर्शन की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। यूनान के महान् दार्शनिक प्लैटो ने इसी कारण कहा था : "आश्चर्य ही

दर्शन की जननी है ।"

2. **संशय** (Doubt)

हमारे जीवन में पग पग पर अनेक प्रकार के भ्रम आते हैं । मन्द प्रकाश में मार्ग में जाते हुए कई बार पड़ी हुई लिपटी रस्सी सर्प का भ्रम उत्पन्न कर देती है । मरुस्थल (desert) में बालू के स्थान पर जल होने का भ्रम हो जाता है। यद्यपि आकार में सूर्य पृथ्वी से लगभग तेरह लाख गुना बड़ा है, तथापि वह केवल एक छोटी थाली के समान लघु आकार वाला दृष्ट होता है । काँच के पात्र में पानी में थोड़ी डूबी हुई छड़ी पानी की सतह के समीप टेढ़ी प्रतीत होती है यद्यपि वह पूर्णतया सीधी होती है । स्वप्न देखने के समय स्वप्न के पदार्थ एकदम सत्य प्रतीत होते हैं किन्तु जागने पर विदित होता है कि वे सब मिथ्या थे । भ्रम के ये सभी उदाहरण हम में एक प्रकार का सन्देह उत्पन्न कर देते हैं : कि संसार की अन्य वस्तुएँ जिन्हें हम सत्य समझे हुए हैं और जिनकी यथार्थता में हमें तनिक भी शंका नहीं है कहीं वे भी हमारा भ्रम मात्र न हों ? कौन जानता है कि ये विशाल पर्वत, विस्तृत वन-उपवन, अजस्र प्रवाहशील नदियाँ, अत्यन्त आकर्षक भवनों से युक्त सुन्दर नगर आदि सभी भ्रम अथवा स्वप्न के दृश्यों के समान मिथ्या न हों ? हम विचार करने लगते हैं कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है ? जगत् के कौन पदार्थ यथार्थ (real) हैं और कौन अयथार्थ (false) ? सत्य और मिथ्या में, यथार्थ और अयथार्थ में विवेक(distinction) करना ही तो दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप है; और स्पष्ट ही है कि इस दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ होता है — सन्देह अथवा संशय की भावना में ।

वर्त्तमान काल में संशय का विस्तार कितना अधिक हो गया है यह तो कहने की बात ही नहीं है । इसके विस्तार को व्यक्त करते हुए अभी कुछ समय पूर्व एक प्रख्यात भाषण-कर्ता ने बड़े ही सुन्दर रूप में कहा था, "There never was a time when so many people were so uncertain about so many things as at present." (अर्थात् "कभी भी कोई ऐसा समय नहीं रहा है जब कि इतने अधिक लोग इतनी अधिक वस्तुओं के विषय में इतना अधिक सन्दिग्ध रहे हों जितना कि वर्तमान युग में ।") । आज का शिक्षित मानव केवल स्वर्ग तथा नरक के अस्तित्व, ईश्वर तथा आत्मा के स्वरूप, धर्म तथा नैतिकता के प्रत्ययों आदि के विषय में ही संशय नहीं करता वरन् विज्ञान की ऐसी मूलभूत मान्यताओं (Basic Presuppositions) के विषय में भी संशय करने लगा है जो अभी तक सम्पूर्ण वैज्ञानिक गवेषणाओं का ठोस आधार मानी जाती थीं और जिनकी सत्यता के सम्बन्ध में पूर्वकाल में कभी वैज्ञानिकों ने भी शंका नहीं की थी । ये मान्यतायें हैं — पुद्गल या जड़ तत्व (Matter), दिक् या देश (Space), काल (Time)

तथा कार्यकारणता (Causality)। कुछ प्रसिद्ध वैज्ञानिकों, जैसे कि आइन्स्टीन (Einstein) तथा एडिंग्टन (Eddington), हैल्डेन (Haldane) तथा हैंडर्सन (Henderson), हिल्बर्ट (Hilbert), व्हाइटहैड (Whitehead) आदि ने भी विज्ञान की इन मान्यताओं के सम्बन्ध में भारी सन्देह प्रकट किया है। उनका कथन है कि ये हमारे अनुभव के विषय मात्र हैं, इसके सिवा इनकी कोई वस्तुगत (objective) सत्ता नहीं है। अस्तु, अब अनेक वैज्ञानिक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मूल स्वरूप के विषय में चिन्तन करने लगे हैं और उन्होंने अनेक दर्शन-ग्रन्थों की रचना की है।[1] प्रोफैसर पैट्रिक ने इसी कारण कहा है कि यद्यपि प्राचीन काल में दर्शन का प्रारम्भ आश्चर्य की भावना में हुआ था, आधुनिक काल में इस (दर्शन) का प्रारम्भ संशय की भावना में होता है—"Although philosophy among the ancients began in wonder, in modern times it usually begins in doubt."[2]

3. **ज्ञान की प्यास** (Thirst for knowledge)

दर्शन की उत्पत्ति का कारण कुछ लोगों ने केवल ज्ञान की प्यास को ही बताया है। उनका कहना है कि 'मानव एक विचारशील प्राणी है' '(Man is a rational animal)'। अपने इस स्वभाव के कारण ही उस (मानव) में विश्व के रहस्यों को जानने और समझने की उत्कण्ठा है। वह जानना चाहता है कि संसार का मूलतत्व क्या है? आत्मा का क्या स्वरूप है? मरणोत्तर आत्मा कहाँ चला जाता है? जीवन और मरण किसे कहते हैं? मानव जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? उसकी इन तथा इसी प्रकार की अन्य जिज्ञासाओं के फलस्वरूप ही उसमें दार्शनिक चिन्तन का उदय होता है। उसका विचारशील स्वभाव स्वत: ही उसे दर्शन की ओर अग्रसर कर देता है। अंग्रेजी भाषा में दर्शन का प्रतिशब्द 'फिलॉसॉफी' भी, जिसका अर्थ (जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं) 'ज्ञान का अनुराग' है इसी बात की ओर स्पष्ट इंगित करता है कि मानव मन की नैसर्गिक ज्ञान की प्यास स्वत: ही दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास का मूल कारण है।

4. **वर्त्तमान परिस्थितियों से असन्तोष** (Dissatisfaction with the present state of affairs)

हमने ऊपर की पंक्तियों में दर्शन की उत्पत्ति के जिन तीन कारणों का वर्णन किया है, पश्चिमी दर्शन के उद्भव एवं विकास में वस्तुतः उनका बड़ा महत्व है। परन्तु जब हम भारतीय दर्शन की ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमें यह विदित होता है कि भारत में दार्शनिक चिन्तन का मूल कारण सैद्धान्तिक (theoretical) न

1. देखिए Return to Philosophy—C. E. M. Joad.
2. Introduction to Philosophy, पृष्ठ-3

होकर व्यावहारिक (practical) है। यहाँ दर्शन के उद्गम (origin) का प्रमुख कारण है मनुष्य के मन में "असन्तोष की भावना।" भारतीय दर्शन की उत्पत्ति को ही दृष्टि में रखते हुए सुप्रसिद्ध दर्शनवेत्ता डा० राधाकृष्णन् ने कहा है, "Dissatisfaction with the state of affairs is the mother of all philosophy." (अर्थात् "वर्तमान परिस्थितियों से असंतोष की भावना ही दर्शन की जननी है।" भारतीय विचारक देखता है कि यह संसार अनेक प्रकार की विपत्तियों, चिन्ताओं एवं कठिनाइयों से भरा है। जगत् की सभी परिस्थितियाँ और जीवन की सभी दशायें अगणित दुःखों से परिपूरित हैं। संसार के सभी मनुष्य—चाहे कोई धनवान हो या दरिद्र, विद्वान् हो या मूर्ख, पदवान् हो या पदविहीन, अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट पाये जाते हैं। जरा और मरण का भय उन्हें सर्वदा अशांत बनाये रखता है और विविध प्रकार के रोग शत्रुओं के सदृश उनकी देह पर सदैव प्रहार किया करते हैं।[1] संसार की इसी दुःखरूपता का संकेत करते हुए भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं—

"दुखालयं अशाश्वतम्"।

(अर्थात् "यह संसार साक्षात् दुःख का घर है और साथ ही साथ अनित्य भी है")। महाराष्ट्र की सुप्रसिद्ध भक्ता सहजो बाई भी कहती हैं :—

"राज दुखी, रंक दुखी, दुखी सकल संसार"।

जगतीतल के इस भयावह चित्र को देखकर यहाँ के मनीषी के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मनुष्य को सदा सदा के लिए दुःख और अशान्ति की इसी भँवर में पड़ा रहना है अथवा इस (भँवर) से निकलने का कोई उपाय भी है? वह विचार करता है कि संसार के त्रिविध तापों — आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक — से निवृत्ति (छुटकारा) पाने का कौन मार्ग है? जीवन का क्या स्वरूप है? क्या वर्त्तमान जीवन ही सब कुछ है अथवा इससे परे भी कोई जीवन है? जीवात्मा किसे कहते हैं और उसकी अन्तिम गति क्या है? जीवन, जीवात्मा और दुःखनिवृत्ति के प्रश्नों के साथ-साथ भारतीय चिन्तक विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक समझता है और वह यह जानने का प्रयास करता है कि यह विश्व कब, क्यों और कैसे बना? इस प्रकार हम देखते हैं कि 'संसार की दुखमयता के प्रति असन्तोष की भावना ही भारत-भूमि में दर्शन को जन्म देती है'। अस्तु, दर्शन के उत्पत्ति के अन्य कारणों के साथ इस कारण का समाविष्ट करना भी आवश्यक है।

दार्शनिक चिन्तन की स्वाभाविकता

दर्शन के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति के कारणों पर विचार करने के

1. "व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ति,
रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्"। (वैराग्य शतकम्—भर्तृहरि)।

उपरान्त अब यह सहज समझ में आ जाता है कि दार्शनिक चिन्तन केवल कुछ गण्य-मान्य व्यक्तियों का ही एकाधिकार नहीं है, वरन् मानव मन की यह एक स्वाभाविक क्रिया है। संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो जीवन में कभी न कभी दार्शनिक प्रश्नों पर विचार न करता हो और यदा-कदा उसका मन उन (दार्शनिक प्रश्नों) का हल खोजने के लिए उद्विग्न न हो जाता हो। आधुनिक काल की सुविख्यात भारतीय कवित्री सुश्री महादेवी वर्मा की निम्न पंक्तियाँ मानव मन की इसी स्वाभाविक खोज का चित्रण बड़ी ही सुन्दर रीति से करती हैं —

"तोड़ दो यह क्षितिज कारा देख लूँ उस ओर क्या है,
जा रहे जिस पन्थ से युग कल्प उसका छोर क्या है"।

'वर्तमान जीवन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्षीकृत (Perceived) इस जगत् के परले पार क्या है'? — 'यह जानने की चाह कभी-कभी सामान्य से सामान्य मनुष्य के हृदय को भी व्यग्र कर देती है। ग्रीष्म काल की कड़ी धूप तथा शीतकाल की भीषण सर्दी में खेतों में काम करने वाला किसान भी कई बार थक कर वृक्ष के नीचे बैठ जाता है और जीवन-मरण, जीवात्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप आदि के विषय में सोचने लगता है। कारखाने में काम करने वाला मजदूर भी जब दिन भर परिश्रम करके घर लौटता है और रात्रि में अपने बिस्तरे पर लेट कर तारों भरे आकाश की ओर देखता है, तब वह भी कई बार उन असंख्य तारागण के सृष्टा के सम्बन्ध में चिन्तन करने लगता है और यह विचार करता है कि उस जगत्-सृष्टा से उसका क्या सम्बन्ध है? दार्शनिक विचारों की इसी नैसर्गिकता का उल्लेख करते हुए पेरी (Perry) कहते हैं—"Philosophy is neither accidental nor supernatural, but inevitable and normal." (अर्थात् "दर्शन न आकस्मिक है और न ही अतिप्राकृतिक, प्रत्युत अवश्यंभावी एवं प्रकृत है।")।

वास्तविकता यह है कि दर्शन हमारे जीवन की स्वाभाविक उपज है और प्रत्येक चिन्तनशील व्यक्ति किसी न किसी मात्रा में दार्शनिक अवश्य होता है। कनिंघम महोदय का कथन है कि "Philosophy thus grows directly out of life and its needs. Everyone who lives, if he lives at all reflectively is in some degree a philosopher."[1]

जीवन में कुछ परिस्थितियाँ तो ऐसी आती हैं जब कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक समस्याओं को सोचने के लिए बलात् बाध्य हो जाता है। उदाहरणतः जैसे जब किसी का कोई सगा सम्बन्धी सदा सर्वदा के लिए उससे विलग हो जाता है, अर्थात् उस (सम्बन्धी) के प्राण पखेरू इस संसार से सदा के लिए प्रयाण कर जाते हैं, तब श्मशान-भूमि में उस अत्यन्त प्रिय आत्मीय जन की चिता की आग की लपटें

1. Problems of Philosophy by Cunningham, Page 5

आकाश में उठती देख उस का हृदय अतीव दु:ख से दुखित हो झुंझला कर क्या यह नहीं पूछने लगता : अरे, यह जीवात्मा वस्तुत: क्या है ? और मरणोत्तर यह कहाँ चला जाता है ? क्या यह पुन: कहीं जन्म ले लेता है ? अथवा जीवन की कहानी बस यहाँ ही समाप्त हो जाती है ? क्या ईश्वर नाम की जगन्नियन्ता कोई शक्ति है ? यदि है तो उससे हमारा क्या सम्बन्ध है ? कहना ही होगा कि निश्चय ही ऐसे कठिन क्षणों में सभी व्यक्ति — धनवान एवं दरिद्र, विद्वान् एवं अशिक्षित या अल्प शिक्षित, आस्तिक एवं नास्तिक — इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए व्याकुल हो उठते हैं और कुछ काल के लिये दार्शनिक हो जाते हैं । इसी कारण यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु ने कहा था, "Whether we will philosophise or wheher we won't philosophise we must philosophise." (अर्थात् "चाहे हम दार्शनिक चिन्तन करने की इच्छा करें अथवा दार्शनिक चिन्तन करने की इच्छा न करें, किन्तु हमें दार्शनिक चिन्तन करना ही पड़ता है ।") । आधुनिक काल में भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए सुविख्यात विचारक एल्डूस हक्सले (Aldous Huxley) ने कहा है—"There is no choice between having a philosophy and not having one, but between having a good philosophy and a bad philosophy." अर्थात् हम लोगों में कोई ऐसा नहीं कह सकता कि मेरा कोई भी दर्शन है ही नहीं; दर्शन तो प्रत्येक व्यक्ति का होता है, अन्तर केवल इतना है कि किसी का दर्शन अच्छा (सुविचारित) होता है और किसी का बुरा (अविचारित) । तथ्य यह है कि जो लोग दार्शनिक चिन्तन की निन्दा तथा अवहेलना करते हैं ऐसे लोगों का यदि गम्भीरता से अध्ययन किया जाये तो विदित होगा कि वस्तुत: उनका भी अपना एक पूरा दर्शन होता है । वे इस विश्व के सम्बन्ध में कोई न कोई दृष्टि (View) अवश्य रखते ही हैं, चाहे यह दृष्टि एकदम बालवत् (Childlike) क्यों न हो । जगत–सृष्टा के विषय में उनका अपना एक विचार होता है, चाहे यह विचार यही हो कि जगत्-सृष्टा अथवा ईश्वर का अस्तित्व नहीं है । मूल्यों के विषय में भी उनका एक दृष्टिकोण होता है, चाहे यह दृष्टिकोण यह हो कि वैयक्तिक लाभ (Personal gain) ही सर्वोच्च शुभ (Highest good) है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि मानव मात्र की अपनी एक दार्शनिक दृष्टि (Philosophical View) होती है चाहे वह इसे जाने या न जाने, स्वीकार करे या न करे । "Consciously or unconsciously every man frames for himself a theory of the relation of the individual to the universe, and on his attitude to that question his whole life and conduct, public and private, depend." (अर्थात् "जानते हुए अथवा न जानते हुए प्रत्येक मनुष्य अपने लिए

व्यक्ति और विश्व के सम्बन्ध का एक सिद्धान्त निर्माण करता है और उस प्रश्न के प्रति उसकी अभिवृत्ति पर ही उसका सम्पूर्ण सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन तथा व्यवहार निर्भर करते हैं।")[1]

दार्शनिक प्रश्नों का स्वरूप

(Nature of Philosophical questions)

दर्शन का **स्वरूप, उसकी** उत्पत्ति के कारण तथा दार्शनिक चिन्तन की स्वाभाविकता के सम्बन्ध में **विचार** करने के पश्चात् अध्येता को सामान्य रूप से तो दर्शन के प्रश्नों का स्वरूप ज्ञात हो ही गया है। परन्तु ज्ञान की अन्य शाखाओं के प्रश्नों से भिन्न इन प्रश्नों के वास्तविक स्वरूप को अध्येता हृदयंगम कर सके—इस हेतु इस सम्बन्ध में पृथक् रूप से भी विचार करने की आवश्यकता है। चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि ज्ञान की अन्य शाखाओं के सदृश दर्शन शास्त्र का सम्बन्ध वस्तु-विशेष या घटना-विशेष के विषय में जानकारी प्राप्त करना या खोज-बीन करना नहीं है, वरन् कुछ ऐसे मौलिक (fundamental) तथा सामान्य (general) प्रश्नों पर विचार करना है जिनका उत्तर जाने बिना न विश्व के मूल स्वरूप को समझा जा सकता है और न ही विश्व की वस्तुओं के मूल स्वरूप और अन्तिम मूल्य (ultimate value) को। उदाहरण के रूप में यह एक दार्शनिक प्रश्न नहीं है कि वायुयान का अविष्कार किसने किया ? या दिल्ली का लाल किला किसने बनवाया ? प्रत्युत यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि संसार का सृजन किसने किया ? क्या ईश्वर ने इसका सृजन किया है ? अथवा अन्ध परमाणुओं के आकस्मिक सम्मिश्रण मात्र से ही इसकी उत्पत्ति हो गई है ? पुनः यह एक दार्शनिक प्रश्न नहीं है कि बम्बई यहाँ से कितनी दूर है ? वरन् यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि 'देश' का क्या स्वरूप है? न ही यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि मैसूर का 'वृन्दाबन उद्यान' कब बनाया गया ? परन्तु यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि 'काल' का क्या स्वरूप है ? तदुपरान्त यह एक दार्शनिक प्रश्न नहीं कहा जा सकता कि कालिदास कौन था ? किन्तु यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है और जीवात्मा किसे कहते हैं ? न ही यह एक दार्शनिक प्रश्न कहा जा सकता है कि कालिदास का देहान्त कब हुआ ? परन्तु यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि जीवन किसे कहते हैं और मृत्यु का क्या स्वरूप है ? इसी प्रकार "क्या यह कहना सत्य है कि आकाश नीला नहीं है" ?—यह एक दार्शनिक प्रश्न नहीं है ? प्रत्युत यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि ज्ञान (अर्थात् प्रामाणिक ज्ञान) का क्या स्वरूप है और ज्ञान (Knolwedge) का सत्य (Reality) से क्या सम्बन्ध है ? पुनः क्या 'आज़ाद

1. Edwin Wallace

हिन्द सेना' के सेनानियों के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार का वाद (मुकदमा) चलाना उचित (नैतिक) था या अनुचित (अनैतिक) ? यह एक दार्शनिक प्रश्न नहीं है। वरन् यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि नैतिकता और अनैतिकता का मूल स्वरूप क्या है ? यह भी एक दार्शनिक प्रश्न नहीं है कि सिकन्दर का भारत पर आक्रमण करने का क्या लक्ष्य था ? किंतु यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि मनुष्य जीवन का क्या लक्ष्य है ? इस प्रकार हम देखते हैं कि जब हम वस्तु-विशेष या घटना-विशेष के सम्बन्ध में जिज्ञासा न करके उनके आदि कारण तथा अन्तिम लक्ष्य ('The first whence and the last whither') के विषय में विचार करने लगते हैं अर्थात् उनके मूल एवं वास्तविक स्वरूप के विषय में सोचने लगते हैं तब हम दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं और हमारी समस्याओं का स्वरूप दार्शनिक होता है।

जीवन में दर्शन की उपयोगिता

(Use of Philosophy in life)

दर्शन के सम्बन्ध में आज समाज में अनेक प्रकार के भ्रम-मूलक विचार प्रचलित हैं। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि दर्शन केवल एक बौद्धिक क्रीड़ा (Intellectual game) या मानसिक कलाबाज़ी (Mental gymnastic) है जिसका हमारे व्यावहारिक जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं। इन लोगों का कहना है कि दर्शन का न तो कोई क्रियात्मक उपयोग (Practical utility) है और न ही यह हमारी किसी समस्या का समाधान करता है, अत: दर्शन का अध्ययन तथा दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करना एकदम व्यर्थ है। हमारा विनम्र मत है कि दार्शनिक अध्ययन एवं चिन्तन की आलोचना करने वाले इन महानुभावों ने सम्भवत: वस्तु-स्थिति को कभी अपने वास्तविक परिप्रेक्ष्य (perspective) में देखने का प्रयास किया ही नहीं है, अन्यथा दर्शनशास्त्र की निरर्थकता का भ्रम उनके मन में कभी भी उत्पन्न न होता। वास्तविकता यह है कि जीवन और जगत् का कोई ऐसा क्षेत्र है ही नहीं जिसमें दर्शन की महती उपयोगिता न हो, दर्शन का महत् मूल्य न हो। निम्न पंक्तियों में हम केवल कुछ प्रमुख क्षेत्रों[1] में दर्शन का मूल्य निर्दिष्ट करेंगे।

1. ज्ञान का क्षेत्र

हमने ऊपर दर्शन की उत्पत्ति के जो प्रथम तीन कारण बतायें हैं, उनसे ज्ञान-क्षेत्र में दर्शन की उपयोगिता स्वयं ही स्पष्ट हो जाती है। आश्चर्य की भावना से दर्शन की उत्पत्ति इस बात का द्योतन करती है कि सृष्टि की विस्मयपूर्ण वस्तुएँ

1. क्योंकि इस स्थान पर सम्भवत: विषय का अधिक विस्तार करना उपयुक्त न होगा।

एवं पदार्थ हमारे मन में जो कुतूहल उत्पन्न करते हैं, दर्शन अपनी गवेषणाओं द्वारा उस कुतूहल को शान्त करता है। तारों भरे आकाश, गगनस्पर्शी पर्वत-शिखर, कलकल नाद के साथ बहती हुई नदियाँ, अत्यन्त विस्तृत बन-उपवन आदि हृदय-हारी प्राकृतिक दृश्यों को देख हमारे मन में जो ये प्रश्न उद्‌भावित होते हैं कि यह विश्व क्या है ? इसका निर्माण कैसे हुआ ? और कौन इसका निर्माता है ? इत्यादि—इनके उत्तर की खोजकर दर्शन हमारी बुद्धि को तृप्त करता है। पुनः संशय की भावना से दर्शन का उद्‌भव यह संकेत करता है कि दर्शन सत्य और असत्य का अन्तर निर्दिष्ट करके हमारे मन से अनेक प्रकार के सन्देहों को दूर करता है और संसार की वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का हमें ज्ञान कराता है। तदुपरान्त ज्ञान की प्यास से दर्शन का उद्‌गम इस बात को इङ्गित करता है कि आत्मा और परमात्मा का स्वरूप, मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य, मरणोतर जीवात्मा की गति आदि जो जगत् के रहस्य हैं उनका उद्‌घाटन कर दर्शन हमारी ज्ञान की पिपासा को शान्त करता है और हमारे ज्ञान का विस्तार करता है।

2. व्यावहारिक जीवन का क्षेत्र

पाठकों को पहले ही बताया जा चुका है कि दर्शन की उत्पत्ति का चौथा कारण है असन्तोष की भावना। दर्शन की उत्पत्ति का यह कारण व्यावहारिक जीवन में दर्शन के मूल्य को व्यक्त करता है। सांसारिक परिस्थितियों का निरीक्षण करने पर विदित होता है कि संसार के सभी प्राणी विविध प्रकार के दुःखों से दुखित हैं। संसार का कोई भी मनुष्य अपनी परिस्थितियों से संतुष्ट नहीं है। असंख्य प्रकार की आधियाँ-व्याधियाँ उसके चित्त को सदा अशान्त बनाये रखती हैं और वह सर्वदा अगणित चिन्ताओं में ग्रस्त रहा करता है। अस्तु स्पष्ट ही है कि मनुष्य के जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यावहारिक समस्या है—"दुःख की निवृत्ति", अर्थात् जगत् के अगणित कष्टों एवं चिन्ताओं से उसे कैसे छुटकारा मिले ? जगतीतल के त्रिविध तापों की भयावह भँवर से वह कैसे निकले ? किन्तु हमें ध्यान देना होगा कि मनुष्य की यह समस्या अस्थायी दुःखनिवृत्ति की नहीं वरन् स्थायी दुःखनिवृत्ति की है। सभी मनुष्य चाहते हैं कि वे संसार के कष्टों एवं चिन्ताओं से सदा सदा के लिए मुक्त हो जायें, वे शाश्वत् काल के लिए सुखी हो जायें। भारतीय दर्शन उनकी सहायता के लिए उपस्थित होता है और उनकी समस्या के समाधान की उन्हें सान्त्वना देता है। वह उन्हें संसार के असन्तोष से छूटने और दुःख की भँवर से शाश्वतकाल के लिए पार पाने का व्यावहारिक मार्ग निर्दिष्ट करता है। वह उनके लिए आशा का पथ प्रशस्त करता है और नित्य सुख की पदस्थली पर उन्हें अनन्तकाल के लिए प्रतिष्ठित कर देता है।

3. सामाजिक जीवन का क्षेत्र

जहाँ दर्शन का महत्त्वपूर्ण प्रभाव व्यक्तिगत जीवन पर पड़ता है वहां सामाजिक जीवन पर भी इसकी गहरी छाप पड़ती है। दूसरों के प्रति हमारा व्यवहार हमारे दर्शन पर ही अवलम्बित होता है। यदि हमारी आस्था महाभारत के "वसुधैव कुटुम्बकम्"[1] के दार्शनिक दृष्टिकोण में है, तब प्राणी मात्र के प्रति हमारा व्यवहार कितना मृदु एवं कितना प्रेमयुक्त होता है, और दूसरी ओर यदि हमारा विश्वास जर्मन दार्शनिक नीट्शे (Nietzsche) के 'शक्ति की इच्छा' ('will-to-power') के दार्शनिक दृष्टिकोण में है, तब संसार के अन्य जीवों पर कितने बर्बरता-पूर्ण ढंग से हम अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं! पुनः हम देखते हैं कि हमारे विभिन्न पारिवारिक सम्बन्ध भी पूर्णतया दर्शन से ही प्रभावित होते हैं। उदाहरण के रूप में: क्या विवाह स्त्री-पुरुष के मध्य एक 'सामाजिक समझौता' ('Social contract') मात्र है अथवा यह एक 'आध्यात्मिक बन्धन' ('Spiritual Bond') है?— यह एक दार्शनिक प्रश्न है जिसके उत्तर पर ही विवाह का स्वरूप, उसकी दृढ़ता और परिणाम आधारित रहता है। इसी प्रकार स्पष्ट रूप से यह भी देखने में आता है कि परिवार में बालक-बालिकाओं के आहार विहार के ढंग और विचार करने की पद्धतियाँ सभी कुछ माता-पिता के दार्शनिक दृष्टिकोण पर ही निर्भर करती हैं।

4. नैतिक जीवन का क्षेत्र

हमारे जीवन में सर्वथा ही ऐसे अवसर आते रहते हैं जब कि हमें रुक कर यह सोचना पड़ता है कि अमुक कार्य करना उचित है या अनुचित? उचित तथा अनुचित का निर्णय तभी हो सकता है जब कि हमारे पास कोई ऐसी कसौटी या मान-दण्ड (standard) हो जिसके द्वारा हम उचित और अनुचित अथवा शुभ और अशुभ में अन्तर कर सकें। और ऐसी कसौटी या मान-दण्ड हमें दर्शन के द्वारा ही प्रदान किया जाता है। दर्शन की जो शाखा यह कार्य करती है उसका नाम नीति दर्शन (Moral Philosophy) दिया गया है।

5. सांस्कृतिक जीवन का क्षेत्र

किसी भी देश और जाति की संस्कृति उसके दर्शन से अवश्य ही प्रभावित होती है। संस्कृति के विभिन्न पहलुओं, जैसे कि साहित्य, कला, संगीत, नाटक, नृत्य

1. "अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्,
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"। (महाभारत)।
(अर्थात् "यह मेरा है और यह पराया है इस प्रकार की गणना संकीर्णहृदय लोगों की हुआ करती है, किन्तु उदारहृदय लोगों के लिए सम्पूर्ण संसार ही उनका कुटुम्ब होता है।)"।

आदि सभी पर उसके दर्शन की गहरी छाप पड़ती है। यदि दर्शन का दृष्टिकोण आध्यात्मिक है तो उनका स्वरूप भी आध्यात्मिक हो जायेगा। इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुये बाम कहते हैं।

"Civilisations differ from another as romantic, rationalistic, pacific, aggressive, mystical and mundane partly because, of their philosophical differences."

(अर्थात् "सभ्यतायें रोमांचकारी, बुद्धिवादी, शान्तिवादी, आक्रामक, रहस्यवादी तथा सांसारिक अंशतया अपने दार्शनिक भेदों के कारण ही एक दूसरे से भिन्न हो जाती हैं।")।

6. शैक्षिक क्षेत्र

हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिये ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर तभी दिया जा सकता है जब कि पहले हम यह निश्चित करें कि मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य क्या है, क्योंकि गन्तव्य के निश्चयीकरण हुए बिना मार्ग-निर्धारण किया ही कैसे जा सकता है ? और मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य क्या है ? यह एक दार्शनिक प्रश्न है। इस दार्शनिक प्रश्न का जैसा भी उत्तर होगा वैसी ही हमारी शिक्षा भी होगी। यदि मनुष्य जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य 'आध्यात्मिक' है तो शिक्षा क्रम का भी आध्यात्मिक ही होना युक्तियुक्त होगा, और यदि लक्ष्य 'भौतिक' है तो शिक्षा-क्रम का भी भौतिक होना संगत होगा। उदाहरण के रूप में हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में क्योंकि सामान्य रूप से प्रायः सभी दार्शनिक सिद्धान्त मानव जीवन का चरम लक्ष्य अध्यात्म-तत्त्व की प्राप्ति मानते थे, अतः उस समय हमारे देश की सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति आध्यात्मिक आदर्शों पर आधारित थी। किन्तु आधुनिक भारत में पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से क्योंकि हम अपने जीवन की इति-श्री केवल भौतिक सुखों की प्राप्ति समझने लगे हैं, अतः वर्त्तमान काल की समग्र शिक्षा-पद्धति भी पूर्णतः भौतिक आदर्शों पर ही अवलम्बित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शैक्षिक क्षेत्र में भी दर्शन का बहुत अधिक एवं व्यापक प्रभाव है।

7. राजनैतिक क्षेत्र

राजनैतिक क्षेत्र में भी दर्शन का भारी प्रभाव होता है। जनतन्त्रवाद (Democracy), राजतन्त्रवाद (Monarchy), अधिनायकवाद (Dictatorship), एकतन्त्रवाद (Monarchy), साम्यवाद (Communism), समाजवाद (Socialism) आदि जितनी भी शासन-पद्धतियाँ हैं सभी पृथक्-पृथक् दार्शनिक दृष्टिकोणों पर आधारित हैं। उदाहरण के रूप में जनतन्त्रवाद की पृष्ठभूमि में यह दार्शनिक दृष्टिकोण निहित है कि संसार के सभी मनुष्य समान हैं, अतः शासन में सभी को

समान रूप से अधिकार प्राप्त होने चाहिए। राजतन्त्रवाद इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि राजा संसार में ईश्वर का प्रतिनिधि होता है, अतः शासन का एकमात्र अधिकार उसका ही है और उसी में जनता का सब प्रकार से हित है। अधिनायकवाद का उदय नीट्शे के 'शक्ति की इच्छा' के दार्शनिक सिद्धान्त में हुआ, जिसके अनुसार यह प्रतिपादन किया गया था कि शक्ति (भौतिक) से कमजोरों को दबाना और उन पर आधिपत्य जमा लेना ही जीवन का सच्चा उत्कर्ष है। और, साम्यवाद के आदि प्रणेता कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने अपनी प्रेरणा जर्मनी के महान् दार्शनिक हीगेल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली (Dialectical method) से ली थी।

४. आर्थिक क्षेत्र

अर्थ का हमारे जीवन में क्या महत्व है? क्या वह स्वयं में ही एक लक्ष्य है? अथवा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा विविध सुख सुविधाओं की उपलब्धि का वह एक साधन मात्र है? ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका समुचित उत्तर व्यक्ति के जीवन-दर्शन (Philosophy of life) पर ही आधारित होता है। यदि जीवन-दर्शन केवल जड़वादी (Materialistic) है तब धन का एकत्रीकरण ही जीवन का लक्ष्य बन जाता है और यदि जीवन-दर्शन अध्यात्मवादी है तो धन को आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र समझा जाता है। दार्शनिक दृष्टिकोण पर केवल व्यक्तियों की आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप ही नहीं वरन् राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आर्थिक क्षेत्र के अन्यान्य सभी पहलू भी आधारित रहते हैं। वस्तुओं का उत्पादन, उपभोग, विनिमय आदि विविध आर्थिक क्रियायें बहुत सीमा तक दार्शनिक दृष्टि पर ही निर्भर रहती हैं। उदाहरण के रूप में गांधी जी पूँजीपतियों को समाज के धन का न्यासी (Trustee) बताते थे। दूसरी ओर कार्ल मार्क्स पूँजीपतियों को सर्वहाराजन का शोषक मानते थे। इन दो भिन्न दृष्टिकोणों ने समाज के आर्थिक जीवन को कितने भिन्न रूप में प्रभावित किया है यह सर्वविदित ही है।

विभिन्न विश्व-विद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. दर्शनशास्त्र क्या है ? दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखायें क्या हैं ?
   What is philosophy ? What are the different branches of philosophy ?
2. दर्शन की प्रकृति क्या है ? उसके अध्ययन को आप किस तरह उपयोगी पाते हैं ?
   What is the nature of Philosophy ? How, if at all, have you found its study useful ?
3. दर्शन क्या है ? सत्य के ज्ञान की दृष्टि से इसकी क्या उपयोगिता है ?
   What is Philosophy ? Discuss the value of Philosophy as means of knowledge of reality.
4. दर्शनशास्त्र से क्या तात्पर्य है ? आधुनिक जीवन में इसकी उपयोगिता का स्पष्टीकरण कीजिए ।
   What do you understand by Philosophy ? Bring out its usefulness in modern life.
5. दर्शन की उचित परिभाषा दीजिए एवं उसके अध्ययन की उपयोगिता बतलाइए ।
   Give a suitable definition of Philosophy and point out the utility of its study.
6. दर्शन की उत्पत्ति के क्या कारण हैं ?
   What are the various causes of the origin of Philosophy ?

द्वितीय अध्याय

दर्शन का क्षेत्र

(Scope of Philosophy)

'दर्शन के क्षेत्र' से अभिप्राय है 'दर्शन की विषय-वस्तु या विषय-सामग्री'। दर्शन की विषय-सामग्री क्या है ? — जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में वे सभी समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं जिन पर दर्शन के अन्तर्गत विचार किया गया है, अर्थात् जिन पर अनादि काल से दार्शनिकों ने चिन्तन किया है और जिनका समाधान खोजने में वे सदा संलग्न रहे हैं। स्पष्ट ही है कि उन समस्याओं के समाधान ही दर्शन की विषय-सामग्रीं का निर्माण करते हैं। अस्तु वे समस्यायें क्या हैं और किस किस प्रकार से दार्शनिकों ने उन पर विचार किया है इसी प्रश्न पर हम निम्न पंक्तियों में विचार करेंगे। पुनः, ज्ञातव्य है कि विभिन्न दार्शनिकों ने इन समस्याओं का वर्गीकरण अपने अपने दृष्टिकोणों के अनुसार भिन्न भिन्न रूप से किया है। जैसे कि हम प्लैटो (Plato), बैकन (Bacon), हीगेल, पैट्रिक आदि दार्शनिकों के किए हुए वर्गीकरणों में अनेक प्रकार के अन्तर पाते हैं। हमने यहाँ सामान्य रूप से प्रोफैसर पैट्रिक की पद्धति का अनुसरण किया है। तथापि, अनेक स्थलों पर हमारा वर्गीकरण उनसे भिन्न है जो हमने स्पष्ट रूप से विनम्रता पूर्वक यथास्थान व्यक्त भी कर दिया है।

(1) विश्व-मीमांसा (Cosmology)

दर्शन का प्रारम्भ, जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, विस्मय की भावना में होता है। यह विशाल एवं विस्तृत विश्व कैसे उत्पन्न हुआ ? इस का मूल स्वरूप क्या है ? क्या यह सम्पूर्ण विश्व किसी एक अज्ञात शक्ति, जिसे ईश्वर कहते हैं, के द्वारा एक ही समय पर उसी रूप में निर्मित कर दिया गया जैसा कि लाखों वर्षों पश्चात् भी आज हम उसे देखते हैं ? अथवा अनेक प्रकार के परिवर्तनों द्वारा विकास-क्रम के सोपानों[1] में होता हुआ यह इस वर्तमान अवस्था तक पहुँचा

1. Stages.

है ?—ये तथा इसी प्रकार के अनेक कुतुहल-पूर्ण प्रश्न मनुष्य को दार्शनिक गवेषणाओं की ओर प्रेरित करते हैं। विश्व-सम्बन्धी आश्चर्य की भावना में ही दिक्, काल एवं कार्य-कारणता[1] विषयक जिज्ञासा निहित रहती है। तदुपरान्त हमारे मन में पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति एवं विकास का प्रश्न उपस्थित होता है, और साथ हम यह भी विचार करने लगते हैं कि इस संसार का क्या प्रयोजन है।

इन प्रथम प्रकार की समस्याओं को सारणी के रूप में निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

(1) **विश्व-मीमांसा सम्बन्धी-समस्यायें**	(1) विश्व – दिक्, काल एवं कार्यकारणता (2) जीवन का स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति (3) विकास-दर्शन[2] (4) सृष्टि का प्रयोजन

(2) सत्ता मीमांसा (Ontology)

सृष्टि के आदि काल से ही विचारकों की गवेषणा का यह एक प्रमुख विषय रहा है कि यह संसार किस 'तत्त्व' से निर्मित हुआ है। क्या यह सम्पूर्ण विश्व एक ही तत्व की अभिव्यक्ति है अथवा दो या अनेक की ? प्राचीन यूनानियों की यह एक अत्यन्त प्रिय समस्या थी। विश्व के 'मूल तत्व' (First Principle) या आधारभूत सत्ता (Basic reality) की खोज करना उनके चिन्तन का केन्द्रीय विषय था। इस मूल-तत्त्व अथवा आधारभूत सत्ता सम्बन्धी मीमांसा को उन्होंने 'Ontology' नाम दिया था जिसका शाब्दिक अर्थ है 'सत्ता विज्ञान' (Science of being)। इस सत्ता विज्ञान को ही हमने 'सत्ता मीमांसा' की संज्ञा दी है।

इस स्थान पर 'विश्व मीमांसा' (Cosomology) से 'सत्ता मीमांसा' (Ontology) का अन्तर स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। जब हम इस विषय में विचार करते हैं कि यह संसार किसी एक ही तत्त्व से निर्मित होता है या दो अथवा अनेक तत्त्वों से, तब यह कहा जायेगा कि हम 'सत्ता मीमांसा' के क्षेत्र में हैं; और जब हम यह चिन्तन करते हैं कि किस प्रक्रिया द्वारा इस संसार का विकास हुआ है और किन स्तरों में होता हुआ संसार अपनी इस वर्तमान अवस्था तक पहुँचा है, तब यह कहा जायेगा कि हम 'विश्व मीमांसा' के क्षेत्र में हैं।

सृष्टि के मूल तत्व की गवेषणा में जो विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सृष्टि एक ही तत्व की परिणति (Transformation) है वे एक तत्त्ववादी (Monists) कहलाये; जिन लोगों ने यह निश्चय किया कि जगत् के मूल में एक

1. Causation.
2. Philosophy of Evolution.

नहीं वरन् दो तत्व हैं वे द्वितत्त्ववादी (Dualists) कहलाये; और जिन्होंने यह खोज की कि यह संसार एक अथवा दो तत्त्वों से निर्मित नहीं हुआ प्रत्युत अनेक स्वतन्त्र एवं मूलभूत तत्त्वों[1] से विकसित हुआ है वे बहुतत्त्ववादी (Pluralist) कहलाये। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकतत्ववाद, द्वितत्ववाद तथा बहुतत्ववाद सत्ता मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्तों के रूप में प्रतिपादित किये गये। एकतत्ववाद के अन्तर्गत दो प्रकार की विचारधाराओं का जन्म हुआ। एक में यह स्वीकार किया गया कि जिस अन्तिम तत्व[2] में यह सम्पूर्ण संसार परिणित किया जा सकता है वह 'जड़' (Matter) है, और दूसरी में यह माना गया है कि वह तत्व 'मनस्' या 'आत्मा' है। पहली विचारधारा भौतिक एकतत्ववाद ((Materialistic Monism) या केवल भौतिकवाद अथवा जड़वाद (Materialism) कहलाई और दूसरी विचारधारा को आध्यात्मिक एकतत्ववाद (Spiritualistic Monism) या केवल अध्यात्मवाद (Spiritualism) या प्रत्ययवाद (Idealism) के नाम से पुकारा गया।

द्वितत्ववाद के अनुसार यह प्रतिपादित किया गया कि इस संसार को कभी किसी एक मूल द्रव्य (जड़ या चैतन्य) में परिणत करना सम्भव नहीं है; विश्लेषण करने पर सत्ता के दो अन्तिम रूप निश्चित होते हैं एक मनस् दूसरा पुद्गल[3]।

बहुतत्ववाद के अन्तर्गत (एक तत्ववाद के सदृश) दो प्रकार के मतों (view points) का विकास हुआ। एक मत यह था कि जिन मूल तत्वों से संसार का विकास हुआ है वे अचेतन या जड़ हैं, और दूसरा मत यह था कि जगत् की आधारभूत सत्तायें चेतन (Mental or Psychic) हैं। प्रथम मत को भौतिक बहुतत्ववाद (Materialistic Pluralism) कहा गया और दूसरे को आध्यात्मिक बहुतत्ववाद (Spiritualistic Pluralism) की संज्ञा दी गई।

ये द्वितीय प्रकार की समस्यायें निम्न सारणी में उपस्थित की जा सकती हैं:—

(2) सत्ता मीमांसा सम्बन्धी समस्यायें	(1) एकतत्ववाद	(क) भौतिक एकतत्ववाद या भौतिकवाद या जड़वाद
		(ख) आध्यात्मिक एकतत्ववाद या अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद
	(2) द्वितत्ववाद	
	(3) बहुतत्ववाद	(क) भौतिक बहुतत्ववाद
		(ख) आध्यात्मिक बहुतत्ववाद

1. Independent and basic entities.
2. Ultimate entity
3. Matter,

1. मनस्-दर्शन (Philosophy of Mind)

मनस् या आत्मा के स्वरूप[1] सम्बन्धी प्रश्न दर्शनशास्त्र में इतनी महत्ता रखते हैं कि उन्हें एक स्वतन्त्र दर्शन शाखा (branch of philosophy) का रूप प्राप्त हुआ जिसका नाम मनस् दर्शन (Philosophy of Mind) पड़ा। पाठकों को मनस् दर्शन से मनोविज्ञान (Psychology) का भ्रम (confusion) कदापि नहीं कर लेना चाहिए। वर्तमान युग में जिसे मनोविज्ञान के नाम से पुकारा जाता है वह विज्ञान केवल वाह्य व्यवहार (outward behaviour) के द्वारा मानसिक क्रियाओं (mental processes) के अध्ययन तक ही स्वयं को सीमित रखता है। उसका सम्बन्ध मनस् या आत्मा[2] के मूल स्वरूप को जानने से कदापि नहीं है। यह कार्य मनस् दर्शन अपने ऊपर लता है। मनस् दर्शन के मुख्य प्रश्न निम्न प्रकार हैं : मनस् का क्या स्वरूप है ? क्या यह द्रव्य है अथवा विभिन्न संवेदनों[3] तथा विचारों का एक समूह मात्र है ? क्या यह अमर है ? यदि अमर है तो मृत्यु के पश्चात् यह कहाँ जाता है ? मनस् तथा शरीर का क्या सम्बन्ध है ? इच्छा-स्वातन्त्र्य या संकल्प-स्वातन्त्र्य (freedom of will) के प्रश्न पर भी दर्शनशास्त्री दर्शन की इसी शाखा के अन्तर्गत विचार किया करते हैं।

ये प्रश्न निम्न सारणी के रूप में प्रदर्शित किए जायेंगें :

३. मनस्-दर्शन सम्बन्धी समस्यायें।
- (१) मनस् या आत्मा का स्वरूप
- (२) आत्मा की अमरता।
- (३) मनस् तथा शरीर का सम्बन्ध।
- (४) इच्छा-स्वातन्त्र्य या संकल्प-स्वातन्त्र्य।

इस स्थल पर हम यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि विश्वमीमांसा, सत्ता मीमांसा तथा मनस् दर्शन तीनों के सम्मिलित रूप को 'तत्त्वज्ञान' (Metaphysics) की एक सामान्य संज्ञा प्रदान की गई है। कुछ लेखकों ने तत्त्वज्ञान (Metaphysics) को दर्शन (Philosophy) का समानार्थक बताया है। परन्तु हमारे विचार से यह उचित नहीं है। तत्त्वज्ञान दर्शनशास्त्र की एक शाखामात्र

---

1. Nature of mind or soul
2. पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि (भारतीय दर्शन से भिन्न) पश्चिमी दर्शन में 'मनस्' (mind) या 'आत्मा' (soul) ये दोनों शब्द पर्यायवाची अर्थों में प्रयोग किए गए हैं।
3. Sensations

है, इसकी दूसरी प्रमुख शाखायें 'ज्ञान मीमांसा' (Epistemology or Theory of Knowledge) एवं मूल्य मीमांसा (Axiology) भी है, जिनका हम नीचे उल्लेख करने जा रहे हैं।

4. ज्ञान-मीमांसा (Epistemology or Theory of Knowledge)

दर्शनशास्त्र की विभिन्न समस्याओं का समाधान खोजते-खोजते जब हम कुछ आगे बढ़ते हैं, तो कई बार हमारे सम्मुख ऐसे कठिन प्रश्न एवं सन्देह उपस्थित हो जाते हैं कि हम व्यग्र हो उठते हैं और हम रुक कर विचार करने लगते हैं कि क्या हमारा मस्तिष्क तथा बुद्धि इस जगत् के तथ्यों एवं परम सत्य (Supreme Reality) का प्रामाणिक ज्ञान[1] प्राप्त करने में समर्थ हैं। हम यह चिन्तन करते हैं कि प्रामाणिक ज्ञान का क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्ति का समुचित कारण (instrument) हमारी बुद्धि (intellect) ही है अथवा हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ (sense organs) या दोनों। साथ ही हम यह भी मनन करते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि से परे क्या कोई अन्य साधन ऐसा है जिसके द्वारा तत्त्व (Reality) को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यहाँ कुछ पाठक सम्भवत: यह सोचेंगे कि ज्ञान-मीमांसा के प्रश्नों का समाधान तो दर्शनशास्त्र के अध्ययन में सर्वप्रथम होना चाहिए था। वास्तविकता यह है कि क्रम तो यही उचित था; और भारतीय दर्शन-ग्रंथों में यही क्रम अपनाया भी गया है। वर्तमान युग में भी लॉक (Locke), बर्कले, काण्ट प्रभृति दार्शनिकों ने अपने दर्शन-ग्रन्थों में 'ज्ञान मीमांसा' को सर्वप्रथम स्थान दिया है। परन्तु क्योंकि ज्ञान-मीमांसा अपेक्षाकृत कुछ कठिन विषय है अतः प्रतीत यह होता है कि प्राचीन पश्चिमी दार्शनिकों ने ज्ञान-मीमांसा की प्रारम्भ में इसी कारण से विवेचना नहीं की कि कहीं अध्येता[2] दर्शन मात्र के अध्ययन से मुख न मोड़ लें। हमने भी इसी विचार के कारण इस मीमांसा को दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में प्रथम स्थान न देकर चतुर्थ स्थान दिया है[3]।

ज्ञान-मीमांसा की उपर्युक्त समस्याओं को निम्न सारणी में रखा जा सकता है।

---

1 Valid knowledge

2. Students

3. इसी दृष्टि को लेकर हमने अपनी पुस्तक में 'ज्ञान मीमांसा' के अध्याय को भी कुछ पश्चात् में ही रखा है।

- 4. ज्ञान मीमांसा सम्बन्धी समस्यायें
  - १. प्रामाणिक ज्ञान का स्वरूप
  - २. मानव ज्ञान की सीमायें
  - ३. यथार्थ (प्रामाणिक) ज्ञान की उत्पत्ति तथा तद्विषयक सिद्धान्त ।
    - क. बुद्धिवाद (Rationalism)
    - ख. अनुभववाद (Empiricism)
    - ग. संशयवाद (Scepticism)
    - घ. विचारवाद (Critical Theory)
    - ङ. अज्ञेयवाद (Agnosticism)
    - च. रहस्यवाद (Mysticism)
    - छ. अन्त:प्रज्ञावाद (Intuitionism)

5. मूल्य-मीमांसा (Axiology)

आधुनिक युग में दर्शनशास्त्र की इस शाखा अर्थात् मूल्य-मीमांसा ने दर्शन के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। मूल्य मीमांसा के अन्तर्गत मुख्य रूप से इन प्रश्नों पर विचार किया जाता है : मूल्य किसे कहते हैं ? मूल्य का तथ्य (fact) से क्या भेद है ? क्या मूल्य स्वरूपतः वस्तुगत (objective) है या आत्मगत (subjective) ? जीवन के उच्चतर मूल्य (higher values) कौन हैं और ये किस प्रकार एक दूसरे में सम्बन्धित हैं ? दार्शनिक गवेषणाओं के फलस्वरूप जीवन में तीन उच्चतर मूल्य माने गए हैं — (१) बौद्धिक मूल्य (Intellectual values), (२) नैतिक मूल्य (Moral values) तथा (३) सौन्दर्यात्मक मूल्य (Aesthetic values)[1] ये त्रिविध मूल्य क्रमेण तर्क विज्ञान (Logic), नीति विज्ञान (Ethics) तथा सौन्दर्य्य विज्ञान (Aesthetics) के अन्तर्गत अध्ययन किए जाते हैं। कुछ दार्शनिकों का मत यह है कि तीन उच्चतर मूल्यों से भी ऊपर एक प्रकार के मूल्य हैं जिन्हें धार्मिक मूल्य (Religious values) अथवा आध्यात्मिक मूल्य (Spiritual values) कहा जाता है। ये ही जीवन के सर्वोच्च मूल्य (Highest values) हैं, जिन्हें प्राप्त कर मनुष्य पूर्णरूपेण कृतकृत्य हो जाता है सर्वप्रकार से सन्तुष्ट हो जाता है। इन मूल्यों का अध्ययन 'धर्मशास्त्र' (Philosophy of Religion) के अन्तर्गत किया जाता है। दर्शन की इस शाखा में हम 'मानव जीवन का चरम लक्ष्य', 'ईश्वर का स्वरूप', 'ईश्वर से आत्मा का सम्बन्ध' 'आत्मा की अमरता', 'दुख' (Evil) का स्वरूप तथा आत्यन्तिक दुख निवृत्ति के साधन', आदि विषयों पर विचार किया करते हैं :

पञ्चम प्रकार की इन मूल्य-मीमांसा सम्बन्धी समस्याओं की सारणी निम्न प्रकार की होगी।

---

1. Complete eradication of pain

5. मूल्य-मीमांसा सम्बन्धी समस्यायें
- (1) बौद्धिक मूल्य
- (2) नैतिक मूल्य
- (3) सौन्दर्यात्मक मूल्य
- (4) धार्मिक या आध्यात्मिक मूल्य

दर्शन की अन्य शाखायें

हमने ऊपर की पंक्तियों में दर्शन की मूलभूत समस्याओं[1] अथवा विषय-सामग्री पर सविस्तर विचार किया है। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होगा कि दर्शन का क्षेत्र इससे कहीं अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। वास्तविकता यह है कि जब हम संसार की किसी भी वस्तु या घटना के मूल स्वरूप (Fundamental nature) तथा मानव जीवन के लिए उसके अन्तिम मूल्य (Ultimate value) पर विचार करने लगते हैं तो हम दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। अतः ज्ञान की कोई भी ऐसी शाखा नहीं है जिसका एक दार्शनिक पक्ष न हो। विभिन्न विज्ञानों के ये ही दार्शनिक पक्ष दर्शन की विभिन्न शाखाओं के नाम से जाने गये हैं और उनका भी दर्शन की विषय-वस्तु में समावेश होना आवश्यक है। दर्शन की उन शाखाओं में मुख्य निम्न प्रकार से हैं :—

(1) शिक्षा दर्शन (Philosophy of Education)

दर्शन की इस शाखा में शिक्षा के वास्तविक अर्थ तथा उनके उद्देश्य पर विचार किया जाता है।

(2) विज्ञान का दर्शन (Philosophy of Science)

इसके अन्तर्गत विभिन्न विज्ञानों की आधारभूत मान्यताओं (Presuppositions) तथा निष्कर्षों की समीक्षा की जाती है।

(3) समाज दर्शन (Social Philosophy)

इस शाखा में विभिन्न सामाजिक रीति रिवाजों तथा संस्थाओं का दार्शनिक आधार क्या है इस प्रश्न पर विचार किया जाता है।

(4) राजनीति दर्शन (Political Philosophy)

इसमें राजनीतिक सिद्धान्तों (Political Theories), जैसे जनतंत्रवाद, समाजवाद साम्यवाद आदि से सम्बन्धित दार्शनिक समस्याओं की विवेचना की जाती है और साथ ही राज्य के औचित्य पर विचार किया जाता है।

(5) अर्थशास्त्र का दर्शन (Philosophy of Economics)

इसके अन्तर्गत अर्थ (Wealth) का मूल स्वरूप तथा उसकी क्रिया[2] एवं उपादेयता समझने का प्रयास किया जाता है।

---

1. Basic Problems.
2. Function.

(6) इतिहास का दर्शन (Philosophy of History)

इसमें ऐतिहासिकता[1] के वास्तविक अर्थ पर विचार किया जाता है। ऐतिहासिक प्रयोजन की समीक्षा की जाती है और साथ ही विश्व प्रक्रिया एवं प्रयोजन से उसके सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न किया जाता है।

(7) शब्द विज्ञान (Semantics)

इस शाखा में शब्दों का यथोचित अर्थ और विचारों तथा वस्तुओं से उनका सम्बन्ध जानने का प्रयास किया जाता है। समकालीन दर्शन में तार्किक भाववाद (Logical Positivism) के अनुसार शब्द विज्ञान ही दर्शन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शाखा है।

---

1. Historicity.

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

(1) दर्शन का क्या स्वरूप है ? इसका क्या क्षेत्र है ?
What is the nature of Philosophy ? What is its scope ?

(2) दर्शन की परिभाषा कीजिये। बताइये कि उसकी विषय-सामग्री क्या है ?
Define Philosophy. Indicate what is the subject-matter of Philosophy.

(3) दर्शन किसे कहते हैं ? उसकी क्या-क्या समस्यायें हैं निर्धारित कीजिये।
What is Philosophy ? Indicate what are its problems.

(4) दर्शन की विषय-वस्तु क्या है ?
What are the themes of Philosophy ?

तृतीय अध्याय

दर्शन, विज्ञान और धर्म

(Philosophy, Science & Religion)

पूर्व के दो अध्यायों में हमने दर्शन के स्वरूप तथा उसके क्षेत्र के विषय में चर्चा की है। अब इस अध्याय में हम दर्शन का उसकी निकटतम ज्ञान एवं साधना की दो शाखाओं, क्रमात्[1] विज्ञान और धर्म, से क्या सम्बन्ध है इसका निर्देशन करेंगे। आज संसार में चारों ओर विज्ञान तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों की चर्चा सुनाई देती है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव बुद्धि को चकित कर दिया है। विज्ञान विश्व के स्वरूप को समझने के लिए कटिबद्ध दृष्ट होता है। दूसरी ओर, जैसा कि हमने प्रथम अध्याय में बताया है, दर्शन का लक्ष्य तो सृष्टि के मूल तत्व को जानना है ही। अस्तु, हमें विचार करना होगा कि विश्व को समझने के लिए दृढ़संकल्प इन दो ज्ञान-शाखाओं का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। क्या दोनों के उद्देश्य पूर्णतया एक हैं, अथवा उनमें कुछ अन्तर है ? और क्या दोनों की गवेषणा विधियाँ सदृश हैं अथवा उनमें भिन्नता है ? जहाँ तक धर्म का प्रश्न है यद्यपि विज्ञान के सदृश आज के युग में वह इतना बहुचर्चित विषय तो नहीं है, तथापि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अनादि काल से वह दर्शन के सर्वाधिक समीप रहा है। अतः दर्शन के अध्येताओं के लिए यह भी नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है कि वे यह जानें कि धर्म से दर्शन का क्या सम्बन्ध है, क्या दोनों का लक्ष्य एक ही है अथवा पृथक् पृथक् ? दोनों की विधियों में क्या समानतायें हैं और क्या असमानतायें ?

दर्शन और विज्ञान

(Philosophy and Science)

स्पष्ट ही है कि किन्हीं दो वस्तुओं या विषयों का सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले पृथक् पृथक् रूप से हम इनके स्वरूप को जानें। 'दर्शन' का क्या स्वरूप है इसकी चर्चा हम अपने प्रथम अध्याय में कर चुके हैं।

---

1. **Respectively.**

अब हम निम्न पंक्तियों में विज्ञान का स्वरूप और उसकी परिभाषा निर्दिष्ट करने का प्रयास करेंगे ।

विज्ञान का स्वरूप

(Nature of Science)

'विज्ञान' शब्द 'वि' उपसर्ग के साथ 'ज्ञान' शब्द का संयोग होने से बना है । 'वि' उपसर्ग का अर्थ है 'विशेषेण' अर्थात् 'विशेष रूप से' । अतः 'विज्ञान' शब्द का वाच्यार्थ है 'विशेष ज्ञान' । ज्ञान 'विशेष ज्ञान' तभी हो सकता है जबकि सामान्य ज्ञान से अधिक उसमें कोई विशेषता हो । यह विशेषता विचारकों के मत से ज्ञान की सुनिश्चितता (Certainty) यथाभूतता (Exactness) एवं व्यवस्था (Systematisation) है । अस्तु 'विज्ञान' हम उसी ज्ञान को कह सकते हैं जिसमें ये सभी बातें विद्यमान हों, अन्यथा नहीं । इस (विज्ञान) शब्द का अंग्रेजी रूपान्तर है 'Science' । 'Science' शब्द लैटिन भाषा के 'Scio' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है 'जानना' । अतः 'Science' का शब्दार्थ होता है 'ज्ञान' । किन्तु धीरे-धीरे इस शब्द ने अपना एक विशेष अर्थ ग्रहण कर लिया है, और अब यह शब्द सामान्य ज्ञान का द्योतक न होकर केवल सुनिश्चित, यथाभूत एवं व्यवस्थित ज्ञान का ही द्योतक माना जाने लगा है । श्री आर्थर टॉमसन (Shri Arthur Thomson) ने अपनी पुस्तक 'An introduction to Science' में विज्ञान की परिभाषा करते हुए बड़ा ही सुन्दर कहा है, "Science is the complete & consistent description of the facts of experience in the simplest possible terms." (अर्थात् "विज्ञान अनुभव के तथ्यों का सरलतम शब्दों में पूर्ण एवं संगत वर्णन है ।") ।

वैज्ञानिक अपने गवेषणा-कार्य में सर्व-प्रथम जगत् के तथ्यों को एकत्रित करता है । एकत्रित तथ्यों की परिभाषा करता है, उनका विश्लेषण करता है और वर्गीकरण करता है । इसके उपरान्त वह उन परिस्थितियों या कारणों की खोज में आगे बढ़ता है जिनके परिणाम स्वरूप उक्त तथ्य घटित हुए हैं, और तब वह कुछ सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचता है, जिनके द्वारा वह विश्व के घटनाक्रम में सामान्य नियमों का निर्धारण करता है । वैज्ञानिक की इस गवेषणा-पद्धति को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है ।

(1) तथ्यों का एकत्रीकरण

(2) तथ्यों का वर्णन

  (क) परिभाषा एवं सामान्य वर्णन

  (ख) विश्लेषण

  (ग) वर्गीकरण

(3) तथ्यों की व्याख्या
 (क) कारणों का निश्चयीकरण
 (ख) सामान्य नियमों का निर्धारण

दर्शन और विज्ञान का सम्बन्ध

(Relation of Philosophy and Science)

दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध के अन्तर्गत स्पष्ट ही है कि दो बातों पर विचार करना आवश्यक है—(1) दर्शन और विज्ञान की समानतायें तथा (2) दर्शन और विज्ञान की भिन्नतायें । हम पहिले दर्शन और विज्ञान की समानताओं को निर्दिष्ट करेंगे और तब दर्शन और विज्ञान की भिन्नताओं को :—

दर्शन और विज्ञान की समानतायें

1. उद्देश्य

जब हम दर्शन और विज्ञान दोनों के उद्देश्यों के विषय में विचार करते हैं तो हमें यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन और विज्ञान किसी एक ही क्षेत्र के प्रतिद्वन्द्वी न होकर इस विश्व को समझाने में एक दूसरे के सहयोगी हैं । दोनों की उत्पत्ति कौतूहल की भावना में ही होती है । दोनों जीवन और जगत् के विषय में निश्चित और व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते हैं । विज्ञान विश्व के विभिन्न क्षेत्रों को पृथक् पृथक् रूप में अध्ययन करता है, परन्तु दर्शन विश्व को उसके समग्र रूप में देखने की चेष्टा करता है । 'विज्ञान कुछ सदृश घटनाओं को लेकर पहले उन्हें किसी एक सामान्य नियम में बाँधता है, और फिर उन सामान्य नियमों को उन से अधिक व्यापक नियमों की शृंखला में आबद्ध करता है । परन्तु विज्ञान इस कार्य को पूर्ण रूप से नहीं निभा पाता । विश्व की पूर्ण एवं समुचित व्याख्या तभी की जा सकती है और हमारा ज्ञान तभी पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो सकता है, जब कि हम एक ही नियम अथवा तत्व के द्वारा विश्व की सम्पूर्ण घटनाओं एवं पदार्थों की व्याख्या करने में समर्थ हों । दर्शन विज्ञान का पूरक बन इस कार्य को अन्तिम सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है । अध्यात्मवादी दार्शनिक केवल आत्म-तत्व के द्वारा इस अखिल विश्व की व्याख्या करने की चेष्टा करता है और जड़वादी दार्शनिक केवल पुद्गल (Matter) के द्वारा ।

2. विधि

दर्शन और विज्ञान दोनों ही जगत् के रहस्यों को समझने के हेतु निष्पक्षता पूर्वक आगे बढ़ने का प्रयास करते हैं । दोनों प्रत्यक्ष और विचार का सहारा लेते हैं । प्रत्येक वस्तु एवं घटना को शंका की दृष्टि से देखते हुए वे उस समय तक उनकी

सत्यता को स्वीकार नहीं करते जब तक यह न जान लें कि वे वस्तुतः ठोस प्रमाणों पर आधारित हैं। आगमन (Induction) और निगमन (Deduction) विधियों का प्रयोग समान रूप से ही दर्शन और विज्ञान दोनों अपने अपने क्षेत्रों में करते हैं और विश्लेषण (Analysis) एवं संश्लेषण (Synthesis) के द्वारा अपने निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

दर्शन और विज्ञान की भिन्नतायें

1. विज्ञानों का क्षेत्र सीमित, किन्तु दर्शन का व्यापक

विभिन्न विज्ञान विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में अपने अपने अनुसंधान करते हैं। एक विज्ञान का सम्बन्ध विश्व के केवल एक अंश या क्षेत्र से ही होता है विश्व के दूसरे क्षेत्रों से नहीं। अपने ही क्षेत्र में वह विभिन्न तथ्यों का अध्ययन करता है और सामान्य नियमों की खोज करने की चेष्टा करता है। जैसे कि भौतिक विज्ञान का सम्बन्ध केवल जड़-तत्व, गति और शक्ति से है, रसायन विज्ञान का केवल रासायनिक पदार्थों से, वनस्पति विज्ञान का केवल वनस्पति जगत् से, गणित शास्त्र का केवल अंकों से, मनोविज्ञान का केवल मानसिक क्रियाओं से, जीव विज्ञान का केवल जीव-जगत् से और इसी प्रकार अन्य विज्ञानों का भी। कोई भी विज्ञान अपनी परिमित परिधियों का अतिक्रमण नहीं करता, उन परिधियों में ही अपने विषयों की व्याख्या करने में अपने कर्तव्य की परिसमाप्ति समझता है। परन्तु दर्शन अपने क्षेत्र को सीमित न करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही अपनी खोजों का विषय बनाता है। चराचर विश्व का दृष्ट अथवा अदृष्ट कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं और कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं जो दर्शनिक गवेषणाओं का विषय न हो। विज्ञान से भिन्न दर्शन के स्वरूप को बताते हुए मैकैन्जी महोदय (Mackenzie) कहते हैं, "It is not with the ascertainment of particular facts that it(Philosophy) is concerned, but with the gaining of true insight into the general structure of the universe and man's relations to it." (अर्थात् "इस (दर्शन) का सम्बन्ध विशिष्ट तथ्यों के निश्चयीकरण से नहीं, प्रत्युत विश्व की सामान्य रचना तथा उस (विश्व) से मनुष्य के सम्बन्धों के विषय में एक सत्य अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने से है"।)

2. विज्ञान साधारण अनुभव के तथ्यों को व्यवस्थित करता है और दर्शन विभिन्न विज्ञानों के तथ्यों को

जब हम 'साधारण अनुभव' से 'विज्ञान' की ओर अग्रसर होते हैं तब हम किसी नवीन क्षेत्र में प्रवेश नहीं करते, ठीक उसी प्रकार जब हम विज्ञान से दर्शन की ओर बढ़ते हैं तब भी हम किसी नवीन जगत में प्रवेश नहीं करते। हमारा

सम्बन्ध बराबर उसी अनुभव के संसार (world of experience) से बना रहता है। अन्तर केवल इतना होता है कि जिस प्रकार 'साधारण अनुभव' मे 'विज्ञान' एक अग्र-पग है उसी प्रकार 'विज्ञान' से 'दर्शन' भी एक अग्र-पग है। विज्ञान जगत् तथा जीवन के सामान्य तथ्यों की व्यवस्था (organisation) करता है और दर्शन् विज्ञान के सामान्य तथ्यों की। परन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि ज्ञान एक इकाई है और उसका क्षेत्र भी एक अविभाज्य क्षेत्र है। कार्य की सुगमता के हेतु विभिन्न विज्ञानों ने अपने अपने क्षेत्रों को परस्पर बाँट लिया है। परन्तु विज्ञानों की ये परिधियाँ कृत्रिम हैं। कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध एक नहीं अनेकों विज्ञानों से होता है और वे विज्ञान अपने अपने दृष्टिकोणों से उन विषयों पर अपने अपने विचार प्रकट करते हैं। कई बार ऐसा होता है कि एक विज्ञान के निष्कर्ष दूसरे विज्ञान के निष्कर्षों से विरुद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ भौतिक विज्ञान (Physical Sciences), जिनमें मनोविज्ञान भी सम्मिलित है, नियन्त्रणवाद (Determinism) का प्रतिपादन करते हैं। इनकी मान्यता है कि हमारी सभी मानसिक क्रियायें कार्य-कारण के नियम में आबद्ध हैं। दूसरी ओर नीति विज्ञान इच्छा-स्वातन्त्रय (Freedom of Will) का समर्थन करता है। उसकी मान्यता है कि हमारे संकल्प तथा अन्य मानसिक क्रियायें स्वतन्त्र तथा आत्म-प्रेरित होते हैं। इस प्रकार के विरोध-स्थलों पर दर्शन हमारी सहायता करता है। उसका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक एवं सर्वाङ्गीण होने के कारण वह विभिन्न विज्ञानों के विरोधों में समन्वय करता है। अन्यान्य विज्ञानों में सामन्जस्य स्थापित करते हुए वह उन्हें एक व्यवस्था प्रदान करता है।

3. प्रत्येक विज्ञान कुछ मान्यताओं पर आधारित रहता है परन्तु दर्शन किसी भी मान्यता पर आधारित नहीं रहता

हमारे जीवन के सामान्य अनुभव की अनेक ऐसी बातें होती हैं जिन्हें हम सहज मान लेते हैं, परन्तु विज्ञान उनकी आलोचना करता है। तथापि गम्भीरता से विचार करने पर यह विदित होगा कि इस विश्व के अनेक ऐसे सिद्धान्त और तथ्य हैं जिन्हें विज्ञान भी आवश्यक मान्यताओं (Necessary postulates) के रूप में प्रारम्भ से ही स्वीकार कर लेता है, उनके विषय में वह किसी भी प्रकार की 'ननु' 'नच' नहीं करता। उदाहरण के रूप में विज्ञान पुद्गल या जड़-तत्व (Matter), शक्ति (Energy), दिक्, (Space), काल (Time), कारणत्व (Causation), मनस् (Mind) आदि के अस्तित्व में सहज विश्वास रखता है और इन मूलभूत धारणाओं के प्रकाश में विश्व की अन्य घटनाओं की व्याख्या करता है। विज्ञान उन उक्त आवश्यक मान्यताओं के विषय में तनिक भी सन्देह

नहीं करता; अतएव वह इनके वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न भी नहीं करता। दर्शन किसी भी वस्तु के अस्तित्व को प्रारम्भ में ही नहीं मान लेता। यह विज्ञान की मान्यताओं की आलोचना करता है और उनकी छान-बीन कर उनके मूल स्वरूप को जानने की चेष्टा करता हैं। साथ ही इन मान्यताओं के विषय में वैज्ञानिकों के जो धूमिल और अस्पष्ट विचार हैं उन्हें भी यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है। उदाहरण के रूप में जैसे पुद्गल या जड़-तत्व के विषय में दार्शनिक प्रश्न करता है — पुद्गल किसे कहते हैं? क्या बाह्य देश में उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता है? या मृग तृष्णा के सदृश वह हमारे मन एवं इन्द्रियों का भ्रम मात्र है? इसी प्रकार कारणत्व के विषय में वह (दार्शनिक) पूछता है — कारणत्व का वास्तविक अर्थ क्या है? क्या कारण और कार्य में कोई आवश्यक सम्बन्ध (Necessary relation) है? यदि है तो उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या कारण और कार्य में इतना ही सम्बन्ध है जितना कि एक पूर्ववर्ती (antecedent) घटना और परवर्ती (Successive) घटना में अथवा हम यह कह सकते हैं कि कारण में ही एक उत्पादक शक्ति निहित रहती है जो कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखती है? क्या विश्व में प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है? यदि होता है तो हम नक्षत्रों एवं परमाणुओं की स्वच्छन्द गतिविधियों तथा मनुष्य की इच्छा स्वातन्त्र्य सम्बन्धी घटनाओं के विषय में क्या कहेंगे? पुद्गल तथा कारणत्व के सदृश दर्शन विज्ञानों की अन्य सभी मान्यताओं की भी आलोचना कर उनके मूल स्वरूप को निर्णीत करने की चेष्टा करता है।

4. विज्ञान का कार्य विषयों का वर्णन है और दर्शन का कार्य उनका मूल्यांकन है

विज्ञान विषयों का निरीक्षण कर उनका वर्णन करता है। इसके अनन्तर वह घटनाओं में व्याप्त सामान्य नियमों की खोज करता है। दर्शन विषयों का चरम सत्य (Ultimate Reality) से सम्बन्ध समझकर उनका ठीक-ठीक अर्थ एवं मूल्य जानने का प्रयास करता है। विज्ञान केवल इस प्रश्न पर विचार करता है कि कोई घटना 'कैसे' घटित होती है; वह 'क्यों' घटित होती है इस प्रश्न से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। 'क्यों' का उत्तर केवल दर्शन ही देने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के रूप में 'मध्याकर्षण के नियम' ('Law of gravitation) के सम्बन्ध में विज्ञान केवल इतना ही बतलाता है कि पदार्थ 'कैसे' एक दूसरे को आकर्षित करते हैं, वह यह नहीं बतलाता कि 'क्यों' आकर्षित करते हैं। परन्तु, दर्शन विश्व के मूल तत्त्व, आदि कारण (First cause) एवं उद्देश्य (Final cause) के आधार पर इस सबकी 'क्यों' का भी उत्तर देने की चेष्टा करता है। यूनान के महान् दार्शनिक

अरस्तु (Aristotle) ने कारण के चार भेद बताए हैं— आदि कारण, उपादान कारण (Material Cause), निमित्त कारण (Efficient cause) तथा उद्देश्य रूपी कारण अर्थात् उद्देश्य । विज्ञान का सम्बन्ध केवल उपादान कारण एवं निमित्त कारण मे ही होता है, परन्तु दर्शन चारों प्रकार के कारणों की खोज करता है ।

5. विज्ञान की मुख्य विधि प्रयोग है किंतु दर्शन की विचार

हमने दर्शन और विज्ञान की समानता का विवरण देते हुए ऊपर यह कहा है कि दोनों (दर्शन और विज्ञान) की विधियों में पर्याप्त सादृश्य है । इस स्थान पर यह स्पष्ट करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि सादृश्य के साथ दर्शन और विज्ञान की विधियों में कुछ भेद भी है । विज्ञान के विषय हमारे सामान्य व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं, अतः उन पर प्रयोग किए जा सकते हैं । परन्तु दर्शन के विषय एक ओर सूक्ष्म और दूसरी ओर इतने व्यापक होते हैं कि विज्ञान के विषयों के सदृश प्रयोगशालाओं में उन पर प्रयोग करना ही सम्भव नहीं है । उन पर तो केवल विचार के द्वारा ही अनुसंधान किया जा सकता है । युक्ति और तर्क के आधार पर ही दर्शन अपने निष्कर्षों को प्राप्त करता है । इस स्थान पर हम इस तथ्य की ओर संकेत करना चाहेंगे कि यद्यपि पश्चिमी दर्शन का मुख्य आधार विचारात्मक पद्धति है; तथापि, भारतीय दर्शन के विषय में ऐसा कहना उचित न होगा । भारतीय दर्शन में सत्य के अनुसंधान में विचार के साथ व्यावहारिक साधना पर तो और भी अधिक बल दिया गया है ।

6. विज्ञान का सम्बन्ध केवल बुद्धि-तृप्ति से है परन्तु दर्शन का सम्पूण मनस् की तृप्ति से

सत्य की गवेषणा में विज्ञान अपने प्रयासों द्वारा मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति को तृप्त करता है। परन्तु हमारे मनस् की मूल वृत्तियाँ एक नहीं वरन् तीन हैं — बुद्धि-वृत्ति या ज्ञानात्मक वृत्ति (Thinking or Knowing), भाव-वृत्ति (Feeling) तथा इच्छा-वृत्ति (Willing) । बुद्धि-वृत्ति की तृप्ति जितनी आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है उतनी ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है भाव-वृत्ति और इच्छा-वृत्ति की तृप्ति । दर्शन मानव मन की पूर्ण तृप्ति को ध्यान में रखते हुए जीवन के सर्वोच्च मूल्यों — सत्यम् (Truth), शिवम् (Good) तथा सुन्दरम् (Beauty) की खोज करता है । वह जहाँ बुद्धि-तत्त्व की तृप्ति के लिए सत्य के अनुसंधान की आवश्यकता समझता है वहाँ वह यह भी समझता है कि भाव-वृत्ति की तृप्ति के लिए सुन्दर वस्तु की आवश्यकता है और इच्छण-वृत्ति की तृप्ति के लिए शुभ कर्म की अपेक्षा । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विज्ञान का दृष्टिकोण एकांगी है परन्तु दर्शन का सर्वांगीण ।

दर्शन और विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं

दर्शन और विज्ञान की समानताओं एवं भिन्नताओं का उल्लेख करने के पश्चात् हमारे सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित होता है, वह यह कि क्या हम दर्शन और विज्ञान को परस्पर विरोधी कहेंगे या एक दूसरे के पूरक ? कुछ बातों में विरोध होते हुए भी व्यापक दृष्टि से विचार करने पर यही कहना उपयुक्त होगा कि दर्शन और विज्ञान एक दूसरे के सहयोगी तथा पूरक हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि विभिन्न विज्ञान अपने अपने क्षेत्रों में सत्य की खोज करते हैं, किन्तु दर्शन की खोज का विषय सम्पूर्ण विश्व है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि जहाँ विज्ञान की गवेषणा का विषय केवल 'आंशिक सत्य' है, वहाँ दर्शन के अनुसंधान का विषय है 'पूर्ण सत्य'। 'आंशिक सत्य' और 'पूर्ण सत्य' एक दूसरे पर आधारित हैं। 'अंशों' का यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब कि 'पूर्ण' का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो, और 'पूर्ण' का यथार्थ ज्ञान तभी सम्भव है जब कि 'अंशों' का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो। अतः हमें यह कहना होगा कि विज्ञान दर्शन पर आधारित है और दर्शन विज्ञानों पर।

गम्भीर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन का विशाल भवन केवल बौद्धिक चिन्तन (Speculation) पर खड़ा नहीं किया जा सकता; इसका समुचित निर्माण केवल विज्ञानों द्वारा दी हुई सामग्री पर ही हो सकता है। विज्ञानों के आधार के बिना दर्शन अपूर्ण है। किन्तु साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि समग्र दृष्टि प्राप्त न होने से दर्शन के अभाव में विज्ञान भी नितान्त अपूर्ण हैं। इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए वेबर महोदय अपने ग्रन्थ 'History of Philosophy' में कहते हैं : **"The sciences without philosophy are an aggregate without unity, a body without soul; philosophy without sciences is a soul without body, different in nothing from poetry and its dreams."** (अर्थात् "दर्शन के बिना विज्ञान एकता के बिना संघात मात्र हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि आत्मा के बिना शरीर; और विज्ञानों के के बिना दर्शन भी ठीक ऐसा ही है जैसा कि शरीर के बिना आत्मा, जो कविता और उसके स्वप्नों से किञ्चिदपि भिन्न नहीं है।")।

दर्शन और धर्म

(Philosophy and Religion)

पूर्व पद्धति के अनुरूप धर्म का दर्शन से सम्बन्ध निर्धारित करने से पूर्व यही समीचीन दृष्टिगोचर होता है कि सर्वप्रथम हम धर्म का स्वरूप समझ लें। जहां तक दर्शन

के स्वरूप का प्रश्न है उसके विषय में तो (जैसा कि हमने ऊपर भी इङ्गित किया है) हम पहिले ही पर्याप्त विवेचना कर चुके हैं ।

धर्म का स्वरूप

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। अत: 'धर्म' शब्द का शाब्दिक अर्थ है वह 'तत्व' या 'शक्ति' जो धारण करती है — "धारणात् इत्याहुः धर्मः" (महाभारत) । अर्थात् धर्म वह तत्व अथवा शक्ति है जो सारे विश्व को धारण कर रही है या संचालन कर रही है। भारतीय संस्कृति में 'धर्म' शब्द इसी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसी कारण वे सम्पूर्ण सिद्धांत जिनके आधार पर सम्पूर्ण सृष्टि चल रही है, धर्म के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। इन्हीं सिद्धांतों के अनुरूप चल कर मानव अपने जीवन का सर्वोच्च शुभ प्राप्त कर सकता है अपना सर्वोपरि कल्याण कर सकता है ।

'धर्म' शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'Religion' है। 'Religion' शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों 'Re' तथा 'legare' से मिल कर बना है। 'Re' का अर्थ है 'पीछे' और 'Legare' का अर्थ है 'बाँधना' । अत: 'Religion' का शाब्दिक अर्थ हुआ 'पीछे बांधना'। अभिप्राय यह है कि वह मार्ग जो मनुष्य को इस विश्व की पृष्ठभूमि या मूल में निहित शक्ति से बांधता है 'रिलीजन' कहलाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जिस मर्म्ग के द्वारा हम ईश्वर को प्राप्त करते हैं वह रिलीजन है। रिलीजन की परिभाषा करते हुए प्रोफैसर पैट्रिक कहते हैं :— **"Religion is a feeling of dependence upon the Unseen powers which control our destiny, accompanied by a desire to come into friendly relations with them."** ("अर्थात् रिलीजन (या धर्म) उन अदृष्ट शक्तियों के प्रति निर्भरता के भाव का नाम है जो हमारी भवितव्यता का नियन्त्रण कर रही हैं; इस भाव के साथ हमारे मन की यह अभिलाषा भी अनुस्यूत रहती है कि उन शक्तियों के साथ हमारा मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो ।") इस प्रकार रिलीजन से तात्पर्य है ईश्वर के प्रति समर्पण तथा प्रेम का भाव । हम यों कह सकते हैं कि मनुष्य के हृदय में विश्व-नियन्ता के प्रति जो श्रद्धा तथा उससे एकत्व प्राप्ति की कामना रहती है उसे ही रिलीजन या धर्म की संज्ञा दी जाती है ।

संसार के अधिकतर धर्म ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी धर्म हैं जो ईश्वर की सत्ता में आस्था नहीं रखते ।[1] तथापि, ये धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यों को सत्य मानते हैं और उनकी प्राप्ति ही धर्म का उद्देश्य समझते हैं। मनुष्य के हृदय में साधारणतया अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तोष रहता है।

---

1 जैसे कि जैन धर्म और बौद्ध धर्म

वह सर्वदा ही अपनी स्थिति से ऊपर उठना चाहता है और किसी ऐसी वस्तु की कामना किया करता है जो उसे पूर्णतया तृप्त कर दे, पूर्ण शान्ति प्रदान कर दे। उसकी यह कामना, यह भूख ही उसे आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति के लिए अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। एमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स मानव की इस आध्यात्मिक भूख को 'Divine More' की संज्ञा देते हैं और वह भी धर्म का लक्ष्य आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति ही मानते हैं।

दर्शन और धर्म का सम्बन्ध

(Relation of Philosophy and Religion)

दर्शन और धर्म के पारस्परिक सम्वन्ध की विवेचना करने के लिए हम पहिले इन दोनों का अन्तर स्पष्ट करेंगे और तदुपरान्त दोनों की निकटता।

दर्शन और धर्म में अन्तर

1. उद्देश्य (Aim)

दर्शन सम्पूर्ण विश्व के विषय में एक युक्ति-संगत धारणा की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। उसका उद्देश्य है विश्व की सामान्य रचना की खोज-बीनी करना और यह जानना कि विश्व में मानव का क्या स्थान है। धर्म भी यद्यपि दर्शन के सदृश विश्व के स्वरूप को समझने का प्रयास करता है और इस समस्या पर विचार करता है कि मनुष्य क्या है, तथापि उसका मूलभूत उद्देश्य है विश्व के सर्वोपरि मूल्यों को प्राप्त करना। यह बात ठीक है कि अनेक समस्यायें जैसे कि आत्मा का स्वरूप एवं उसकी अमरता, ईश्वर का स्वरूप, आत्मा का ईश्वर से सम्बन्ध, मानवीय जीवन का चरम लक्ष्य, आदि आदि — दर्शन और धर्म दोनों की समस्यायें हैं, परन्तु जहाँ दर्शन बौद्धिक रूप से इन समस्याओं पर विचार करके सैद्धान्तिक निष्कर्षों (Theoretical results) पर पहुँचने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझता है, वहाँ धर्म ऐसा कदापि नहीं मानता। धर्म अपने ढंग से इन समस्याओं का समाधान तो अवश्य खोजता है, परन्तु साथ ही उन समाधानों के अनुसार जीवन ढालने का व्यावहारिक सन्देश भी प्रदान करता है। इसी तथ्य का अनुमोदन पैट्रिक महोदय ने भी किया है। उनका कथन है कि "Religion is not concerned so much (as philosophy is) with the knowledge of God, for instance, as it is with the gaining of God's favour or the coming into friendly and harmonious relations with them." [अर्थात् "धर्म का सम्बन्ध, (जैसा कि दर्शन का है) उदाहरण के रूप में, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने से

उतना नहीं जितना कि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने या ईश्वर के साथ मैत्री एवं समस्वरता स्थापित करने से है" ।]

2. विधि (Method)

दर्शन अपने निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए सामान्य प्रत्यक्ष तथा तार्किक विचार की विधि ग्रहण करता है । इससे भिन्न धर्म श्रद्धा, भक्ति, शास्त्र परम्परा, तथा अपरोक्ष अनुभूति (Direct realization) की विधि अपनाता है । दर्शन विश्व एवं जीवन पर बौद्धिक रूप से विचार करता है और शंका तथा तर्क का सहारा ले समस्याओं का हल ज्ञात करने के लिए प्रयास करता है । परन्तु धर्म की वृत्ति रागात्मक (Emotional) है और उसमें भावना की प्रधानता होती है। धार्मिक व्यक्ति अपने धार्मिक सत्यों (Religious truths) की प्राप्ति के हेतु ईश्वर-प्रार्थना, पूजा एवं अर्चना का सहारा लेता है । वह दार्शनिक विचारक के सदृश आत्मा एवं परमात्मा के प्रमाणों (Proofs) की आलोचना करने का प्रयास नहीं करता; उसके लिए ये विषय अपरोक्ष अनुभूति के विषय होते हैं । वह तो विश्व के परम सत्य (Supreme Reality) के साथ तादात्म्य (Identity) स्थापित कर उसमें एकरसता का आनन्द लूटना ही अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य समझता है ।

3. स्वभाव (Character)

दर्शन का स्वभाव व्यक्तिगत होता है परन्तु धर्म का सामाजिक । पश्चिमी देशों में प्रायः दर्शन व्यक्तियों की स्वकीय विचारधाराओं तक ही सीमित रहा है; वह समाज की निधि न बनकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की निधि बनकर ही रह गया है । अधिकतर यही देखा गया है कि सामाजिक जीवन एवं विचार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा है । इसके विपरीत धर्म ने सदैव सामाजिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है । सभी स्थानों पर तथा सभी समयों में लाखों करोड़ों व्यक्तियों ने अपने विचार तथा भावनायें निर्माण करने का प्रयत्न किया है । देखा ही जाता है कि प्रायः सभी धर्मों में अनेक ऐसे धर्मकार्य एवं उत्सव हैं जो सामूहिक रूप से मनाये जाते हैं । धर्म के सामाजिक रूप एवं स्वभाव को व्यक्त करते हुए प्रो० पैट्रिक जिनके शब्द अभी ऊपर दर्शन और धर्म के उद्देश्य के सम्बन्ध में भी उद्धृत किये गये हैं, कहते हैं **"Religion, in its real meaning, is the emotional expression of the collective spirit of the group and has its purpose in cementing the group into a closer, more effective union."** (अर्थात् "धर्म, अपने वास्तविक अर्थ में, एक समूह की सामूहिक आत्मा की भावात्मक अभिव्यक्ति है और उसका उद्देश्य है इस समूह को एक अधिक घनिष्ट एवं प्रभावकारी संघ के रूप में संश्लेषित करना" ।) ।

दर्शन तथा धर्म में स्वाभाविक निकटता

1. दर्शन धर्म की बौद्धिक पृष्ठभूमि है

प्रत्येक धर्म में ईश्वर, जीव एवं जगत् के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ धारणायें होती हैं। इन धारणाओं का आधार ऋषियों महात्माओं तथा पैगम्बरों की अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ (Supersensuous experiences) हुआ करती हैं और साधारण जनता उनमें विश्वास रखती है। दर्शन का कार्य धर्म की इन धारणाओं की बौद्धिक पृष्ठभूमि खोजना है। दर्शन यह समझता है कि जब तक धर्म की मूलभूत मान्यताओं की तर्कपूर्ण व्याख्या वह सबके सम्मुख प्रस्तुत नहीं करेगा, तब तक वे मान्यतायें सामान्य बुद्धि के लोगों को सर्वथा असंदिग्ध रूप में ग्राह्य नहीं होंगी। वह अपने इस कार्य को बड़े ही निष्पक्ष रूप से करता है। वास्तविकता यह है कि दर्शन की इस संतुलित एवं स्वतन्त्र वैचारिक पद्धति में ही दर्शन तथा धर्म दोनों की उन्नति एवं विकास निहित हैं। कुछ धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को यह भय होता है कि कहीं दर्शन अपनी तीक्ष्ण आलोचनाओं से धर्म की मूल धारणाओं--ईश्वर, जीव, जगत् तथा आध्यात्मिक मूल्यों में आस्थाओं पर ही कुठाराघात करके उन्हें नष्ट भ्रष्ट न कर दे। अतः, ये लोग धर्म की दार्शनिक समीक्षा के विरुद्ध हैं। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर उनके इस भ्रम की शीघ्र ही निवृत्ति हो सकती है। महान् निबन्धकार एवं दार्शनिक सर फ्रान्सिस बैकन इस सन्दर्भ में बड़ा ही सुन्दर कहते हैं **"It is true that a little philosophy inclineth man's mind to atheism but depth in philosophy bringeth men's minds about religion."** (अर्थात् "यह सत्य है कि अल्प दार्शनिक ज्ञान व्यक्ति को अनीश्वरवाद की ओर प्रवृत्त करता है, परन्तु दार्शनिक गम्भीरता उसे धर्म में ही परिनिष्ठित करती है"।)।

2. धर्म दर्शन का व्यावहारिक रूप है

जिस प्रकार हमारे जीवन में विचारों तथा क्रियाओं में एक नैसर्गिक सम्बन्ध है, उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि दर्शन और धर्म में भी एक स्वाभाविक सम्बन्ध है। जिस प्रकार विचारों की उपादेयता तभी समझी जाती है जब वे हमारे व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित हों, उसी प्रकार दर्शन की सार्थकता तभी है जब वह हमारे जीवन का अंग बन जाएँ। दर्शन का व्यावहारिक जीवन में साकार हो जाना ही तो वस्तुतः धर्म कहलाता है, और दूसरी ओर जिसे हम धर्म का वैचारिक या बौद्धिक पक्ष कहते हैं वही तो दर्शन के नाम से पुकारा जाता है। दर्शन युक्ति एवं चिन्तन द्वारा जीवन, जगत् तथा ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को समझने की चेष्टा करता है और आध्यात्मिक मूल्यों की गवेषणा कर उनकी व्याख्या करता है। परन्तु ये दार्शनिक तथ्य निर्मूल्य हो जाते हैं यदि वे हमारे जीवन को प्रभावित नहीं करते।

अत एव धर्म उन दार्शनिक तथ्यों को जीवन में साकार कर उन्हें सार्थक कर देता है। दार्शनिक जिस तत्व का बुद्धि से ज्ञान करता है धार्मिक व्यक्ति उसी तत्व की अपरोक्ष अनुभूति करता है। उसी प्रसंग में बाह्म महोदय(Mr. Bahm) कहते हैं, "Philosophy seeks a unified view of the world, while religion seeks unity with the world." (अर्थात् "दर्शन संसार की एकीकृत दृष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है जबकि धर्म संसार के साथ एकता प्राप्त करने का"।)।

दर्शन एवं धर्म के उपर्युक्त निकट सम्बन्ध को भारतीय मनीषियों ने बहुत ही अच्छी प्रकार पहचाना था। इसी हेतु यहाँ सदैव दर्शन और धर्म का एक अविच्छेद्य सम्बन्ध (inseparable relation) रहा है। यहाँ प्रत्येक दर्शन जैसे कि शाङ्कर दर्शन, रामानुज दर्शन, वल्लभ दर्शन, मध्व दर्शन आदि से सम्बन्धित एक-एक धर्म-सम्प्रदाय रहा है जिसके अन्तर्गत लाखों करोड़ों व्यक्तियों ने उस उस दर्शन के मूल सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन यापन करना ही अपना परम कर्त्तव्य समझा है। उदाहरण के रूप में हम देखते हैं कि शंकर, रामानुज, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि दर्शनिकों के जो जीवन दर्शन हैं वे केवल इन इने-गिने दार्शनिकों तथा इनके कतिपय विचारक शिष्यों तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् इन (दर्शनों) से सम्बन्धित उसी-उसी नाम से धर्म-सम्प्रदाय भी विद्यमान हैं, जिनके अन्तर्गत लाखों करोड़ों जन–सामान्य तत् तत् सिद्धान्तों के अनुरूप अपनी व्यावहारिक साधना करते हैं और अपने जीवन को उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार ढालने का प्रयास करते हैं।

विभिन्न विश्व-विद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. दर्शन का जीवन से क्या सम्बन्ध है ?
How is philosophy related to science ?

2. दर्शन क्या है ? विज्ञान, धर्म और दर्शन में क्या सम्बन्ध है, स्पष्ट कीजिये ।
What is philosophy ? Bring out the relation between science, religion and philosophy.

3. दर्शन और धर्म में क्या सम्बन्ध है ? क्या यह कहना उचित है कि जहाँ दर्शन का अन्त है वहाँ धर्म का प्रारम्भ है ?
What is the relation between philosophy and religion ? May it be said that religion begins where philosophy ends ?

4. दर्शन और धर्म का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? बताइये किस प्रकार धर्म दर्शन की कमियों को पूरा करता है ।
What is the relation between Philosophy and Religion ? Show how Religion removes the shortcomings of Philosophy.

चतुर्थ अध्याय

विकास के सिद्धान्त

(Theories of Evolution)

पाश्चात्य दर्शन की परम्परा में, जैसा कि हमने द्वितीय अध्याय में इंगित किया था, दर्शन की समस्याओं का आरम्भ विश्वमीमांसीय समस्याओं से होता है। सृष्टि की उत्पत्ति या विकास की समस्यायें क्योंकि विश्वमीमांसीय समस्याओं के ही अन्तर्गत हैं, अतः हम इन्हीं समस्याओं से विचार प्रारम्भ कर रहे हैं।

मनुष्य अनादि काल से ही इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करता आया है कि अनेक प्रकार की विविधताओं से परिपूर्ण जिस विश्व को आज हम देख रहे हैं क्या सदा से इसका यही रूप था, अथवा बहुत से परिवर्तनों में होता हुआ यह अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ है? आधुनिक विज्ञान की विभिन्न प्रकार की गवेषणाओं से पूर्व साधारण मानव का यह विश्वास था कि विश्व का निर्माण ईश्वर ने उसी रूप में किया था जिस रूप में आज वह हमें दृष्ट हो रहा है। यूरोप के लोग, जो प्रायः ईसाई धर्म के अनुयायी थे, यह मानते थे कि हजरत ईसा से लगभग चार हजार (4000) वर्ष पूर्व परमात्मा ने सोमवार से शनिवार तक छः दिन की अवधि में सृष्टि की रचना की थी। साथ ही साथ उनकी यह भी मान्यता थी कि अनेक प्रकार के जीव जन्तुओं की जो विभिन्न जातियाँ आज हम देखते हैं उन सभी की रचना ईश्वर द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ से ही की गई थी। उस आरम्भिक रचना के पश्चात् विश्व में न तो किसी जाति का विनाश हुआ और न ही किसी नवीन जाति का प्रादुर्भाव।

अठारहवीं शताब्दी में जब विज्ञान के क्षेत्र में विविध प्रकार की खोजों का वेग बढ़ा तो ईसाई धर्म की उपर्युक्त मान्यताओं को भारी ठेस लगी। वैज्ञानिकों एवं विज्ञान-वेत्ताओं ने यह विचार प्रदर्शित किया कि संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील दृष्टिगोचर होती है। एक वस्तु कुछ समय पूर्व जिस स्थिति में थी उस स्थिति में आज वह नहीं है, और वह जिस स्थिति में आज है कुछ समय पश्चात् उस स्थिति में

कदापि नहीं रहेगी। अतः यह कैसे माना जा सकता है कि संसार का जो रूप अब से कई हजार वर्ष पूर्व था वही बिना किसी परिवर्तन के ज्यों का त्यों आज भी वर्तमान है। तब स्वाभाविक रूप से वैज्ञानिकों को यह घोषणा करनी पड़ी कि विश्व का क्रमेण विकास हुआ है। उन्होंने यह बताया कि विश्व की सभी घटनाओं तथा पदार्थों में एक सातत्य (Continuity) और अनुक्रम (Sequence) है और उसी सातत्य और अनुक्रम के साथ वे धीरे धीरे अपना रूप परिवर्तित करते जाते हैं। विश्व के इसी धीरे-धीरे सातत्य एवं अनुक्रम के साथ परिवर्तन होने की क्रिया का नाम उनके द्वारा 'विकास' दिया गया।

विकास की परिभाषा (Definition of Evolution)

विख्यात फ्रांसीसी दार्शनिक लॉयड मॉर्गन विकास की परिभाषा करते हुए कहते हैं, "Evolution is the name we give to the comprehensive plan of sequence in all natural events." (अर्थात् "प्राकृतिक घटनाओं के अनुक्रम की व्यापक योजना को हम विकास की संज्ञा देते हैं"।)। इस प्रकार उनके अनुसार 'विकास' का तात्पर्य प्राकृतिक घटनाओं में क्रम की योजना से है। हर्बर्ट स्पेन्सर का मत है कि विकास की प्रक्रिया सदा सरल रूप से जटिल रूप की ओर, सजातीयता[1] से विजातीयता[2] की ओर तथा अनिश्चित एवं असंसक्त स्थिति (Uncertain and Incoherent state) से निश्चित एवं संसक्त स्थिति (Certain and Coherent state) की ओर प्रवाहित हुआ करती है। उनके अनुसार सभी विकास क्रियाओं में कुछ सामान्य विशेषतायें होती हैं जो इस प्रकार हैं –(1) केन्द्रीकरण या संगठन (Concentration or Integration), (2) विभेदीकरण (Differentiation) तथा (3) निश्चयीकरण (Determination)। प्रो॰ पैट्रिक 'विकास' का सर्व-साधारण लक्षण बताते हुए कहते हैं कि वस्तुओं का शनैः शनैः तथा क्रमशः परिवर्तित होना ही विकास है[3]। कौंगर महोदय (Mr. Conger) का कथन है कि विकास-प्रक्रिया निम्न चार मूलभूत धारणाओं (Fundamental notions) की ओर इंगित करती है: (1) समय में परिवर्तन (Change in time), (2) क्रम नियम (Serial order), (3) अन्तर्निहित कारण Inherent causes) तथा (4) सृजनात्मक संश्लेषण (Creative Synthesis)

विकास की महत्ता (Importance of Evolution)

वर्तमान युग में यदि हम ज्ञान के विभिन्न क्षत्रों पर दृष्टिपात करें तो हमें विदित होगा कि ज्ञान की कोई ऐसी शाखा अवशिष्ट नहीं रह गई है

1. Homogeneity
2. Heterogeneity
3. Introduction to Philosophy', Page 120

जिस पर विकास के सिद्धान्त की गहरी छाप न पड़ी हो। किसी भी वस्तु का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए आज यह आवश्यक हो गया है कि हम उसकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानें और यह खोज करें कि उसे अपना वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने के लिए विकास के कौन-कौन सोपानों में होकर गुजरना पड़ा है। विकासवाद के सिद्धान्त की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए पैट्रिक महोदय कहते हैं कि एक बड़े विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उन्होंने अकेले इस विषय पर आठ सौ कार्ड देखे । उनका विचार है कि अन्य किसी एक ही विषय पर कार्डों की इतनी बड़ी संख्या होना बहुत अधिक संदिग्ध है।

विकासवाद के भेद

विकासवाद के अनेक प्रकार-भेद हैं जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं :—

(1) **विश्व-विकास** (Cosmic or General Evolution)– इसमें सूर्य, चन्द्र, मंगल (Mars), बृहस्पति (Jupiter), शुक्र (Venus), पृथिवी आदि ग्रहों, उपग्रहों एवं नक्षत्रों के विकास के विषय में विचार किया जाता है।

(2) **पृथिवी विकास** (Terrestrial Evolution) — इसके अन्तर्गत पृथिवी में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है।

(3) **भूगर्भ विकास** (Geological Evolution)—इसमें भूगर्भ में होने वाले अनेक प्रकार के परिवर्तनों पर विचार किया जाता है।

(4) **जीव-विकास** (Organic or Biological Evolution) — इसमें विभिन्न श्रेणी के जीवों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है कि उनका धीरे-धीरे किस प्रकार विकास हुआ है।

(5) **मानव विकास** (Human Evolution)– इसके अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि मानव समाज में धर्म, कला, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता आदि का क्रमेण कैसे विकास हुआ है।

विकासवादी दार्शनिकों का वर्गीकरण

विकास के सिद्धान्त का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि विकास क्यों होता है ? विकास होने में क्या कोई प्रयोजन निहित रहता है ? अथवा यह यांत्रिक क्रिया के सदृश सर्वथा प्रयोजनरहित होता है ? कुछ दार्शनिक सप्रयोजन विकास (Teleological evolution) का समर्थन करते हैं और कुछ यांत्रिक विकास (Machanical evolution) का। प्रथम वर्ग में लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan) सैमुएल अलेक्जैण्डर (Samuel Alexander), बर्गसों (Bergson), व्हाइटहैड (Whitehead) आदि सम्मिलित हैं, और दूसरे वर्ग में लाप्लास (Laplace), हर्बर्ट स्पैन्सर (Herbert Spencer), लैमार्क (Lamarck), डार्विन (Darwin), वीजमैन (Weismann) आदि के नाम आते हैं। यहाँ हम केवल कुछ ही विकासवादी दार्शनिकों के सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे।

हर्बर्ट स्पैन्सर का विश्व-विकास का सिद्धान्त

(Theory of Cosmic Evolution of Herbert Spencer)

1. परम तत्व के तीन प्रकार

पश्चिमी दर्शन के इतिहास में विश्व-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्व-प्रथम लाप्लास (Laplace) और हर्बर्ट स्पैन्सर (Herbert Spencer) ने किया था। इन दोनों में हर्बर्ट स्पैन्सर का नाम अधिक विख्यात है। हर्बर्ट स्पैन्सर ने अपने ग्रन्थ 'First Principles' में विश्व-विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि विकास की एक महती प्रक्रिया है। पुद्गल (Matter), गति (Motion) तथा शक्ति (Force) ये तीन इस विकास-प्रक्रिया की विषय-सामग्री हैं। वह बताते हैं कि हमें इन तीनों को अन्तिम सत्तायें (ultimate realities) नहीं समझ लेना चाहिये; ये परम तत्व (Absolute) के प्रकार (modes) मात्र हैं। ये हमारे ज्ञान की सीमायें मात्र हैं। परम तत्व ही सृष्टि का आदि कारण है और वह अनन्त तत्व है, किन्तु यह एक अज्ञेय (Unknowable) तत्व है। हमारा ज्ञान केवल इस अज्ञेय तत्व के प्रकारों तक सीमित रहता है, उसके आगे उसकी पहुँच नहीं है।[1] स्पैन्सर का मत है कि यह विश्व पुद्गल, गति एवं शक्ति के पुनर्विभाजन (Redistribution) का परिणाम है, अर्थात् इन तीनों से ही धीरे-धीरे इसका विकास हुआ है।

2. ग्रहों तथा उपग्रहों का विकास

हर्बर्ट स्पैन्सर (जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है) कहते हैं कि विकास में सदैव संगठन, विभेदीकरण एवं निश्चयीकरण की क्रियायें कार्य करती हैं, और उन्हीं के फलस्वरूप विकास-क्रिया आगे बढ़ती है। वह बताते हैं कि प्रारम्भ में पुद्गल या जड़-द्रव्य वायव्य (gassious) रूप में एकरस स्थिति (homogenous state) में विद्यमान था। जड़ द्रव्य के उस रूप को नीहारिकायें (nebulae) अथवा मेघ-रेणु (cloud dust) का रूप भी कहा जा सकता है। उसके अवयव गगनमण्डल में फैले तथा बिखरे हुए थे और उसमें संसक्तता (coherence) का अभाव था। ये अवयव या परमाणु भारी हलचल (Commotion) की अवस्था में थे। तब जिस गति की तीव्रता के कारण ये अवयव फैले हुए तथा बिखरे हुए थे समय बीतने के साथ उसका शनैः शनैः ह्रास होने लगा और गति के इस ह्रास के साथ ये अपने 'सर्वाधिक घनत्व के केन्द्र' (centre of the greatest density) के समीप घनीभूत (Condensed) होने लगे। घनीभूत होने की

1. ज्ञातव्य है कि स्पैन्सर ज्ञान की सापेक्षता (Relativity of Knowledge) के सिद्धान्त के समर्थक थे।

प्रक्रिया में ये अवयव उस केन्द्र के चारों ओर चक्कर लगाने लगे। ज्यों-ज्यों घनत्व बढ़ता गया त्यों-त्यों घनीभूत 'अवयव-समुदायों' के चक्कर लगाने की गति भी बढ़ती गई। इस प्रक्रिया में घनीभूत छोटे-छोटे अवयव-समुदाय या मेघ प्रमुख मेघ से पृथक हो गये। पृथक् हुए समुदाय अपने केन्द्रीय समुदाय (central mass) के चारों ओर चक्कर लगाते रहे और साथ ही साथ अपने में ही विद्यमान घनत्व केन्द्रों (centres of density) पर भी घूमते रहे। ये ग्रहों (Planets) के नाम से अंकित हुए और प्रमुख या केन्द्रीय समुदाय सूर्य के नाम से। छोटे समुदायों अर्थात् ग्रहों के घनीभूत होने की क्रिया तब भी चलती रही। अब पुन: उनसे कुछ और अधिक छोटे समुदाय पृथक् हो गये जो उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा उपग्रह (satellites) बन गये। इन ग्रहों एवं उपग्रहों में हमारी पृथ्वी भी एक थी। क्रमश: कुछ भौतिक नियमों के द्वारा पृथ्वी पर जल, वायु आदि की उत्पत्ति हुई, और उसके पश्चात् धीरे-धीरे इस (पृथ्वी) के ठंडा हो जाने पर इस पर जीवन का उदय हुआ।

3. जीवन का विकास

स्पैन्सर ने 'Principles of Biology' नामक ग्रंथ में जीव-विकास के सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की है। जीवन की परिभाषा करते हुए वह कहते हैं, "Life is the continuous adjustment of internal relations to external relations." अर्थात् बाह्य पर्यावरण की भौतिक शक्तियों के साथ अन्तरंग जीवन-शक्तियों (Vital forces) के सामंजस्य स्थापित करने के सतत प्रयास को ही जीवन कहते हैं। उनका मत है कि जीव-विकास के क्षेत्र में भी सदैव संगठन, विभेदीकरण एवं निश्चयीकरण की क्रियायें चलती रहीं और उन्हीं के द्वारा विकास क्रम आगे बढ़ा। प्रारम्भ में जीव-द्रव्य (Protoplasm) एकरस (homogenous) रूप में था। इस जीव-द्रव्य से 'एमीबा' (Amoeba) नाम की प्रथम जीव-योनि की उत्पत्ति हुई। एमीबा के शरीर में भिन्न-भिन्न इंद्रियों तथा अंगों का नितांत अभाव था। वह चलने, फिरने, छूने आदि की सभी क्रियायें अपने समग्र शरीर से ही किया करता था। विभेदीकरण या पृथक्करण की क्रिया के प्रभाव से उसमें धीरे-धीरे भिन्न भिन्न कार्य करने के लिए भिन्न भिन्न अंगों का विकास हुआ। देखने के लिए नेत्र, सुनने के लिये कान, सूँघने के लिए नासिका, स्वाद लेने के लिए जिह्वा, पकड़ने के लिए हाथ, चलने के लिए पैर और इसी प्रकार अन्य अंग-प्रत्यंगों का उद्भव[1] हुआ। जहाँ तक विभिन्न जीव-योनियों की उत्पत्ति का सम्बन्ध है स्पैन्सर ने केवल कुछ परिवर्तनों के साथ प्राय: डार्विन एवं लैमार्क के सभी सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया।

1, Origin.

4. मनस् या चेतना का विकास

अपने ग्रंथ 'Principles of Psychology' में हर्बर्ट स्पैन्सर मनस् के विकास के विषय में विवेचना करते हैं। उनका कथन है कि विकास के नियमों के अनुसार इस स्तर पर भी पर्यावरण की अधिकाधिक जटिल अवस्थाओं के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए जीव-धारियों में अधिकाधिक जटिल मानसिक वृत्तियों का शनैः शनैः विकास हुआ। सरल संवेदनाओं से जटिल बौद्धिक वृत्तियाँ उद्भुत हुयीं, सरल भावों (feelings) से जटिल संवेगों (emotions) का विकास हुआ और सरल सहज क्रियाओं (reflex actions) से जटिल ऐच्छिक क्रियाओं (voluntary actions) का अविर्भाव हुआ।

5. समाज का विकास

हर्बर्ट स्पैन्सर कहते हैं कि सामाजिक विकास के क्षेत्र में भी संगठन, विभेदीकरण एवं निश्चयीकरण की क्रियायें ही विकास-प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। सर्वप्रथम अनेक परिवार संगठित होकर समाज का निर्माण करते हैं। तब श्रम-विभाजन के नियम के आधार पर समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित हो जाता है और वे वर्ग किसान, मजदूर, बढ़ई, सुनार, लुहार आदि के भिन्न-भिन्न व्यवसाय अपना लेते हैं। यह देखा जाता है कि आजकल भी समाज श्रम विशेषज्ञता की ओर अग्रसर हो रहा है और भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग अपने अपने व्यवसायों में विशेष योग्यता प्राप्त करते जा रहे हैं।

6. यांत्रिक विकास का सिद्धान्त

स्पैन्सर यह स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि उनका विकास का सिद्धान्त पूर्ण रूप से यांत्रिक सिद्धान्त है सप्रयोजन नहीं। अर्थात् विकास के विभिन्न सोपानों की समस्त प्रक्रियायें विश्व के यांत्रिक भौतिक नियमों (जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है) के अनुरूप चलती रहती हैं। विश्व-विकास के किसी भी क्षेत्र में और किसी भी स्तर पर किसी अज्ञात एवं अदृष्ट शक्ति, जिसे ईश्वर की संज्ञा दी जाती है, की कोई योजना नहीं है जिसकी पूर्ति विकास-क्रम के द्वारा की जा रही हो। विश्व में सब कुछ निरुद्देश्य रूप से यंत्रवत् घटित हो रहा है।

आलोचना

(1) हर्बर्ट स्पैन्सर ने अपने विकास के सिद्धान्त में विकास-क्रम की नींव में कुछ ऐसी बातों को स्वीकार कर लिया है जिनका प्रमाण देने की वह कभी चेष्टा नहीं करते। ये बाते हैं — पुद्गल, गति तथा शक्ति का अस्तित्व, संगठन, विभेदीकरण तथा निश्चयीकरण के नियम और शक्ति रक्षण का नियम। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में पुद्गल, गति एवं शक्ति ही विद्यमान थे, उनके अतिरिक्त

और कुछ था ही नहीं — इसका कोई प्रमाण स्पैन्सर नहीं देते, और न ही यह सिद्ध करते हैं कि उस अवस्था में पुद्गल क्यों वायव्य रूप में था। पुनः स्पैन्सर इस बात को भी प्रमाणित नहीं करते कि गति का ह्रास क्यों हुआ और वायव्य पुद्गल के अवयवों का संगठन किन कारणों से हुआ ? इस प्रकार प्रतीत यह होता है कि स्पैन्सर ने अपने मत के प्रतिपादन में कल्पना की उड़ानों से काम लिया है तर्क से नहीं, जो सर्वथा अवैज्ञानिक एवं अदार्शनिक है।

(2) स्पेन्सर ने कहा है कि गति के ह्रास के कारण फैला हुआ वायव्य पुद्गल घनीभूत हुआ। परन्तु गति का ह्रास विश्व के एक भाग में तो सम्भव है, समग्र विश्व में नहीं; क्योंकि शक्ति-रक्षण का नियम गति के सम्पूर्ण ह्रास का निषेध करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि स्पैन्सर का विकासवाद विश्व के केवल एक सीमित भाग की व्याख्या करने में भले ही समर्थ हो जाय, किन्तु समग्र विश्व की व्याख्या में यह सर्वथा अशक्त सिद्ध होगा।

(3) इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि पुद्गल प्रारम्भ में एकरस अवस्था में था। धीरे-धीरे इसमें विभेदीकरण या विगठन की क्रिया का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके फलस्वरूप ग्रहों तथा उपग्रहों का विकास हुआ। सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि सरल एवं एकरस वस्तुओं में विगठन की क्रिया कम होती है और जटिल वस्तुओं में अधिक। इसी कारण प्रथम प्रकार की वस्तुएँ (जैसे कि चट्टानें तथा पहाड़ियाँ) द्वितीय प्रकार की वस्तुओं (जैसे कि पौधों तथा जन्तुओं) की अपेक्षा अधिक स्थिर (stable) एवं स्थायी (permanent) होती हैं। तब यह समझ में नहीं आता कि सरल एवं एकरस पुद्गल में विगठन की क्रिया का आरम्भ कैसे हो गया।

(4) हर्बर्ट स्पैन्सर कहते हैं कि निर्जीव पुद्गल से जीवन की उत्पत्ति हुई है। और उसके अनन्तर वह यँह प्रतिपादित करते हैं कि मनस् या चेतना भी पुद्गल का ही एक अधिक विकसित रूप है। उनकी ये मान्यतायें न तो साधारण अनुभव पर आधारित हैं और न ही विज्ञान की खोजों पर।[1]

(5) अपने विकास के सिद्धान्त को स्पैन्सर ने यान्त्रिक घोषित किया है। संसार में प्रायः सभी स्थलों पर जो व्यवस्था, सामजञ्स्य एवं सुन्दरता दृष्ट होती है उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सृष्टि की रचना यान्त्रिक कदापि नहीं, वरन् सप्रयोजन है, और उसके विकास-क्रम में किसी परम बौद्धिक सत्ता का हाथ अवश्य है।

(6) स्पैन्सर पुद्गल, गति एवं शक्ति को एक अज्ञात परमसत्ता (Unknowable) के प्रकार (modes) मानते हैं। इस 'अज्ञात' सत्ता के 'अ' पर वह बहुत बल देते हैं। प्रश्न उपस्थित होता है कि जब यह सत्ता 'अज्ञात' है तो यह कैसे कहा

1. इस विषय का विस्तार सप्तम अध्याय में किया गया है।

जा सकता है कि यह पुद्‌गल, गति तथा शक्ति का कारण है, और फिर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विविध पदार्थों को भी इसी से प्रादुर्भूत हुए कैसे माना जा सकता है ?

जीव-विकास का सिद्धान्त

(Theory of Organic or Biological Evolution)

जीव विकास के सिद्धान्त दो प्रकार के हैं :—

(1) यान्त्रिक सिद्धान्त (Machanistic Theories)

(2) जैविक सिद्धान्त (Vitalistic Theories)

1. यान्त्रिक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार जड़-तत्व और जीव में कोई गुणात्मक भेद नहीं हैं केवल परिमाणात्मक भेद हैं। संसार के सभी जीवों की उत्पत्ति गतिशील परमाणुओं से हुई है। जड़-तत्व और जीव-तत्व में केवल इतना ही भेद है कि परमाणुओं की गणना एवं व्यवस्था एक में दूसरे से भिन्न है। वास्तविकता यह है कि जीव जड़ पदार्थ का ही एक जटिल रूप है अथवा यों कह सकते हैं कि उस (जड़ पदार्थ) का ही एक उत्कृष्ट रूप है। जीव में जड़-तत्व से भिन्न कोई विलक्षण शक्ति नहीं है, वह जड़ पदार्थ की ही एक आनुषंगिक उत्पत्ति (Bye–product) है जो विकास-क्रम में स्वतः स्फुरित हो जाती है। हमारी भावनायें, संकल्प तथा विचार भी जड़ परमाणुओं के जटिलतम रूपान्तर मात्र हैं अन्य कुछ नहीं।

2. जैविक सिद्धान्त

यह सिद्धान्त यान्त्रिक सिद्धान्त से पूर्णतया भिन्न है। इसकी मान्यता है कि जड़-तत्व या पुद्‌गल से जीव-तत्व की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं है। जड़-तत्व और जीव-तत्व में गुणात्मक भेद हैं; प्रत्येक जीव में एक प्राण शक्ति (Vital principle) होती है जो मौलिक रूप से ही जड़ पदार्थ से भिन्न है। वर्तमान काल में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जर्मनी के विख्यात जीव-वैज्ञानिक हैन्स ड्रीस (Hans Driesch) ने किया है। उन्होंने जीव-शक्ति को अन्तस्तत्त्व (Entelechy) तथा चित्तकल्प (phychoid) की संज्ञायें प्रदान की हैं। वह अन्तस्तत्त्व अथवा चित्तकल्प को भौतिक तथा रासायनिक पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानते, वरन् एक नवीन शक्ति या तत्व मानते हैं जो मानसिक शक्ति के सदृश है। इसकी क्रियायें यान्त्रिक शक्तियों से पूर्णतया स्वतन्त्र होती हैं और इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि करने की क्षमता होती है।

अब हम जीव विकास के दो प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे : (1) लैमार्क (Lamarck) का सिद्धान्त तथा (2) डार्विन (Darwin) का

सिद्धान्त। लैमार्क का सिद्धान्त जीव–विकास के जैविक सिद्धान्तों के अन्तर्गत आता हैं और डार्विन का सिद्धान्त यान्त्रिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत।

लैमार्क का सिद्धान्त

(Theory of Lamarck)

विकासवाद के इतिहास का अध्ययन करने से विदित होता है कि जीव-विकास का सिद्धान्त एक अति प्राचीन सिद्धान्त है। पश्चिमी जगत् में इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम यूनान के महान् दार्शनिक अरस्तु ने किया था। तत्पश्चात् रोमन कवि ल्यूक्रिश्यस (Lucretius) ने भी अपनी रचनाओं में इसका विशद विवेचन किया। आधुनिक काल में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में चार्ल्स डार्विन के पितामह इरैस्मस डार्विन (Erasmus Darwin) ने इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया। उन्होंने आनुवंशिकता (Heredity) तथा पर्यावरण (Environment) की अन्तर्क्रिया के आधार को लेकर विकास-प्रक्रिया को समझाने की चेष्टा की। किन्तु इतना सब होते हुए भी यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि फ्रान्सीसी जीववैज्ञानिक लैमार्क ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विकास के सिद्धान्त को प्रथम बार वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। लैमार्क ने जीव विज्ञान पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की थी, अत: विद्वानों तथा विचारकों द्वारा उनके विकास के सिद्धान्त को बड़ी महत्ता दी गई। उन्होंने अपने सिद्धान्त में इस समस्या का समाधान करने की चेष्टा की कि विभिन्न पीढ़ियों में जीवों में विशेष परिवर्तन कैसे और क्यों हो जाते हैं, और धीरे-धीरे सहस्रों वर्षों में नवीन जीव-जातियों का विकास कैसे हो जाता है।

लैमार्क के विकास-वाद की निम्नलिखित चार प्रमुख विशेषतायें हैं :—

(1) वातावरण का प्रभाव (Influence of environment)
(2) शारीरिक आवश्यकतायें (Bodily needs)
(3) उपयोग तथा अनुपयोग (Use and Disuse)
(4) अर्जित परिवर्तनों या लक्षणों का उत्तराधिकार (Inheritance of acquired characters)

अब हम क्रमेण इन चारों विशेषताओं की व्याख्या करेंगे—

(1) **वातावरण का प्रभाव** (Influence of environment)

लैमार्क कहते हैं कि बाह्य वातावरण तथा उसकी परिवर्तनशील परिस्थितियों द्वारा जीवों के शरीर पर कुछ प्रभाव पड़ते हैं। इन प्रभावों की प्रतिक्रियाओं के लिए इन (जीवों) में कुछ आवश्यकतायें या इच्छायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(2) **शारीरिक आवश्यकतायें** (Bodily needs)

लैमार्क का मत है कि वातावरण की परिवर्तित होती हुयी परिस्थितियों के प्रयोग

से जीवों में जो आवश्यकतायें उत्पन्न होती हैं वही कालान्तर में उन जीवों में नये-नये शारीरिक अंगों को जन्म देती हैं। उदाहरण के रूप में प्रारम्भ में जीवों के शरीरों में एकरूपता थी अर्थात् उनमें हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि अंग-प्रत्यंगों का पूर्ण अभाव था। समय की गति के साथ परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार परिवर्तित हुयीं कि उन्हें (जीवों को) अपनी जीवन रक्षा के लिए एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता की अनुभूति हुई। इस आवश्यकता के फलस्वरूप उनमें पैरों का विकास हुआ और वे इस योग्य हो गए कि अपनी सुरक्षा के लिए स्थान बदल सकें। पैरों के सदृश ही जीवों में दूसरे अंगों का भी विकास हुआ। जैसे कि शब्द की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कानों की उत्पत्ति हुई, प्रकाश की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नेत्रों का प्रादुर्भाव हुआ और गन्ध की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नासिका का विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि लैमार्क के सिद्धान्त में (डार्विन के विकासवाद के सर्वथा विपरीत) पहिले अंग और पीछे क्रियाओं का विकास नहीं होता, प्रत्युत पहिले क्रियाओं या क्रिया सम्बन्धी इच्छाओं का विकास होता है और तदुपरांत अंगों का प्रादुर्भाव होता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात उनके मत में यह है कि वह जीवों के विभिन्न अंगों के विकास को डार्विन के सदृश आकस्मिक नहीं मानते, प्रत्युत जीवों के आन्तरिक परिवर्तनों अर्थात् उनकी आवश्यकताओं पर आधारित मानते हैं। साथ ही साथ हमें यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पर्यावरण की परिस्थितियों के परिवर्तित होने के कारण जीवों के शरीरों में जो भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंगों की उत्पत्ति होती हैं उसे लेमार्क यान्त्रिक भी प्रतिपादित नहीं करते, क्योंकि वह, उक्त जीव-वैज्ञानिक (डार्विन) के समान, जीवों को यन्त्रों की श्रेणी में नहीं रखते। उनके अनुसार जीवों में एक सृजनात्मक शक्ति (vitality) होती है जो उन्हें नवीन नवीन शारीरिक परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित करती रहती है। जब बाह्य परिस्थितियों में कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं जिनका प्रभाव जीवों की अपनी सुरक्षा पर होता है तो यह शक्ति उनमें नई आवश्यकताओं को जन्म देती है और इन्हीं आवश्यकताओं के फलस्वरूप जीवों में नये नये अंगों की उत्पत्ति होती है।

3. **उपयोग तथा अनुपयोग** (Use and Disuse)

जब जीव की आवश्यकता से उसके शरीर में एक नये अंग का प्रादुर्भाव हो जाता है, तब स्वाभाविक रूप से वह उसका उपयोग करने लगता है और निरन्तर के उपयोग तथा अभ्यास से वह अंग और अधिक पुष्ट एवं सुदृढ़ हो जाता है। दूसरी ओर कई बार ऐसा भी होता है कि परिस्थितियों के परिवर्तन से किसी जीव को किसी एक अंग की आवश्यकता नहीं रहती, तब वह उसका उपयोग करना

1. डार्विन के सिद्धान्त की चर्चा हम इसी अध्याय में आगे करेंगे।

छोड़ देता है। और बहुत दिनों के इस प्रकार के सतत अनुपयोग से उस अंग विशेष के प्रति उस (जीव) की रुचि अर्थात् उस अंग को रखने की इच्छा-शक्ति ही समाप्त हो जाती है। इससे धीरे धीरे वह अंग क्षीण होने लगता है और कालान्तर में उसका पूर्णतया लोप हो जाता है। उदाहरण के रूप में समुद्र के कुछ जीव आरम्भ में शत्रुओं से स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए तह पर आ जाते थे और तह की घास में छिप जाते थे। इस कार्य में उन्हें अपने पैरों के कारण बड़ी बाधा होती थी। अत: उनमें पैरों की अनावश्यकता की अनुभूति होने लगी। इसके फलस्वरूप उनके पैर क्रमशः छोटे होने लगे और कुछ सहस्र वर्षों में पूर्णतया लुप्त हो गए। सर्प छिपकली, सालमंदर आदि ऐसे ही जीवों में सम्मिलित हैं।

4. **अर्जित परिवर्तनों या लक्षणों का उत्तराधिकार** (Inheritance of acquired Characters)

लैमार्क कहते हैं कि जीवों की आवश्यकता तथा उपयोग एवं अनुपयोग से होने वाले अर्जित शारीरिक परिवर्तन उत्तराधिकार के द्वारा आगामी पीढ़ियों में संक्रमित हो जाते हैं। उन आगामी पीढ़ियों में भी अपनी उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के कारण वे या तो अधिक विकसित एवं सुदृढ़ हो जाते हैं या क्षीण हो जाते हैं। यह क्रम निरन्तर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। कई पीढ़ियों के अनन्तर जब वे (परिवर्तन या परिवर्तित अंग) या तो पर्याप्त विकसित हो जाते हैं या पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं, तब नई नई जातियों का विकास होता है।

लैमार्क के जीव-विकास के सिद्धान्त को जिराफ (Girrafe) तथा बिल्ली आदि के दृष्टान्तों से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। जिराफ अफ्रीका के जंगलों में पाया जाने वाला घोड़े के सदृश एक पशु है जिसकी गर्दन बहुत लम्बी होती है। जिराफ के पूर्वजों की गर्दनें इतनी लम्बी नहीं थीं। भूख लगने पर वे अपनी गर्दन को ऊँचा कर वृक्षों की कोपलों को चबाया करते थे। जब वृक्ष के निचले भागों की कोपलें समाप्त हो जाती थी, तब उनके सम्मुख एक नवीन परिस्थिति उत्पन्न हो जाया करती थी। वे सोचने लगते थे कि अब अपनी क्षुधा कैसे शान्त करें ? तब उन्हें कुछ अधिक लम्बी गर्दन की आवश्यकता अनुभूत होने लगती थी। अत: वे अपनी गर्दन को अधिक से अधिक ऊँचा करने का प्रयत्न करते थे जिससे कि वृक्षों के ऊपरी भागों की पत्तियों को खा सकें। इस प्रकार उन (जिराफों) की आवश्यकता (या इच्छा) तथा सतत प्रयत्न (या अभ्यास) के कारण उनकी गर्दनें पहिले की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बी हो गयीं। तदुपरान्त उनके ये अर्जित परिवर्तन अर्थात् कुछ अधिक लम्बी गर्दनें उत्तराधिकार के नियम से आगामी पीढ़ी में संक्रमित हो गयीं। और इस प्रकार आगामी पीढ़ी के जिराफों

की गर्दनें जन्म से ही अपने पूर्वजों से थोड़ा कुछ और अधिक लम्बी हो गयीं। परन्तु, जिन कारणों से पहली पीढ़ी के जिराफों की गर्दनें कुछ गम्बी हो गई थीं वे कारण ज्यों के त्यों अब भी विद्यमान थे, अत: और आगामी पीढ़ी के जिराफों की गर्दनें पहिले से और भी अधिक लम्बी हो गयीं। यह क्रम निरन्तर चलता रहा और इस प्रकार सैकड़ों पीढ़ियों के पश्चात् जिराफों की गर्दनें धीरे-धीरे इतनी लम्बी हो गयीं जितनी आज हम उन्हें देखते हैं।

इसी प्रकार बिल्ली के पूर्वजों के पीछे के पैरों के नीचे आरम्भ में ऐसी कोई भी गद्दियाँ नहीं थीं जैसी कि आज हम देखते हैं। अत: जब बिल्ली शिकार को दौड़ती थी तब उसके पैरों की आवाज से वे जीव, जिनका शिकार करने का वह प्रयत्न करती थी, भाग जाते थे और बिल्ली को शिकार पकड़ने में कठिनाई होती थी। इस प्रकार भूखी रह जाने के कारण बिल्ली में इस कठिनाई पर काबू पाने की इच्छा हुई। इस इच्छा तथा आवश्यकता के परिणामस्वरूप धीरे धीरे उसके पीछे के पैरों के नीचे गद्दियों का विकास हुआ जिससे वह बिना कोई आवाज किए अपने पिछले पैरों के बल सरलता से शिकार पर टूट सके और शिकार को पकड़ कर अपना पेट भर सके।

समालोचना :

(1) लैमार्क के मतानुसार वातावरण की बदलती हुई परिस्थितियों के प्रभाव से जीवों में कुछ आवश्यकतायें या इच्छायें उत्पन्न हो जाती हैं और इन्हीं के फलस्वरूप उन (जीवों) में शारीरिक परिवर्तनों अर्थात् नए-नए अंगों का विकास होता है। इसका अभिप्राय यह है कि इस सिद्धान्त में जीवों की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं पर पर्याप्त बल दिया गया है क्योंकि उनके अभाव में कोई भी सारीरिक परिवर्तन होना सम्भव ही नहीं है। आलोचकों का लैमार्क के विरुद्ध यह कहना है कि इस प्रकार से उच्च श्रेणियों के जीवों में तो शारीरिक अंगों का विकास समझ में आता है, किन्तु निम्न श्रेणियों के जीवों में नहीं। कारण यह है कि जीवों की उच्च श्रेणियों में तो आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की अनुभूति होती है परन्तु निम्न श्रेणियों में इन अनुभूतियों का प्राय: अभाव ही होता है।

(2) प्रसिद्ध वैज्ञानिक वीजमैन (Weismann) ने चूहों पर अनेक प्रयोग किए। अपने एक प्रयोग में वह कई पीढ़ियों तक लगातार चूहों की पूँछ काटते रहे, किन्तु उन्होंने बराबर यही निरीक्षण किया कि अगली पीढ़ियों में पूँछ ज्यों की त्यों बनी रही। लैमार्क के सिद्धान्त के अनुसार चूहों की पूँछ न होने पर अनुपयोग के कारण और वातावरण में उसकी आवश्यकता न होने के कारण यह शारीरिक परिवर्तन वंशानुक्रमण से अगली पीढ़ी को प्राप्त हो जाना चाहिये था, परन्तु ऐसा

नहीं हुआ। अस्तु वीजमैन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जो परिवर्तन जीवों के जीव-कोषों (germ-cells) में होते हैं केवल उन्हीं का वंशानुक्रमण होता है, किन्तु जो शारीरिक परिवर्तन केवल पर्यावरण तथा उपयोग एवं अनुपयोग के प्रभाव से होते हैं उनका वंशानुक्रमण नहीं होता। वीज़मैन का यह सिद्धांत अनेक जीव-वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकार किया गया है। कुछ प्रकार के परिवारों के विषयों में जब यह निर्दिष्ट किया जाता है कि कुछ विशेष शारीरिक गुण उनके प्रत्येक पीढ़ी के व्यक्तियों में पाये जाते हैं तब इन गुणों का कारण लैमार्क तो आनुवंशिकता (Heredity) कहेंगे, किन्तु वीजमैन के मत से इनका कारण परिवेश (Environment) होता है। उदाहरण के रूप में लुहार के बच्चों के पुट्ठे यद्यपि लुहार के पुट्ठों के समान सुदृढ़ होते हैं, तथापि वीज़मैन का कहना है कि यह समानता आनुवंशिकता के कारण नहीं होती प्रत्युत अभ्यास के कारण होती है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो लुहार के बच्चे जन्म से ही मजबूत होते। परन्तु देखा यह जाता है ये जन्म से तो मजबूत नहीं होते, प्रत्युत माता-पिता को देखकर उनके जैसा ही अभ्यास करते हैं और शनैः शनैः उनके समान मजबूत हो जाते हैं। वीज़मैन कहते हैं कि परिवेश और अभ्यास के प्रभाव से जीवों के शरीरों में परिवर्तन अवश्य होते हैं किन्तु उनके जीव-कोषों में कोई परिवर्तन नहीं होते, अत एव आगामी पीढ़ियों में इनका वंशानुक्रमण होना भी सम्भव नहीं है।

डार्विन का सिद्धान्त

(Theory of Darwin)

हमने ऊपर बताया है कि चार्ल्स डार्विन (जिनके विकासवादी सिद्धान्त की अब हम चर्चा करने जा रहे हैं) के पितामह इरैस्मस डार्विन ने अठारवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में आनुवंशिकता और पर्यावरण की अन्तर्क्रिया द्वारा विकास-क्रिया की व्याख्या करने का प्रयास किया था और इसके पश्चात् लैमार्क ने अपने प्रसिद्ध विकासवादी सिद्धान्त की स्थापना की थी। इस प्रकार यह तो स्पष्ट ही है कि डार्विन के पूर्व ही विकास के सिद्धान्त को पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। अस्तु, अब डार्विन के लिए यही मुख्य कार्य अवशिष्ट रह गया था कि वह विकासवाद के पक्ष में अधिकाधिक प्रमाण एकत्रित करें और संसार के सम्मुख उसकी सर्वाधिक युक्तिपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करें। प्रमाणों को एकत्रित करने के हेतु डार्विन ने सन् 1831 से 1836 तक दक्षिणी सागर के अनेक द्वीपों की यात्रायें कीं साथ ही संयोग वश सन् 1838 में उन्हे विख्यात अर्थशास्त्री माल्थस (Malthus) के प्रसिद्ध ग्रंथ 'Essay on Population' के अध्ययन करने का अवसर मिल गया। दक्षिणी सागर के द्वीपों में प्राप्त अनुभूतियों तथा माल्थस के अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर अब डार्विन ने अपने सिद्धान्त का प्रासाद (Edifice) निर्मित किया।

सन् 1859 में उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Origin of species' प्रकाशित किया और उसके कुछ ही समय पश्चात् अपना दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Descent of man' प्रकाशित किया। इन दो ग्रन्थों ने वैज्ञानिक जगत् में विकासवादी सिद्धान्त की धूम सी मचा दी। ज्ञान विज्ञान के सभी क्षेत्रों में इस सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और अब सभी वैज्ञानिकों ने विकासवादी दृष्टिकोण से अपनी समस्याओं पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया।

डार्विन के जीव-विकास सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं :-

1. अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence)
2. आकस्मिक परिवर्तन (Accidental variations)
3. योग्यतम का अवशेष या प्राकृतिक प्रवरण[1] (Survival of the fittest or Natural selection)
4. वंशानुक्रमण (Heredity)
5. कार्यों के पूर्व अंगों का विकास (Evolution of organs before functions)

अब हम निम्न पंक्तियों में इन सभी बिशेषताओं की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

1. अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence)

जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है डार्विन ने माल्थस का बहुत अधिक प्रभाव ग्रहण किया था। माल्थस ने अपने 'जीव-संख्या' के सिद्धांत में यह बताया है और डार्विन ने उसका समर्थन किया है कि जीवों की संख्या गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical progression) में बढ़ती है। उदाहरण के रूप में एक प्रकार की मछली जिसका नाम काडफ़िस (Codfish) है एक बार में बीस करोड़ अण्डे देती है। इसी प्रकार एक बैक्टेरिया एक दिन में दस लाख बैक्टेरिया को उत्पन्न करता है। स्पष्ट है कि यदि इसी प्रकार पृथिवी पर मछलियों और बैक्टेरिया की वृद्धि होती रहे, तो अन्य जीवों की तो बात ही क्या स्वयं उनके लिए भी रहने का स्थान शेष न रहे; परन्तु अनुभव बताता है कि ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि पृथ्वी पर खाद्य पदार्थ उस अनुपात में नहीं बढ़ते जिस अनुपात में जीवों की संख्या बढ़ती है। जब कि जीवों की वृद्धि गुणोत्तर श्रेणी में होती है, खाद्य पदार्थों की वृद्धि केवल समान्तर श्रेणी (Arithmetical progression) में ही होती है। अब क्योंकि जीवों की संख्या इतनी अधिक होती है और खाद्य वस्तुओं की इतनी कम, अस्तु जीवों में अस्तित्व के लिए संघर्ष हो जाता है। इस संघर्ष में बहुत बड़ी संख्या में जीव मारे जाते हैं, केवल बहुत ही अल्प संख्या में अवशिष्ट रह जाते हैं। यहाँ, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कौन

1- प्राकृतिक चुनाव

से जीव मारे जाते हैं और कौन से अवशिष्ट रहते हैं ? इसका उत्तर आगे स्पष्ट होगा।

2. आकस्मिक परिवर्तन (Accidental variations)

डार्विन कहते हैं कि सामान्यत: जैसे माता पिता होते हैं वैसे ही उनकी सन्तान भी होती है। परन्तु, ध्यान से देखने में यह समझ में आ सकता है कि संतान पूर्ण रूपेण माता पिता जैसी ही नहीं होती, उनमें माता पिता से भिन्न कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के क्या कारण होते हैं इसके विषय में डार्विन बिना संकोच के अपना अज्ञान स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि उनकी दृष्टि से ये परिवर्तन आकस्मिक होते हैं।

3. योग्यतम का अवशेष या प्राकृतिक प्रवरण (Survival of the Fittest or Natural Selection)

डार्विन बताते हैं कि जीवन-संघर्ष में केवल वे ही जीव जीवित रहते हैं जो योग्यतम होते हैं। योग्यतम वही होते हैं जो परिवेश से सर्वाधिक अनुकूलित (adapted) हो जाते हैं ; अर्थात् जिनके शरीर में कुछ आकस्मिक परिवर्तन हो जाने से वे दूसरों की अपेक्षा परिवेश के साथ अधिक अनुकूलन करने के योग्य हो जाते हैं। जैसे कि यदि कुछ जीवों के दाँत दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक पैने होते हैं और नाखून भी कुछ अधिक तेज होते हैं तो ये आकस्मिक परिवर्तन इन जीवों को वनों में शिकार करने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार शीतप्रधान देशों में केवल वही पशु वातावरण से अनुकूलन कर पाते हैं जिनके शरीर पर आकस्मिक रूप से बाल दूसरों से अधिक होते हैं। डार्विन का कहना है कि जीवन-संग्राम में बस अन्त में केवल ऐसे ही प्राणी अवशिष्ट रहते हैं। दूसरी ओर, वे जीव जिन जिनमें अकस्मात् ऐसे परिवर्तन नहीं होते, वे परिवेश से अनुकूलन स्थापित नहीं कर पाते। वे नैसर्गिक रूप से कालान्तर में जीवन-संघर्ष में शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जिराफों के विषय में ले लीजिए। जिन जिराफों की गर्दन दूसरे जिराफों की गर्दन की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बी थीं केवल वे ही जीवित रह पाए; क्योंकि पृथ्वी पर जब जिराफों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई और वृक्षों के निचले भागों की पत्तियाँ शीघ्र समाप्त हो गई तब लम्बी गर्दन वाले जिराफों ने तो वृक्षों के ऊपरी भागों की पत्तियाँ खा कर अपना पेट भर लिया, किन्तु शेष जिराफ भूखे रह जाने के कारण मर गए। इसी को डार्विन ने "प्राकृतिक प्रवरण" ("Natural Selection") का नाम दिया है। अभिप्राय यह है कि असंख्य जीवों में से प्रकृति जीवित रखने के लिए कुछ ऐसे ही जीवों को चुन लेती है जिनके शरीरों में परिवेश के अनुकूल परिवर्तन हो चुके हैं और इसी कारण वे जीवित रहने के लिए योग्यतम हैं। इस प्रकार "योग्यतम का

अवशेष" (Survival of the Fittest) ही वस्तुतः "प्राकृतिक प्रवरण" है।

4. वंशानुक्रमण (Heredity)

डार्विन का मत है कि जीवों के आकस्मिक शारीरिक परिवर्तन वंशानुक्रमण से आगामी पीढ़ी में संक्रमित हो जाते हैं। उस आगामी पीढ़ी से वे और आगामी पीढ़ी में संक्रमित होते हैं। इस प्रकार पीढ़ी दर पीढ़ी क्रम चलता रहता है और वे (परिवर्तन) निरन्तर अधिकाधिक सुस्पष्ट और सुदृढ़ होते जाते हैं, क्योंकि उससे विभिन्न पीढ़ियों के जीवों को जीवन-संघर्ष में सहायता मिलती है। इस प्रकार सैकड़ों पीढ़ियों तक बराबर शारीरिक परिवर्तनों के बढ़ते जाने से अन्त में एक नई जाति का प्रादुर्भाव हो जाता है। डार्विन का कथन है कि संसार में इसी ढंग से लाखों नवीन जातियों का विकास हुआ है।

5. कार्यों के पूर्व अंगों का विकास

(Evolution of Organs before Functions)

डार्विन के मतानुसार नये अंगों का निर्माण एकदम आकस्मिक ढंग से होता है; वह जीवों की आवश्यकताओं के अनुसार कार्य करने की प्रवृत्तियों अथवा इच्छाओं से नहीं होता। जिन शारीरिक परिवर्तनों के कारण अंगों का निर्माण होता है वे पहले आकस्मिक रूप से स्वतः शारीरिक कोषों में होते हैं और उसके उपरान्त प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति के शरीर में प्रस्फुटित हो जाते हैं। डार्विन कहते हैं जब आकस्मिक परिवर्तनों के कारण नवीन अंगों का उद्‌भव हो चुकता है तभी उनमें कार्य (functions) होते हैं; इसके पूर्व उनमें कार्य होने का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है !

आलोचना

(1) डार्विन के विकासवाद की एक महत्वपूर्ण मान्यता है 'जीवन-संघर्ष'। प्रतीत यह होता है कि डार्विन ने अपनी इस मान्यता पर अधिक गहराई से विचार नहीं किया है। यदि वह ऐसा करते तो उन्हें इस मान्यता की पृष्ठभूमि में एक और मूलभूत तथ्य के दर्शन होते; वह तथ्य है 'प्रत्येक जीव में जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा'। प्रश्न यह है कि अन्ततः प्राणी जीवित रहने के लिए संघर्ष क्यों करता है ? इसी लिए कि उसके अन्तस्तल में जीवित रहने की एक स्वाभाविक इच्छा छिपी है। डार्विन यदि अपनी जीवन-संघर्ष की मान्यता के पीछे छिपी जीव की इस स्वाभाविक इच्छा को समझ लेते तो यह निश्चय है वह अधिक तर्कसंगत रूप में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में समर्थ हो जाते। परन्तु उनके सम्मुख एक और कठिनाई थी। वह यह कि उनका विकास का सिद्धान्त एक यांत्रिक सिद्धान्त है, और 'इच्छा' के स्वीकार कर लेने पर इस प्रकार के सिद्धान्त का स्वतः ही खण्डन हो जाता है।

(2) अपने सिद्धान्त में डार्विन ने सर्वत्र आकस्मिक परिवर्तनों पर बहुत अधिक बल दिया है। वास्तविकता यह है कि जगत् और जीवन में ऐसे आकस्मिक परिवर्तन बहुत ही कम होते हैं जिनसे प्राणियों का हित हो। अस्तु, यह बात समझ में नहीं आती कि आकस्मिक परिवर्तनों के द्वारा किस प्रकार नियमित रूप से सदा ही उच्चतर जीव-योनियों का विकास होता रहा है।

(3) पुनः, केवल आकस्मिक परिवर्तनों से ही नई नई जातियों का विकास होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। आकस्मिक परिवर्तनों के द्वारा नवीन जातियों का उद्भव तभी हो सकता है जब कि नर (male) और मादा (female) दोनों में ही लगभग समान परिमाण में आकस्मिक परिवर्तन हो गये हों। परन्तु, इसकी सम्भावना बहुत ही कम है। फिर सामयिक रूप से यदि यह मान भी लिया जाय कि ऐसे नर और मादा उपस्थित हैं, तब उनके मिलन की समस्या तो और भी जटिल रहेगी।

(4) डार्विन ने कहा है कि शारीरिक कोषों में होने वाले आकस्मिक परिवर्तन ही वंशानुक्रमण द्वारा आगामी पीढ़ी को प्राप्त हो जाते हैं। वीजमैन ने जिस प्रकार लैमार्क के 'अर्जित परिवर्तनों का उत्तराधिकार' सिद्धान्त का खण्डन किया है उसी प्रकार डार्विन के इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। उन्हों (वीजमैन) ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि शारीरिक कोषों में होने वाले आकस्मिक परिवर्त्तनों का वंशानुक्रमण नहीं होता, केवल जीव-कोषों में होने वाले परिवर्तनों का ही वंशानुक्रमण होता है।

(5) सृष्टि में जो निरन्तर जीवन-संघर्ष चल रहा है उसमें 'योग्यतम के अवशेष' को ही डार्विन ने 'प्राकृतिक प्रवरण' का भी नाम दिया है। उनका यह नामांकन सर्वथा भ्रामक एवं अवांछनीय है। उनका सिद्धान्त एक यांत्रिक सिद्धान्त है जिसमें विकास-प्रक्रिया को पूर्णरूपेण एक अन्ध प्रक्रिया बताया गया है। इस प्रक्रिया में बुद्धि (rationality) अथवा योजना को कोई स्थान नहीं है। स्वयं प्रकृति को भी एक अचेतन सत्ता प्रतिपादित किया गया है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अचेतन एवं अन्ध प्रकृति किस प्रकार जीवों में प्रवरण (selection) कर लेती है ?

(6) डार्विन ने अपने ग्रन्थों में विभिन्न जीव-जातियों का जो क्रम वर्णित किया है उसमें बहुत से स्थलों पर निरन्तरता (Continuity) का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति वह अपनी संग्रहीत सामग्री द्वारा नहीं कर पाये हैं।

(7) डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त पर समग्र दृष्टि से विचार करने पर अन्त में यह कहना होगा कि यह सिद्धान्त भले ही पशु-जगत् के विभिन्न स्तरों की व्याख्या करने में कुछ अंशों में सफल रहा हो, परन्तु जहाँ तक मानव-जगत् का सम्बन्ध है उसकी क्रियाओं प्रक्रियाओं की व्याख्या करने में यह पूर्णतया विफल रहा

है । मानव समाज का निरीक्षण करने पर कौन यह अस्वीकार करेगा कि जहाँ इसमें एक ओर संघर्ष प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या एवं घृणा देखने में आती है वहाँ साथ ही साथ सहयोग, सहानुभूति, दया और प्रेम भी कम नहीं है । इस क्षेत्र में मूल्यों तथा आदर्शों को एक बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जिनका पशु-क्षेत्र में सर्वथा अभाव है ।

लैमार्क और डार्विन के सिद्धान्तों की तुलना

लैमार्क और डार्विन के जीव-विकास के सिद्धान्तों को और अधिक सुचारु रूप से समझने के हेतु कदाचित् यह उत्तम रहेगा कि हम यह जान लें कि दोनों में कौन कौन समानतायें और कौन कौन विषमतायें हैं । अस्तु हम दोनों विचारकों की विचार-धाराओं की तुलना निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत करते हैं :—

समानता

1. जीव-जातियों की परिवर्तनशीलता (Mutability of Species)

विकासवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन होने से पूर्व प्राय: सभी लोगों की यह धारणा थी कि जीव-जन्तुओं की जो विभिन्न जातियाँ आज हम संसार में देखते हैं वे सृष्टि के प्रारम्भ से ज्यों की त्यों इसी रूप में चली आ रही हैं । आरम्भिक रचना के अनन्तर न तो किसी जीवयोनि का विनाश हुआ है और न ही किसी नयी जीवयोनि का उद्भव । जीवयोनियों में परिवर्तन न होने के इस सिद्धान्त को "जातियों की अपरिवर्तनशीलता (Immutability of species) के सिद्धान्त" की संज्ञा दी गई । लैमार्क और डार्विन दोनों ने ही समान रूप से उपर्युक्त धारणा का बलपूर्वक खण्डन किया । दोनों ने ही उत्पत्तिवाद (Creationism) का विरोध किया और कहा कि विश्व की सर्वांगीन परिवर्तनशीलता के साथ साथ जीव-जातियों में भी परिवर्तन होता रहता है । सृष्टि-क्रम में आरम्भ से अब तक असंख्य जीव-जातियों का लोप हुआ है और असंख्य ही जीव-जातियों का आविर्भाव ।

विषमतायें या भिन्नतायें

1. क्या शरीरिक परिवर्तन आकस्मिक हैं ?

(Are bodily variations accidental ?)

लैमार्क कहते हैं कि शारीरिक परिवर्तन आकस्मिक रूप से स्वयं ही नहीं हो जाते । वातारण के प्रभाव से जीवों में पहिले आवश्यकतायें तथा इच्छायें उत्पन्न होती हैं, और तब उनके कारण, तथा उपयोग एवं अनुपयोग के नियम के आधार पर उन जीवों में शारीरिक परिवर्तनों का आविर्भाव होता है । डार्विन का मत इससे भिन्न है । उनका कथन है कि प्रारम्भ में जीवों के शरीर-कोषों में स्वयं ही आक-

स्मिक रूप से परिवर्तन होते हैं और ये ही प्रौढ़ावस्था में उनके शरीरों में प्रस्फुटित हो जाते हैं।

2. शारीरिक परिवर्तनों का उत्तराधिकार

(Inheritance of Bodily variations)

लैमार्क के अनुसार आवश्यकता तथा उपयोग एवं अनुपयोग के कारण होने वाले अर्जित शारीरिक परिवर्तन भी उत्तराधिकार द्वारा आगामी संततियों को प्राप्त होते हैं। परन्तु डार्विन का कहना है कि केवल शरीर-कोषों में आकस्मिक रूप से होने वाले परिवर्तन ही वंशानुक्रमण द्वारा आने वाली पीढ़ियों को प्राप्त होते हैं।

3. अंगों और कार्यों में क्रम

(Precedence between Organs and functions)

लैमार्क का मत है कि पहिले जीवों में वातावरण के प्रभाव से कुछ आवश्यकतायें उद्भूत होती हैं जिनके अनुसार कार्य करने की प्रवृत्तियों अथवा इच्छाओं का जन्म होता है। इसके उपरान्त इन्हीं प्रवृत्तियों या इच्छाओं के अनुकूल अंगों का विकास होता है। दूसरी ओर डार्विन कहते हैं कि आकस्मिक परिवर्तनों से जीवों में पहले अंगों का निर्माण हो जाता है और तब उनमें कार्य होते हैं।

सृजनात्मक विकासवाद या सृजनवाद

(Creative Evolution or Creationism)

विख्यात फ्रान्सीसी दार्शनिक बर्गसों (Bergson) का सृजनात्मक विकासवाद या सृजनवाद दार्शनिक जगत् में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। जैसा कि नाम से ही विदित होता है सृजनात्मक विकासवाद की मान्यता है कि सृष्टि में पुरातन की पुनरावृत्ति कभी होती ही नहीं, प्रत्युत विकास-क्रम के प्रत्येक सोपान पर नित नवीन उत्पत्तियाँ ही हुआ करती हैं। बर्गसों का कथन है कि विकास-प्रक्रिया की तीन मुख्य विशेषतायें हैं – (1) अनियन्त्रितता (Indeterminacy), (2) अज्ञातपूर्वता (Unpredictability) तथा (3) सृजनात्मकता (Creativity)। (1) अनियन्त्रितता से बर्गसों का अभिप्राय है कि सृष्टि का विकास न भूतकाल से नियंत्रित होता है और न ही भविष्य काल से, यह पूर्णतया नियन्त्रण-रहित है। (2) अज्ञातपूर्वता से उनका अर्थ है कि विकास के विभिन्न स्तरों के विषय में पहिले ही से कोई नहीं जान सकता कि आगे किस स्तर का आना सम्भावित है। (3) विकास की सृजनात्मकता से वह यह प्रस्तावित करते हैं कि सृष्टि के विकास में (जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है) पुनराविर्भाव किसी भी वस्तु का नहीं होता, सदा ही नई नई वस्तुओं का सृजन होता रहता है। उनका मत है कि यद्यपि पुद्गल से

प्राण-तत्व की उत्पत्ति होती है और प्राण-तत्व से मनस् की, परन्तु न तो प्राण-तत्त्व पुद्गल में पहिले से विद्यमान रहता है और न ही मनस् प्राण-तत्व में।

1. यंत्रवाद[1] और प्रयोजनवाद[2] दोनों का निराकरण

सामान्य रूप से यह माना जाता है कि यंत्रवाद, नियंत्रितता का पोषक है और प्रयोजनवाद स्वतन्त्रता का। बर्गसों इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि यह मान्यता भ्रमित है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह सहज समझ में आ सकता है कि यंत्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों ही समान रूप से नियंत्रितता के समर्थक हैं। यन्त्रवाद समग्र विश्व को कार्य-कारण नियम (Law of Causation) के लोह-पाश में आबद्ध मानता है और यह घोषित करता है कि विश्व की प्रत्येक घटना किसी न किसी पूर्ववर्त्ती घटना का आवश्यक परिणाम है। प्रयोजनवाद कहता है कि विश्व के समस्त पदार्थ एवं घटनायें एक पूर्वनिश्चित योजना या उद्देश्य की पूर्ति में साधन मात्र हैं। उसके अनुसार जिस प्रकार भवन मनुष्यों के पूर्वनिश्चित प्रयोजनों के अनुसार निर्माण किये जाते हैं उसी प्रकार विश्व की रचना भी किसी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न सत्ता की पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यंत्रवाद विश्व के घटना-क्रम को भूतकाल से नियन्त्रित मानता है और प्रयोजनवाद भविष्यत्काल से। नियंत्रितता तो दोनों में समान ही है, अन्तर केवल भूत और भविष्यत् का है। अस्तु बर्गसों घोषित करते हैं कि प्रयोजनवाद यंत्रवाद का विपर्यस्त रूप (Inverted form) मात्र है[3]। यंत्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों ही नियन्त्रितता के पुजारी हैं और दोनों में न तो स्वतन्त्रता को कोई स्थान है और न ही सृजनात्मकता एवं नवीनता को; अतः दोनों ही विश्व के विकास-क्रम की व्याख्या करने में असमर्थ हैं।

2. विकास प्रक्रिया की पूर्ण स्वतन्त्रता

बर्गसों का कथन है कि विश्व-विकास की प्रक्रिया पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया न तो यांत्रिक है और न ही प्रयोजनात्मक। यह सृजनात्मक प्रक्रिया। स्वतन्त्रता और सृजनात्मकता (या नवीनता) में एक नैसर्गिक सम्बन्ध (Natural relation) है, अतः विकास के प्रत्येक सोपान पर सदा सर्वदा नवीन नवीन वस्तुओं की सृष्टि हुआ करती है। बर्गसों कहते हैं कि यंत्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों, नियन्त्रितता के पोषक होने के नाते, विकास-क्रम के किसी भी स्तर पर

1. Mechanism.
2. Teleology
3. "Finalism (Teleology) thus understood is only inverted **Mechanism"** **(Bergson)**

किसी भी नवीन वस्तु की उत्पत्ति मानने को प्रस्तुत नहीं, किन्तु उन (बर्गसों) का स्वयं का मत है कि विकास-प्रक्रिया नित नूतन रचनाओं की ओर सतत प्रगति है जो न अतीत (Past) से नियन्त्रित होती है और न ही भविष्यत् से। वह (बर्गसों) लैमार्क और डार्विन के विकास-सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं कि इन विचारकों ने 'उपयोग तथा अनुपयोग' (Use and Disuse) 'प्राकृतिक चुनाव' (Natural Selection) आदि यांत्रिक नियमों के आधार पर अपने सिद्धान्तों को खड़ा किया है जो विश्व की वास्तविक विकास-क्रिया के सर्वथा विरुद्ध है। इसी प्रकार वह प्रयोजनवाद के समर्थक हीगेल, ग्रीन, ब्रेड्ले आदि दार्शनिकों का भी खण्डन करते हैं और कहते हैं कि उनके सिद्धान्तों में भी सृजनात्मकता और नवीनता (जो विकास के सभी स्तरों पर दिखाई पड़ती है) को कोई स्थान नहीं है।

3. जीवन-शक्ति

बर्गसों विश्व-विकास के मूल में एक शक्ति मानते हैं जिसे वह 'जीवन-शक्ति' 'Elan Vital'[1] का माम देते हैं और जिस को वह कई बार 'ईश्वर' की संज्ञा भी प्रदान करते हैं। यह जीवन-शक्ति अनादि एवं अनन्त है। यह एक प्रवाह मात्र है जो कभी स्थिर नहीं रहता। इसकी गति एक उन्मत्त व्यक्ति की गति है; और यह अपने गति–पथ पर सदैव नवीन वस्तुओं का सृजन करता रहता है। बर्गसों ने इस जीवन-शक्ति को काल-प्रवाह के नाम से भी अंकित किया है, जिसमें भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों अविच्छिन्न तरंगों के रूप में विद्यमान हैं। ये तीनों तरंगे एक दूसरे से पूर्णतया अभिन्न हैं; भूत की तरंग वर्त्तमान की तरंग से मिली हुई है और वर्तमान की तरंग भविष्य की तरंग से। जीवन-शक्ति से उत्प्रेरित विकास-क्रिया न तो अतीत से नियन्त्रित है और न ही उसका कोई भावी उद्देश्य है; यह सर्वथा उन्मुक्त क्रिया है। बर्गसों कहते हैं कि जिस प्रकार एक रॉकेट विस्फुटित होने पर असंख्य चिंगारियों को जन्म देता है उसी प्रकार जीवन-शक्ति भी विकास के पथ पर अगणित नवीन नवीन वस्तुओं को उत्पन्न करती है। विश्व के विकास-क्रम में पुद्गल से प्राण तत्व की और प्राण–तत्व से मनस् तत्व की उत्पत्ति इसी शक्ति के द्वारा हुई है। जीवन के सभी क्षेत्रों, जैसे कि सामाजिक क्षेत्र, नैतिक क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र आदि में यही जीवन-शक्ति नित नवीन सृष्टियाँ (creations) किया करती है।

4. जीवन के विकास की विभिन्न धारायें

बर्गसों कहते हैं कि जीवन-शक्ति जीव-जगत् के विभिन्न परिवेशों में विभिन्न रूपों में प्रकट हुई हैं जिनमें तीन रूप मुख्य हैं :—(1) वनस्पति, (2) निम्न श्रेणी

---

1. इसका शब्दार्थ है 'जीवन-सम्बन्धी प्रेरक शक्ति' ('vital impetus')।

के जीव तथा (3) मनुष्य। (1) वनस्पति जगत् में चेतना (Consciousness) पुद्गल का न्यूनतम मात्रा में अतिक्रमण कर पाती है, अतः उस क्षेत्र में वह (चेतना) अपनी सुप्तावस्था में रहती है। (2) निम्न श्रेणी के जीवों में चेतना पुद्गल और परिवेश पर आंशिक विजय प्राप्त कर लेती है, अतः उनमें संवेदनाओं (Sensations) और मूल प्रवृत्तियों (Instincts) का बाहुल्य देखने में आता है। और (3) मनुष्यों में चेतना जड़-तत्व और बाह्य पर्यावरण पर पूरा अधिकार जमा लेती है, अतः उनमें चिन्तन, चुनाव तथा स्वतन्त्र संकल्प बड़े ही प्रखर रूप में पाया जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि बर्गसों के मतानुसार यद्यपि जीवन की उपर्युक्त तीन धारायें प्रमुख हैं तथापि वह इस तथ्य पर बल देते हैं कि जीवन-शक्ति जीवन की असंख्य धाराओं में होकर बहती है।

आलोचना

(1) बर्गसों का विकास–सिद्धान्त जो हमारे सम्मुख नित नूतन उत्पत्तियों का रोमाञ्चकारी एवं हृदयस्पर्शी चित्र रखता है वस्तुतः हमारी कल्पना को तो बहुत अधिक सन्तुष्ट करता है, परन्तु तर्क और युक्ति की कसौटी पर वह एकदम फीका पड़ जाता है। यदि विश्व के विकास में न भूत का हाथ है और न भविष्यत् का और यदि बिना किसी स्थायी सत्ता के वह पूर्णतया नवीन नवीन उत्पत्तियों का अनवरत प्रवाह मात्र है, तब हम यही कहेंगे कि वह एक ऐसा जादू (Miracle) है जो सत्यता से सर्वथा दूर है। मानव-मस्तिष्क ऐसी जीवन-शक्ति की बुद्धिगम्य व्याख्या कर ही नहीं सकता जो सर्वदा ही गतिशील रहती है और जिसमें किञ्चिदपि स्थिरता है ही नहीं। न्यायशास्त्र (Logic) की दृष्टि से स्थायी सत्ता (Permanent Being) के अभाव में परिवर्तन-शीलता तथा प्रवाह की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

(2) व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से भी बर्गसों का विकासवाद हमारे सामने कठिनाइयाँ उपस्थित कर देता है। यदि संसार में सदा सर्वदा नई नई वस्तुएँ और नई नई परिस्थितियाँ ही उत्पन्न होती रहती हैं तो सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए मनुष्य को पग पग पर महान् संघर्ष करना होगा और ऐसी स्थिति में उसका जीवन ही उसे भार रूप हो जायेगा।

(3) बर्गसों ने यंत्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों का खण्डन करते हुए दोनों को नियन्त्रितता का दोषी ठहराया है। उनका यह आरोप यंत्रवाद और बाह्य प्रयोजनवाद के विरुद्ध तो समीचीन[1] कहा जा सकता है, किन्तु आन्तरिक प्रयोजनवाद के विरुद्ध नहीं। विश्व की विकास-प्रक्रिया को नियंत्रित उसी स्थिति में कहा जा

---

1. Proper or reasonable.

सकता है जब कि उसका प्रयोजन विश्व से बाहर किसी सत्ता में निहित हो; परन्तु यदि प्रयोजन विश्व में ही विद्यमान है तब नियन्त्रितता का दोष आरोपण करना कदापि उचित नहीं है। आंतरिक प्रयोजनवाद के अनुसार तो विश्व स्वयं ही अपना नियंत्रण करता है, विश्व से बाहर कोई शक्ति उसका नियन्त्रण-नहीं करती ; और आत्म-नियन्त्रण तो वस्तुत: स्वतन्त्रता ही है।

(4) विश्व विकास का मूल आधार बर्गसों ने 'जीवन-शक्ति' को बताया है जो अन्ध है और जिसका गति-पथ उन्मत्त व्यक्ति के गति-पथ के सदृश अनिश्चित है। ऐसी अवस्था में यह बुद्धिगम्य नहीं हो पाता कि इस अन्ध एवं उन्मत्त शक्ति ने एक अत्यन्त सुन्दर, सामञ्जस्य-पूर्ण एवं सुव्यवस्थित संसार की रचना कैसे की है ?

(5) बर्गसों के विकास के सिद्धान्त में ऊपर इंगित किए हुए कुछ दोष होते हुए भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह सिद्धान्त वर्तमान दर्शन जगत् को एक अनूठी देन है। इस विकासवादी सिद्धांत की सर्वश्रेष्ठ बात यह है कि इसने नि-यंत्रितता (Determinacy) के पोषकों पर भयंकर प्रहार करके नियतत्ववाद (Determinism) की जड़ें ही खोखली कर डालीं। जिस नियतत्ववाद (Determi-nism)का यूरोप तथा एमेरिका में उन्नीसवीं शताब्दी में इतना बोलबाला था वह उक्त प्रहारों के वेग से प्राय: हतप्रभ हो गया। बर्गसों का यही सन्देश था कि यह संसार पूर्व निश्चितता के पाश में आबद्ध नहीं है, प्रत्युत सतत गतिशील (Dyna-mic) एवं प्रवाहमान है और ऐसा रंगमञ्च है जिस पर सदा सर्वदा नवीनताओं के अभिनय हुआ करते हैं।

उन्मेषवाद या नव्योत्क्रान्तिवाद

(Emergent Evolution)

उन्मेषवाद या नव्योत्क्रान्तिवाद का सिद्धान्त बर्गसों के सृजनात्मक विकासवाद का एक निकटवर्ती सिद्धान्त है। सृजनात्मक विकासवाद के सदृश यह भी पुरातन की पुनरावृत्ति के सिद्धान्त का निराकरण करता है और यह प्रतिपादित करता है कि विकास क्रम के प्रत्येक स्तर पर नवीन गुणों की उत्पत्ति होती है। किन्तु सृजनवाद से इसका कुछ भेद भी है। भेद यह है कि सृजनवाद उत्तर स्तर का पूर्व स्तर से कोई सम्बन्ध ही नहीं मानता और यह कहता है कि उत्तर स्तर पूर्णतया एक नवीन उत्पत्ति है। परन्तु उन्मेषवाद के अनुसार उत्तर स्तर का पूर्व स्तर से सम्बन्ध समाप्त नहीं होता ; इस सिद्धान्त में पूर्व स्तर से सम्बन्ध रखते हुए भी उत्तर स्तर कुछ ऐसे गुणों को जन्म दे देता है जिनका पूर्व स्तर में सर्वथा अभाव था।

1. परिणामिक गुणों का खण्डन और उन्मेषित गुणों का समर्थन

यन्त्रवाद विकासक्रम में केवल परिणामिक गुणों (resultant qualities)

के प्रादुर्भाव को स्वीकार करता है, परन्तु उन्मेषवाद परिणामिक गुणों का खण्डन करता है और उन्मेषित गुणों (emergent qualities) की उत्पत्ति का प्रतिपादन करता है। परिणामिक गुणों का अर्थ है केवल उपादान गुणों (Constituent qulities) का योग मात्र। किन्तु उन्मेषित गुणों का अर्थ है उपादान गुणों से उन्मेषित (emerged) कुछ नवीन गुण, जो उपादानों (Causal constituents) में पहिले से ही विद्यमान नहीं थे। उदाहरण के रूप में जैसे उद्जन (Hydrogen) तथा जारक (Oxygen) को जब एक निश्चित मात्रा में मिश्रित किया जाता है तो उससे जल कीउत्पत्ति होती है। अब हम यदि जारक तथा उद्जन का वजन लें और तदुपरान्त जल का वजन लें, तो हमें ज्ञात होगा कि जलका वजन जारक तथा उद्जन के वजन के योग के एकदम बराबर है, थोड़ा भी न्यून या अधिक नहीं। अस्तु, यहाँ जल का वजन परिणामिक गुण कहलायेगा। परन्तु, हम देखते हैं कि जल में वजन के अतिरिक्त प्यास बुझाने की भी एक शक्ति है जो जारक तथा उद्जन में पहिले से ही विद्यमान नहीं थी, वह तो उनके जल रूप में परिवर्तित हो जाने से ही उत्पन्न हुई है। जल की यह प्यास वुझाने की शक्ति या गुण ही जारक तथा उद्जन के योग से उन्मेषित एक नया गुण है। जड़वाद तथा यन्त्रवाद के सदृश वह (उन्मेषवाद) इन्हें पुद्गल या जड़ तत्व के ही परिणत जटिलतम रूप स्वीकार नहीं करता।

2. जड़वाद का विरोध

उन्मेषवाद या नव्योत्क्रान्तिवाद संसार की जड़वादी व्याख्या का विरोध करता है। जड़वाद के मत से विश्व में किसी समय भी किसी नवीन पदार्थ का उद्भव नहीं होता, जो कुछ भी यहां घटित हो रहा है वह सब भिन्न भिन्न रूपों में पुद्गल की ही क्रीड़ा मात्र है। इससे सर्वथा भिन्न नव्योत्क्रान्तिवाद यह प्रतिपादित करता है कि सृष्टि में सर्वदा ही समय समय पर नवीन नवीन पदार्थों का विकास हुआ करता है। जड़वाद जगत् की यान्त्रिक व्याख्या का पोषण करता है, परन्तु उन्मेषवाद इस प्रकार की व्याख्या के प्रति भारी विद्रोह करता है। उन्मेषवाद के प्रधान समर्थक लॉयड़ मॉर्गन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Emergent Evolution' में स्वयं ही घोषित करते हैं : "The whole doctrine of emergence is a continued protest against mechanistic interpretation and the very antithesis to one that is mechanistic." (अर्थात् 'नव्योत्क्रांति का सम्पूर्ण सिद्धांत यान्त्रिक व्याख्या के विरुद्ध एंक सतत प्रतिवाद है और उसका पूर्ण प्रतिपक्ष है"।)।

3. उन्मेषित या नव्योत्क्रांत पदार्थों की कुछ विशेषतायें

नव्योत्क्रांतिवादी विचारकों ने नव्योत्क्रांत या उन्मेषित पदार्थों में पूर्व स्तर

के पदार्थों से कुछ अधिक नई विशेषतायें निर्धारित की हैं जिनमें से मुख्य निम्नांकित हैं :—

(क) प्रत्येक उन्मेषित पदार्थ में अपने पूर्वगामी पदार्थों से अधिक स्थिरता (stability) होती है।

(ख) उन्मेषित पदार्थ की संरचना उसके अवयवों से भिन्न (different), बाह्य (external) और योगात्मक (additive) होती है।

(ग) प्रत्येक उन्मेषित पदार्थ के व्यवहार के नियम उसके अवयवों के व्यवहार के नियमों से भिन्न होते हैं।

(घ) उन्मेषित पदार्थ की कार्य-क्षमता उसके अवयवों की कार्यक्षमता से भिन्न होती है।

(ङ) प्रत्येक उन्मेषित पदार्थ कारण यन्त्र (Causal agent) के रूप में विशेष प्रभावोत्पादकता रखता है।

उन्मेषित पदार्थों की उपर्युक्त सभी विशेषताओं को एक उदाहरण के द्वारा अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है। प्रथम, हम देखते हैं कि समाज यद्यपि अपने सदस्यों पर आधारित रहता है, तथापि समाज में अपने सदस्यों से कहीं अधिक स्थिरता होती है। दूसरे, यह तो स्पष्ट ही है कि समाज की रचना उसके सदस्यों की रचना से भिन्न होती है ; उसमें बाह्यता होती है और उसमें कुछ ऐसे अधिक (योगात्मक) लक्षण पाए जाते हैं जो सदस्यों में नहीं होते। तीसरे, समाज के व्यवहार के जो नियम होते हैं वे व्यक्तियों के व्यवहार के नियम नहीं होते, दोनों में पर्याप्त भिन्नता होती है। चौथे, समाज में ऐसे कार्य करने की सामर्थ्य होती है जो उसके भिन्न भिन्न सदस्यों में होने का प्रश्न ही नहीं हैं। समाज की कार्य-क्षमता स्वाभाविक रूप से व्यक्तियों की कार्य-क्षमता से बहुत अधिक होती है। पाँचवे, समाज के सदस्यों के कार्य समाज के नियमों से निर्धारित होते हैं। जब तक कोई व्यक्ति किसी समाज विशेष का सदस्य रहता है तब तक उस समाज का प्रभाव उस पर अवश्य ही पड़ता है और उसे एक विशेष प्रकार से व्यवहार करना ही होता है।

4. उन्मेषित पदार्थों के विभिन्न स्तर

उन्मेषित पदार्थों के क्या क्या स्तर हैं ? इस विषय में उन्मेषवादी दार्शनिकों में मतविभिन्नता है। लॉयड मॉर्गन का कहना है कि उन्मेषित पदार्थों के तीन स्तर हैं — जड़ तत्व (Matter), जीवन (Life) तथा मनस् (Mind)। सैलर्स (Sellers) मनस् के ऊपर 'समाज' (society) को और जोड़ देते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार उन्मेषितों (Emergents) के ये चार स्तर हो जाते हैं — जड़-तत्व,

जीवन, मनस् तथा समाज । सैमुएल एलैक्जैण्डर समाज के स्थान पर 'देव-सत्व' (Diety) को रखते हैं। अस्तु उनके सिद्धान्त में भी जड़-तत्व, जीव, मनस् तथा देव-सत्व उन्मेषितों के ये चार स्तर हैं ।

5. अग्रिम स्तर में पूर्व स्तर का समावेश

उन्मेषवाद कहता है कि विकास-क्रम में प्रत्येक अग्रिम स्तर में पूर्व स्तर का समावेश रहता है । उदाहरण के रूप में जैसे यद्यपि 'जीवन' जड़-तत्व से ऊँचा स्तर है, तथापि जीवन में जड़तत्व का समावेश रहता है। इसी प्रकार यद्यपि मनस् जीवन से भी उच्चतर उन्मेषित है, तथापि उसमें जड़–तत्व तथा जीवन दोनों का समावेश रहता है । वास्तविकता यह है कि निम्न उन्मेषित उच्च उन्मेषित पर आश्रित होता है और उस (निम्न उन्मेषित) के व्यवहार का नियमन भी उच्च उन्मेषित ही करता है । जैसे कि हम देखते हैं कि एक जीवित प्राणी में जड़-तत्व (शरीर) का व्यवहार जीवन पर ही निर्भर करता है, और जड़–तत्व और जीवन दोनों का व्यवहार जीवित प्राणी के मनस् पर आधारित होता है ।

उन्मेषवाद या नव्योत्क्रान्तिवाद के सर्वप्रमुख प्रतिपादक फ्रांसीसी दार्शनिक लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan) तथा अंग्रेज दार्शनिक प्रोफेसर एलैक्जैण्डर (Prof. Alexander) हुए हैं। हमने ऊपर के अनुच्छेदों (paragraphs) में उन्मेषवाद के जिन तत्वों की विवेचना की है वे समान रूप से इन दोनों ही दार्शनिकों के सिद्धान्तों में अन्तर्निहित हैं । अब हम निम्नलिखित पंक्तियों में पृथक् पृथक् रूप से दोनों सिद्धान्तों के कुछ ऐसे अंशों पर विचार करेंगे जिनके विषय में इन सिद्धान्तों में कुछ भिन्नतायें हैं :—

लॉयड मॉर्गन

सृष्टि की व्याख्या में दार्शनिकों के सम्मुख यह एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है कि विकास–प्रक्रिया का अन्ततः मूलभूत कारण क्या है ? वह कौन प्रेरक शक्ति है जो इस विशाल विकास-चक्र को घुमा रही है ? लॉयड मॉर्गन अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'Emergent Evolution' (जिसमें उन्होंने अपने उन्मेषवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है) में उत्तर देते हुए कहते हैं कि इस (विकास-प्रक्रिया) का मूल कारण एक शक्ति है जिसका नाम सक्रियता (Activity) है। इस मूल कारण या उत्तेजक शक्ति को वह 'तेजना' अर्थात् 'Nisus' भी कहते हैं और कई बार इसे 'मनस्' या 'ईश्वर' के नाम से भी पुकारते हैं । उनका मत है कि जगत् के सम्पूर्ण उन्मेषितों की उत्पत्ति इसी 'तेजना' के द्वारा होती है । यह तेजना या ईश्वर, उनके अनुसार, विकास-क्रम के सर्वोच्च शिखर पर एक आकर्षण शक्ति है जो समग्र विकास क्रिया को सञ्चालित करती है । उनके अपने शब्द हैं : "I acknowledge God is

the nisus through whose activity emergents emerge and the whole course of emergent evolution is directed." ('Emergent Evolution,' P. 36)

सैमुएल एलैक्जैण्डर

एलैक्जैण्डर ने अपनी पुस्तक 'Space, Time and Deity' में अपने विकासवाद की व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका मत है कि देश और काल विश्व के मूलभूत उपादान हैं। ये दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। देश से पृथक् काल की कल्पना नहीं की जा सकती और न ही काल से पृथक् देश की कल्पना की जा सकती है। देश कालिक (Temporal) और काल दैशिक (Spatial) है। देश-विन्दु (space-points) काल में विद्यमान रहते हैं और काल-विन्दु या काल-क्षण (time-instants) देश में घटित होते हैं[1]। एलैक्जैण्डर कहते हैं कि देश और काल शुद्ध गति (Pure Motion) के ही रूप हैं। इस शुद्ध गति से सर्वप्रथम जड़-तत्व की उत्पत्ति होती है[1], तब जड़ से जीवन की और जीवन से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। यह विकास–क्रम अभी भी अक्षुण्ण रूप से चल रहा है। इस क्रम में अगले स्तर पर देव-सत्व (Deity) का उद्‌भव होगा जो इस शृंखला का अन्तिम उन्मेषित तत्व होगा। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उन (एलैक्जैण्डर) के 'उन्मेषवाद के सूचीस्तम्भ' (Pyramid of Emergent Evolution) की आधार-शिला देश और काल ही हैं जिनसे सभी अधिकाधिक उच्च स्तर — जड़-तत्व, जीवन, मनस् तथा देव-सत्व — उन्मेषित होते हैं। यहाँ वह बता देना आवश्यक होगा कि उनके सिद्धान्त में 'देव-सत्व' शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में भी किया गया है, जिसके अनुसार विकास–क्रम का प्रत्येक आगामी स्तर पूर्व-स्तर के लिए देव-सत्व होता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, एलैक्जैण्डर के अनुसार, इस समग्र विकास–प्रक्रिया का कारण क्या है ? कौन इसकी प्रेरक शक्ति है ? वह उत्तर देते हैं कि विकास का मूल कारण एक उत्तेजक शक्ति है जिनका नाम 'तेजना' (Nisus) है। उनका कथन है कि चैतन्य की उत्पत्ति के पूर्व यह 'तेजना' अचेतन-धर्मी थी अर्थात् इसमें चेतना का अभाव था। चैतन्य की उत्पत्ति के साथ-साथ इसमें भी चेतना का विकास हुआ और यह भी चैतन्ययुक्त एवं प्रयोजनमयी हो गई।

समालोचना

(1) लॉयड मॉर्गन ने विकास-प्रक्रिया की प्रेरक शक्ति 'सक्रियता' मानी है

---

1. वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटाइन (Einstein) ने भी अपने, 'सापेक्षता के सिद्धान्त' (Theory of Relativity) में यह सिद्ध किया है कि देश-काल से ही जड़-तत्व का आविर्भाव होता है।

जिसे वह कई बार ईश्वर के नाम से भी पुकारते हैं। यह तो उचित ही है कि उन्होंने इस शक्ति को चेतन शक्ति के रूप में स्वीकार किया। परन्तु उन्होंने इस विषय में जो भारी भूल की है वह यह है कि उन्होंने इस शक्ति को जगत् से पूर्णतया अतीत (अथवा बाह्य) रक्खा है। यह शक्ति उनके अनुसार बाहर रहकर ही जगत् के विकास-क्रम का संचालन करती है। अतः उनके विकासवाद में वे सभी कठिनाइयां आ उपस्थित होती हैं जो बाह्य प्रयोजनवाद (जिनका उल्लेख हम अगले अध्याय में करेंगे) में हैं।

(2) एलैक्जैण्डर ने देश-काल से ही जड़-तत्व के साथ जीवन तथा चेतन-तत्व की भी उत्पत्ति बताई है। यह तभी हो सकता था जब कि देश-काल में जैव-कीय तथा मानसिक तत्व विद्यमान होते। परन्तु देश-काल तो एक शून्य है, अतः इससे किसी भी प्रकार के भावात्मक गुणों की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। कारण यह है कि असत् से न तो सत् की उत्पत्ति हो सकती है और न ही सत् से असत् की[1]।

(3) पुनः एलैक्जैण्डर ने अपने सिद्धान्त में विकास की प्रेरक शक्ति को 'तेजना' बताया है। साथ ही उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि चैतन्य की उत्पत्ति से पूर्व यह तेजना स्वयं अचेतन थी। यह समझ में नहीं आता कि एक शक्ति कैसे अपने मौलिक धर्म को छोड़कर दूसरा धर्म ग्रहण कर सकती है, अर्थात् एक अचेतन शक्ति कैसे चेतन शक्ति हो सकती है? दूसरी कठिनाई इस प्रसंग में यह है कि अचेतन 'तेजना' चैतन्ययुक्त होने से पूर्व जड़-जगत् तथा जीवन-जगत् में व्यवस्था एवं सामञ्जस्य कैसे प्रस्थापित कर सकती है।

(4) उन्मेषवाद विकास-क्रम को रेखीय (linear) मानता है। हम जड़-तत्व के क्षेत्र में उन्मेषवाद की इस प्रकार की व्यवस्था भले ही कुछ अंश में स्वीकार कर लें, परन्तु जीव-जगत् तथा मानसिक जगत् में यह व्याख्या कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती। कारण यह है कि जैविक विकास और मानसिक विकास के क्षेत्रों में आरोहण तथा अवरोहण, विस्तार तथा संकोच, आदि की व्याख्या रेखीय न होकर केवल वर्तुलाकार (Spiral) ही हो सकती है।

---

1. "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"। (गीता, 2.1)।

विभिन्न विश्व-विद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. स्पैन्सर के विश्व-विकास के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। आपकी समझ से यह मत कहाँ तक वैज्ञानिक है ?
   Explain the theory of Cosmic Evolution of Hebert Spencer. How far, according to you, is it scientific ?
2. डार्विन के विकास-वाद के मूल सिद्धान्त क्या हैं ? किस प्रकार डार्विन का सिद्धान्त लैमार्क के सिद्धान्त से भिन्न है ?
   What are the main principles of Darwin's theory of evolution ? How does Darwin's theory of evolution differ from the theory of Lamarck ?
3. विकासवाद से आप क्या समझते हैं ? डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त का वर्णन कीजिये। लैमार्क का सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त से किस तरह भिन्न है ?
   What do you understand by Evolution ? Give an account of Darwin's principles of evolution. How does Lamarckism differ from Darwinism ?
4. डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त की समालोचना कीजिये।
   Examine Darwin's theory of evolution.
5. विकास का क्या अभिप्राय है ? संक्षेपतः नव्योत्क्रान्तिवादी विकास का निरूपण कीजिये।
   What do you mean by evolution ? Give in brief the main features of emergent evolution.
6. उन्मेषवाद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
   Write short note on Emergent Evolution.
7. लॉयड मॉर्गन के नव्योत्क्रान्तिवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
   Give a critical account of Lloyd Morgan's Emergent Evolution.
8. विकासवाद का आप क्या अर्थ समझते हैं ? बर्गसों के विकासवादी सिद्धान्त के विशिष्ट लक्षणों को समझाइये।
   What do you understand by evolution ? Explain the distinctive features of Bergson's theory of evolution ?

पञ्चम अध्याय

यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद

(Machanism and Teleology)

दार्शनिक संसार में सृष्टि की विविध घटनाओं की व्याख्या हेतु दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं; इनमें एक को 'यन्त्रवाद' का नाम दिया गया है, और दूसरे को 'प्रयोजनवाद' का। 'यंत्रवाद', जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट होता है, संसार की सभी घटनाओं की व्याख्या यान्त्रिक नियमों के आधार पर करता है। इसके अनुसार जैसे एक यन्त्र की क्रियायें प्रक्रियायें कार्यकारणता आदि नियमों से अन्ध रूप में चलती रहती हैं, वैसे ही विश्व की समस्त घटनायें संगठन (Integration), विगठन (Disintegration) आदि कुछ भौतिक नियमों द्वारा बिना किसी प्रयोजन के चलती रहती हैं। जिस प्रकार यन्त्र के संचालन में यन्त्र का अपना कोई उद्देश्य निहित नहीं रहता, उसी प्रकार विश्व की गतिशीलता में भी विश्व का अपना कोई सम्प्रयोजन (Purpose) विद्यमान नहीं रहता। यह सिद्धांत (यन्त्रवाद) जड़ और चेतन में कोई गुणात्मक भेद नहीं करता और चेतन को जड़ का ही सर्वाधिक विकसित एवं जटिलतम रूप मानता है। इसका कहना है कि जड़ वस्तुओं की क्रियाओं के समान ही चेतन की क्रियायें भी पूर्णतया अपने कारणों से नियन्त्रित होती हैं। धर्म, काव्य और कला सब जड़ परमाणुओं एवं रासायनिक पदार्थों की क्रीडायें मात्र हैं। सृष्टि की व्याख्या के दूसरे सिद्धान्त 'प्रयोजनवाद' के नाम से भी उसका अर्थ स्वतः ही इङ्गित होता है। यह सिद्धांत (प्रयोजनवाद) संसार के समग्र घटना-क्रम की पृष्ठभूमि में एक विशिष्ट प्रयोजन का प्रतिपादन करता है और कहता है कि सभी घटनायें इस प्रयोजन की प्राप्ति के लिए घटित हो रही हैं। इसकी मान्यता है कि जिस प्रकार चेतन प्राणियों की क्रियायें किन्हीं विशेष प्रयोजनों से प्रेरित हुआ करती हैं, निष्प्रयोजन कभी नहीं होतीं; उसी प्रकार जगत् की क्रियाएँ भी सर्वदा एक या कुछ प्रयोजनों की सिद्धि-हेतु ही हुआ करती हैं निरुद्देश्य रूप में नहीं। इसके अनुसार विश्व कोई यन्त्र नहीं है जिसका घटना-क्रम

कतिपय भौतिक नियमों के द्वारा चल रहा हो, वरन् एक सुव्यवस्थित योजना है जिसके मूल में एक विश्व-चेतना (Universal Consciousness) या समष्टि-बुद्धि (Universal Intelligence) कार्य कर रही है। दर्शन के इतिहास में यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों के अनेक समर्थक हुए हैं और दोनों ही पक्षों के विचारकों ने अपने अपने मतों की पुष्टि में अनेक तर्क उपस्थित किए हैं; परन्तु, यहाँ हम केवल कुछ ही आधुनिक दार्शनिकों के विचारों का विवेचन करेंगे। पहिले हम यन्त्रवाद को लेते हैं और तदुपरान्त प्रयोजनवाद को प्रस्तुत करेंगे।

यन्त्रवाद
(Mechanism)

1. डेकार्टे (Descartes)

आधुनिक दर्शन में यन्त्रवाद का प्रारम्भ फ्रेंच दार्शनिक डेकार्टे से होता है। डेकार्टे दार्शनिक होने के साथ-साथ एक महान् गणितज्ञ भी थे। अस्तु उनके दर्शन पर गणित की भारी छाप पड़ी थी, जो कदापि अस्वाभाविक नहीं है। उन्होंने गणित की विधि के अनुसार सम्पूर्ण विश्व की यन्त्रवादी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि ईश्वर और आत्मा के अतिरिक्त संसार की समस्त वस्तुएँ पुद्गल और गति से विकसित हुई हैं। बड़े ही मार्मिक रूप में वह स्वयं एक स्थान पर कहते हैं, 'यदि मुझे केवल पुद्गल मिल जाय तो मैं समग्र विश्व की रचना कर सकता हूँ।'

2. स्पिनोजा (Spinoza)

स्पिनोजा ने डेकार्टे के यन्त्रवाद में कुछ कमियों का अनुभव किया; अत: उन्होंने अपने दर्शन में उन कमियों को दूर करने का प्रयास किया। जैसा कि ऊपर इङ्गित किया गया है, डेकार्टे ने आत्मा को यन्त्रवाद की परिधि से बाहर रखा था, क्योंकि उनके मत के अनुसार आत्मा स्वभाव से स्वतन्त्र है और यन्त्रवाद में स्वतन्त्रता को कोई स्थान नहीं है। डेकार्टे से अपना मतवैभिन्न्य प्रकट करते हुए स्पिनोजा कहते हैं कि वास्तविकता यह है कि आत्मायें भी यन्त्रवाद की सीमाओं से बाहर नहीं हैं। वे भी विश्व के यान्त्रिक नियमों के उसी प्रकार अधीन हैं जिस प्रकार अन्य निर्जीव वस्तुएँ। उन (आत्माओं) को स्वतन्त्र समझना हमारा बहुत बड़ा भ्रम है; मनुष्य के कार्य भी अपने कारणों से वैसे ही नियन्त्रित हैं जैसे भौतिक जगत् के अन्य कार्य। डेकार्टे ने विचार (Thought) और विस्तार (Extension) को दो भिन्न भिन्न द्रव्यों, मनस् (या आत्मा) और पुद्गल, के गुणों के रूप में माना था। स्पिनोजा केवल एक ही द्रव्य को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि

विचार और विस्तार इसी एक द्रव्य के दो गुण (Attributes) हैं। अस्तु अपने इसी मूल सिद्धान्त के आधार पर वह यह प्रतिपादित करते हैं कि जगत् की वैचारिक (अर्थात् मानसिक) तथा भौतिक घटनायें दोनों समान रूप से द्रव्य के स्वभाव (nature) से नियन्त्रित हैं। उनका मत है कि संसार में न तो कोई स्थान स्वतन्त्रता को है और न ही उद्देश्य या प्रयोजन को। आत्मायें और जड़ पदार्थ दोनों ही विश्व की यान्त्रिक व्यवस्था के कड़े पाश में आबद्ध हैं। जिस प्रकार त्रिभुज की विशेषतायें उसके अपने स्वरूप एवं स्वभाव से निर्धारित होती हैं, उसी प्रकार द्रव्य के स्वरूप तथा स्वभाव से विश्व की समस्त घटनायें भी, चाहे वे विचार के क्षेत्र में हों या बिस्तार के क्षेत्र में, निर्धारित होती हैं। जैसे त्रिभुज की यह एक अनिवार्य विशेषता है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर हो, वैसे ही द्रव्य के लिए यह नितांत आवश्यक है कि उसकी अभिव्यक्ति यह संसार हो।

हमने ऊपर की पंक्तियों में डेकार्टे तथा स्पिनोजा के जिन यन्त्रवादी सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है वे दोनों 'दार्शनिक यन्त्रवाद' ('Philosophical Mechanism') के अन्तर्गत आते हैं। निस्संदेह डेकार्टे के दर्शन में दार्शनिक यन्त्रवाद उतने विकास को प्राप्त नहीं हो पाया है जितना कि स्पिनोजा के दर्शन में। वास्तविकता तो यह है स्पिनोजा के दर्शन में हमें उसके पूर्ण रूप का दर्शन होता है। अब हम आगामी पंक्तियों में संक्षेप में स्पैन्सर (Spencer) तथा डार्विन (Darwin) के यन्त्रवादी सिद्धांतों को उपस्थित करेंगे, जो 'वैज्ञानिक यन्त्रवाद' (Scientific Mechanism) के बड़े महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

3. हर्बर्ट स्पैन्सर (Herbert Spencer)

एमेरिकन दार्शनिक हर्बर्ट स्पैन्सर का विकासवादी सिद्धांत, जिसकी विस्तृत व्याख्या हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं, यन्त्रवादी सिद्धांत है। उनका मत है कि विश्व की आधारभूत सत्ता एक अज्ञेय (Unknowable) सत्ता है, जिसके तीन रूप — पुद्गल, गति और शक्ति हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का विकास इन्हीं तीन रूपों से हुआ है। आरम्भ में पुद्गल गैस के मेघों (Clouds of gass) के सदृश समग्र विश्व में फैला हुआ था। उस समय यह पूर्णरूपेण एकरस अवस्था (homogeneous state) में था और इसमें जटिलता का सर्वथा अभाव था। समय की गति के साथ धीरे धीरे पुद्गल के गैस के मेघ संगठन के यान्त्रिक नियम के अनुसार पहिले घनीभूत हुए, और तदुपरांत विगठन के यांत्रिक नियम से क्रमशः उनका पृथक्करण हुआ। इस प्रकार अगणित सौर-मण्डलों (solar systems)–ग्रहों तथा उपग्रहों की उत्पत्ति हुई। ग्रहों में हमारी पृथिवी भी एक थी। पृथिवी धीरे धीरे ठंडी होने लगी, और जब उस पर युक्त वातावरण का निर्माण हो गया, तब पहिले वनस्पति

की उत्पत्ति हुई और तत्पश्चात जीवन का प्रादुर्भाव हुआ। जीवन अपनी आरम्भिक स्थिति में एकरूप तथा एकरस था; क्रमशः संगठन तथा विगठन के यांत्रिक नियमों से एकरूप तथा एकरस जीव से अनेक प्रकार की जीवयोनियों का विकास हुआ। जीव-धारियों का विकास जब अपनी उच्चतम सीमा तक पहुँचा तब मस्तिष्क एवं चेतना सहित जीव उत्पन्न हुए। स्पैन्सर के अनुसार उनके यांत्रिक विकास का यह अन्तिम सोपान था।

4. डार्विन (Darwin)

यद्यपि स्पैन्सर ने विश्व की यांत्रिक व्याख्या बड़ी ही सुन्दर रीति से करने की चेष्टा की थी और साथ ही साथ जैविक विकास के मूल सिद्धान्त भी निर्धारित किये थे; तथापि जीव-विकास के क्षेत्र में यांत्रिक क्रम को पूर्ण वैज्ञानिक पद्धति से निर्दिष्ट करने का कार्य अब भी शेष रह गया था। यह कार्य इंगलैण्ड के विख्यात जीवशास्त्री (Biologist) डार्विन द्वारा सम्पन्न हुआ। डार्विन का कथन है कि जीव-जगत् के समस्त स्तरों की व्याख्या केवल यांत्रिक नियमों के आधार पर ही की जा सकती है, उनकी व्याख्या करने के हेतु ईश्वर जैसी किसी जगन्नियंत्री शक्ति के अस्तित्व की कल्पना करने की कदापि आवश्यकता नहीं है। उन (डार्विन) के अनुसार यह संसार एक अत्यन्त विशाल यंत्र के सदृश है जो कुछ नियमों के अनुसार चला करता है। इन नियमों को प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) कहा जाता है और इन्हीं के अनुसार संसार के समस्त परिवर्तन हुआ करते हैं। उदाहरण के रूप में 'प्राकृतिक चुनाव' (Natural Selection) तथा 'योग्यतम का अवशेष' (Survival of the Fittest) आदि ऐसे नियम हैं। डार्विन कहते हैं कि पृथिवी पर जीवन का उद्गम हो जाने के उपरान्त अधिकाधिक ऊँची योनियों का विकास भी उक्त यांत्रिक नियमों के आधार पर ही हुआ है।

समालोचना

(1) यंत्रवादी दार्शनिकों की यह गर्वोक्ति है कि उनके द्वारा दी गई सृष्टि की घटनाओं की व्याख्या सर्वाधिक सफल व्याख्या है। वैज्ञानिक एवं सफल व्याख्या का लक्षण है 'कम से कम संप्रत्ययों (Concepts) के द्वारा व्याख्या करना'। यंत्रवादी कहते हैं कि उन्होंने केवल तीन प्रत्ययों – पुद्गल गति एवं शक्ति के द्वारा ही विश्व की व्याख्या कर दी है; इससे अधिक सरल और कौन सी व्याख्या हो सकती? परन्तु यदि यंत्रवादियों से यह कहा जाय कि तीन प्रत्ययों के स्थान पर केवल एक प्रत्यय 'ईश्वर' (जो एक सर्वशक्तिमान एवं चेतन सत्ता है) के द्वारा ही संसार की व्याख्या की जा सकती है, तब क्या वे यह स्वीकार नहीं करेंगे कि उनकी व्याख्या से भी अधिक सरल एवं सफल यह दूसरी व्याख्या है?

(2) आधुनिक विज्ञान की अनेक गवेषणायें भी विश्व की यांत्रिक व्याख्या

का अनेक क्षेत्रों में निराकरण करती हैं। इन गवेषणाओं ने यह प्रमाणित कर दिया है कि नक्षत्रों और परमाणुओं की गति–विधियों पर यांत्रिक नियम कदापि लागू नहीं होते। परमाणुओं की गति के विषय में तो विज्ञान की एक बड़ी ही अनोखी घोषणा है; वह है — 'अनियन्त्रितता का नियम' (Principle of Indeterminacy)। यंत्रवाद पर विज्ञान द्वारा इससे बड़ा प्रहार और क्या हो सकता है ?

(3) जब हम अपने दैनिक जीवन में जहाँ कही भी थोड़ी सी व्यवस्था एवं जटिलता का दर्शन करते हैं तो उसकी पृष्ठभूमि में किसी कुशाग्र बुद्धि की ही कल्पना करते हैं। इसी प्रकार व्यवस्था, सामञ्जस्य एवं जटिलता से परिपूर्ण इस अत्यन्त विशाल सृष्टि को देखकर दार्शनिकों का यह अनुमान नितान्त स्वाभाविक एवं तर्क संगत है कि इसकी रचना किसी ऐसी सत्ता ने की है जो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति-सम्पन्न है। स्पैन्सर ने इस विश्व की आधारभूत सत्ता एक अज्ञात सत्ता बताई है, जिसके मुख्य रूप (Forms) पुद्गल, गति एवं शक्ति हैं। यदि वह इस अज्ञात सत्ता को 'अंध' न बताकर 'चेतन' कहते तो उनकी जगत् के व्यापारों की व्याख्या अधिक युक्तियुक्त होती। केवल जड़-तत्त्व तथा बुद्धिहीन भौतिक शक्तियों द्वारा विश्व की व्याख्या करने की चेष्टा का उपहास करते हुए बड़े ही रोचक ढंग से एक विचारक ने कहा है कि इस सुन्दर एवं सुव्यवस्थित संसार को अन्ध भौतिक परमाणुओं का परिणाम कहना उतनी ही बड़ी मूर्खता है जितनी बड़ी मूर्खता है यह कहना कि शैक्सपियर (Shakeshpeare) के महान् नाटक 'हैम्लेट' (Hamlet) की रचना इंगलैण्ड के एक मुद्रणालय के आकस्मिक विस्फोट से स्वत: ही हो गई।

(4) यांत्रिक नियमों के द्वारा जीव-जगत् की व्याख्या करना इसलिये भी सम्भव नहीं है क्योंकि जीव और यंत्र में कुछ ऐसे मौलिक भेद हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ये भेद निम्न प्रकार से हैं:—

(क) यंत्र मनुष्य की सृष्टि है, जब कि जीव की उत्पत्ति नैसर्गिक रूप से स्वत: होती है। कोई भी व्यक्ति अपने बुद्धिकौशल से जीव का सृजन नहीं कर सकता।

(ख) यंत्र के अवयवों में बाह्य सम्बन्ध (External relation) होता है, किन्तु जीव के अवयवों (अर्थात् अंगों) में आन्तरिक सम्बन्ध (Internal relation) होता है। यंत्र के अवयवों में बाह्य सम्बन्ध का अभिप्राय यह है कि यंत्र को अपने अवयवों पर पूर्णतया निर्भर करना पड़ता है, परन्तु यंत्र के अवयव यंत्र पर कदापि निर्भर नहीं करते। यंत्र का एक भी अवयव यदि न हो या वह ठीक कार्य न करता हो तो सम्पूर्ण यंत्र की ही क्रिया बंद हो जाती है; परन्तु यंत्र के अवयव यंत्र से पृथक भी अपने ही रूप में विद्यमान रहते हैं। उदाहरण के रूप में स्प्रिंग के न रहने पर अथवा उसके बिगड़ जाने पर घड़ी एकदम कार्य करना बन्द कर देती है, किन्तु स्प्रिंग घड़ी से

पृथक् भी रह सकता है। दूसरी ओर जीव के शरीर और उसके अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध सर्वथा दूसरे ढंग का होता है। यहाँ अंग और अंगी एक दूसरे पर पूर्ण रूपेण आधारित रहते हैं। शरीर के किसी अंग, जैसे कि आँख, नाक, कान आदि को यदि शरीर से पृथक् कर दिया जाता है तो उससे केवल शरीर की ही क्षति नहीं होती, वरन् वह अंग भी पूर्णतया शक्तिहीन हो जाता है।

(ग) यंत्र किसी बाह्य शक्ति से परिचालित किया जाता है, इस बाह्य शक्ति के बिना वह चल ही नहीं सकता। परन्तु जीव अपने संचालन के लिए किसी बाह्य चालक पर आधारित नहीं रहता, वह अपना परिचालन स्वयं कर सकता है। पुनः, यंत्र में आत्मनियन्त्रण की शक्ति नहीं होती, परन्तु जीव में यह शक्ति होती है।

(घ) यंत्र में वंशवर्द्धन की क्षमता नहीं होती, किन्तु जीव में यह क्षमता होती है।

(ङ) यंत्र का अपना कोई उद्देश्य नहीं होता, वह जीवों के उद्देश्यों की पूर्ति किया करता है। परन्तु जीव का अपना उद्देश्य होता है; उसके कार्य कलाप अपने प्रयोजनों की सिद्धि-हेतु ही हुआ करते हैं दूसरों के लिए नहीं।

(5) यंत्रवादियों का कथन है कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान (Physics) तथा रसायन विज्ञान (Chemistry) के क्षेत्रों में उसकी यांत्रिक व्याख्यायें सफल हुई हैं, उसी प्रकार जीव-विज्ञान के क्षेत्र में भी भविष्य में उन्हें गम्भीर सफलता की आशा है। इस विषय में पहली बात तो यह है कि गत पचास वर्षों की वैज्ञानिक खोजों ने तो यांत्रिक नियमों की सार्वभौमिकता के विरोध में ही प्रमाण दिये हैं, पक्ष में नहीं। दूसरी बात यह है कि यंत्रवादियों की इस प्रकार की आशा उनकी आशा या विश्वास मात्र ही कहा जा सकता है, इसे हम तर्क की संज्ञा तो कदापि दे ही नहीं सकते।

(6) मनस् के क्षेत्र में तो यांत्रिक व्याख्या और भी अधिक विफल हो जाती है। कारण यह है कि मनस् अपनी क्रियाओं में स्वाधीन है और यंत्र अपनी क्रियाओं में कार्य-कारण के नियम के आधीन है। यंत्र के विषय में यह पहले से ही जाना जा सकता है किस परिस्थिति में उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, परन्तु मनस् के विषय में ऐसा नहीं जाना जा सकता।

(7) यंत्रवाद का मूलभूत नियम है — 'वर्त्तमान की भूत से व्याख्या करना, अर्थात् वर्त्तमान की स्थिति को कार्य समझ कर भूत की स्थिति में उसके कारण को इंगित करना। किन्तु मानव यवहार की क्रियाओं में यह नियम सर्वथा असंगत दीख पड़ता है। हम कोई कार्य इसलिए नहीं करते कि भूनकालीन स्थिति के द्वारा उसे करने के लिए बाध्य हुए हैं, वरन् इसलिए करते हैं कि हमारे सम्मुख भविष्य का एक उच्च आदर्श है, एक आकर्षक चित्र है, जिसकी प्राप्ति के लिए हमारे हृदय

में तीव्र उत्कण्ठा है। 'हमारे व्यवहार का कारण भविष्य का आदर्श अथवा चित्र होना' — यह तथ्य स्पष्ट ही यन्त्रवाद का खण्डन और प्रयोजनवाद का मण्डन करता है।

प्रयोजनवाद
(Teleology)

प्रयोजनवाद के दो प्रकार हैं : बाह्य प्रयोजनवाद (External Teleology) और आन्तरिक प्रयोजनवाद (Internal Teleology)। हम निम्न पंक्तियों में क्रमेण दोनों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं :

बाह्य प्रयोजनवाद
(External Teleology)

बाह्य प्रयोजनवाद का सिद्धान्त जगत् और इसके सृष्टा में एक बाह्य सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। यह जगत् की रचना का प्रयोजन संसार के बाहर ईश्वर के मनस् में मानता है। प्राचीनकाल में कुछ दार्शनिकों ने संसार के घटना-क्रम की व्याख्या इसी सिद्धांत के द्वारा की थी। इसके अनुसार ईश्वर जगत् का निर्माण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार एक घड़ीसाज घड़ी का। घड़ीसाज घड़ी के निर्माण की एक योजना बनाता है। यह योजना पहिले उसके मस्तिष्क में होती है और तब वह इसके अनुसार घड़ी की रचना करता है। इस प्रकार घड़ी की रचना से घड़ीसाज अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। इस रचना में घड़ी के अपने प्रयोजन की कोई सिद्धि नहीं होती। ठीक यही बात संसार के सृजन की भी है। ईश्वर संसार की रचना अपने उद्देश्य की पूर्ति-हेतु करता है; उस उद्देश्य से संसार का कोई सम्बन्ध नहीं होता, वह घड़ी-साज के उद्देश्य के सदृश ईश्वर के मनस् में ही विद्यमान रहता है।

आलोचना

(1) तर्कशास्त्र की दृष्टि से बाह्य प्रयोजनवाद का सिद्धांत दोषयुक्त है, क्योंकि यह सिद्धांत ईश्वर और जगत् में कोई अनिवार्य या स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं बताता। इसके अनुसार न तो जगत् ही ईश्वर के लिए आवश्यक है, और न ही ईश्वर सृष्टि की रचना के पश्चात् जगत् के लिए आवश्यक है।

(2) इस सिद्धांत का दूसरा दोष यह है कि यह ईश्वर के प्रत्यय (Concept) को ही दूषित कर देता है। इसके अनुसार ईश्वर जगत् के बाहर है। प्रश्न उपस्थित

होता है कि यदि ईश्वर जगत् के बाहर है, उसके अन्दर नहीं है, तब वह (अर्थात् ईश्वर) अनन्त एवं असीम कैसे हो सकता है ?

आन्तरिक प्रयोजनवाद

(Internal Teleology)

आन्तरिक प्रयोजनवाद, बाह्य प्रयोजनवाद के विपरीत, संसार और इसके रचयिता में आन्तरिक सम्बन्ध की स्थापना करता है। यह संसार के सृजन का उद्देश्य संसार में ही निहित मानता है। हीगेल, ग्रीन (Greene), ब्रैडले (Bradley) बोसाँक (Bosanquet), लोट्ज़े (Lotze) आदि इसके प्रमुख समर्थक माने गए हैं। इसके अनुसार यह जगत् एक चेतन सत्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है। यह सत्ता विश्व में सर्वत्र व्याप्त तथा अनुस्यूत है। संसार से इसका अंगांगी का सम्बन्ध है। जिस प्रकार जीव-देह अपने अंग-प्रत्यंगों द्वारा अपने प्रयोजनों का सम्पादन करता है; उसी प्रकार विश्व में व्यापक चेतन सत्ता संसार की रचना द्वारा अपने स्वरूप का साक्षात्कार करती है और स्वचेतना को प्राप्त होती है। अपने स्वरूप का साक्षात्कार और स्वचेतना की प्राप्ति ही जगत् के निर्माण का मूल प्रयोजन है।

समर्थक युक्तियाँ

(1) प्रकृति पर दृष्टिपात करने से हमें चारों ओर साधन और साध्य में सामंञ्जस्य का दर्शन होता है। उदाहरण के रूप में मनुष्यों के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि वे जारक (Oxygen) लें और प्रांगार-द्विजारेय (Carbon-di-oxide) को फेफड़ों से बाहर निकालें, और वे स्वभावतः यही करते हैं। इसके एकदम बिपरीत पेड़-पौधों के लिए आवश्यक है कि प्रांगार-द्विजारेय लें और जारक बाहर निकालें, और स्वभावत: वे भी यही करते है। कितना सुन्दर सामंजस्य है यह मनुष्यों और पेड़-पौधों में ! कल्पना कीजिए कि यदि स्थिति इसके विपरीत होती तब क्या मनुष्यों अथवा पेड़-पौधों में से कोई भी रह पाता ? स्पष्ट है कि जीव जगत् तथा वनस्पति जगत् में साधन साध्य का यह योग इस परिकल्पना को बहुत सीमा तक पुष्ट करता है कि प्रकृति में प्रयोजन है।

(2) विश्व विकास-क्रम में निश्चित रूप से एक योजना दिखाई देती है। अपनी पुस्तक "Fitness of the Environment" में हैण्डर्सन (Henderson) कहते हैं कि प्रकृति जीवन की उत्पत्ति के पूर्व जीवन के अनुकूल वातावरण (Atmosphere) निर्माण करने में संलग्न रहती है। आरम्भ में हमारी पृथ्वी एक आग के गोले के सदृश थी। धीरे-धीरे इसका तापक्रम कम हुआ। इस प्रक्रिया में संगठन तथा विगठन के नियमों से इसमें स्थान स्थान पर सिकुड़नें पड़ गयीं। इन सिकुड़नों ने ही कहीं पर पर्वतों का रूप ग्रहण कर लिया और कहीं पर अति विशाल गड्ढों

का। तब वायुमण्डल से आकर्षित जल-कणों ने गड्ढों को जल से परिपूर्ण कर दिया और इस प्रकार पृथिवी पर झीलों और समुद्रों का उद्भव हुआ। पृथिवी की यह स्थिति वनस्पति को उत्पन्न करने योग्य थी, अस्तु इस पर विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार जब जीव के लिए सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री तथा वातावरण का निर्माण हो गया, तब जीव की उत्पत्ति हुई। हैण्डर्मन का मत है कि विश्व-विकास का यह क्रम यह सिद्ध करता है कि विश्व जीवन-केन्द्रीय (Biocentric) है। डा० सिन्हा हैण्डर्सन के मत को अधूरा बताते हैं और कहते हैं कि विश्व-विकास का इतना सुन्दर क्रम स्वीकार करके उन (हैण्डर्सन) का विश्व को केवल जीवन-केन्द्रिय कह कर रुक जाना अपर्याप्त है। जीवन के आविर्भाव के लिए वातावरण की इतनी बड़ी तैय्यारी किसी चेतन सत्ता की उत्प्रेरणा के बिना कदापि सम्भव ही नहीं है।

(3) सृष्टि के प्रत्येक स्तर पर हमें एक तारतम्य का दर्शन होता है। विकास-क्रम का पूर्व स्तर आगामी स्तर के लिए एक प्रकार की भूमिका, एक प्रकार की तैय्यारी है, और वह आगामी स्तर उससे आगे के स्तर का आवश्यक साधन है। उदाहरण के रूप में वनस्पति की उत्पत्ति के लिए क्योंकि जड़-तत्व की आवश्यकता है अतः, जैसा कि हमने ऊपर के अनुच्छेद[1] में देखा है, सृष्टि में वनस्पति के पूर्व ज़ड़-तत्व का उद्भव होता है, और क्योंकि जीवन के लिए वनस्पति की आवश्यकता है, अतः जीवन से पूर्व वनस्पति की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार क्योंकि चेतना के लिये जीव-देह आवश्यक है, अतः चेतना से पूर्व जीव-देह का आगमन होता है। सृष्टि-विकास के इस क्रम से स्पष्ट यह झलकता है कि सृष्टि प्रयोजनमयी है।

(4) प्रकृति में सर्वत्र प्राकृतिक समायोजन (Natural adaptation) के प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरण के रूप में वृक्ष पर ही विचार कीजिए। वृक्ष की पत्तियाँ वायुमण्डल से कार्बन-डाई-आक्साइड लेती हैं और इस प्रकार फेफड़ों का कार्य करती हैं। जड़ें पृथिवी से तरी खींचती हैं और तना वायु के भयावह एवं वेग-पूर्ण झकोरों से वृक्ष की रक्षा का कार्य करता है। इसकी मोटी छाल इसके अन्दर के कोमल भागों को सुरक्षित रखती है। पुनः हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न भौगोलिक परिवेशों में भिन्न भिन्न प्रकार के पशु-पक्षी मिलते हैं जिनके शरीरों की रचना इस प्रकार की होती है कि वे उन विशिष्ट परिवेशों में सुविधापूर्वक जीवन यापन कर सकते हैं। पर्वतों तथा शीतपूर्ण स्थानों में रहने वाले पशु-पक्षियों के शरीर पर बड़े-बड़े बाल होते हैं जिससे उन पर शीत का प्रभाव अधिक नहीं होता। रेगिस्तानों में पाये जाने वाले ऊँटों को बहुत दिनों तक प्यास ही नहीं लगती, और उनकी गर्दनें इतनी लम्बी

1. Paragraph

होती हैं कि वे ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की पत्तियाँ बड़ी ही सरलता से ले लेते हैं। इस प्रकार इस प्राकृतिक सामञ्जस्य से क्या यह विदित नहीं होता है कि प्रकृति यन्त्रवत् नहीं वरन् उद्देश्यात्मक है !

(5) यन्त्रवाद की आलोचना में ऊपर यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि जीव-जगत् में कार्य-कारण का यान्त्रिक नियम विफल हो जाता है और इस क्षेत्र के क्रिया-कलापों की समुचित व्याख्या प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से ही की जा सकती है। प्रो० पैट्रिक भी इस क्षेत्र में यान्त्रिक व्याख्या का निराकरण करते हैं। उनका कथन है कि जीव-जगत् की घटनाओं के विषय में केवल इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि 'ब' 'अ' का कार्य (effect) है, वरन् यह भी कहना आवश्यक है कि 'ब' के लिए ही 'अ' का अस्तित्व है, और ऐसा कहना प्रयोजनात्मक व्याख्या को स्वीकार कर लेना है।

(6) यन्त्रवाद का सबसे बड़ा आधार है 'कार्य-कारण का नियम'। परन्तु क्या हम यन्त्रवादियों से यह नहीं पूछ सकते कि अन्ततोगत्वा विश्व की घटनायें इस नियम में आबद्ध ही क्यों है ? क्यों नहीं विश्व की घटनायें बिना किसी कारण के घटित हो जाती ? क्यों नहीं सर्वत्र अस्तव्यस्तता व्याप जाती ? इन प्रश्नों का उत्तर उन (यन्त्रवादियों) के पास केवल यही हो सकता है कि यदि विश्व का घटना-क्रम कार्यकारण के नियम में आबद्ध न हो तो सब कुछ अव्यवस्थित हो जायेगा और ऐसी स्थिति में हमारा जीवन ही असम्भव हो जाएगा। विचार कीजिए कि क्या उनके इस उत्तर में सृष्टि में विद्यमान व्यवस्था का स्पष्ट संकेत नहीं छिपा है ?

(7) अपनी पुस्तक 'दर्शन की भूमिका' (Introduction to Philosophy) में प्रोफैसर पैट्रिक ने विश्व की प्रयोजनात्मकता के पक्ष में एक बड़ा ही सुन्दर तर्क प्रस्तुत किया है। वह कहते हैं कि यह तो सभी को मान्य है कि विश्व केवल परिवर्तनशील ही नहीं वरन् विकासशील तथा ऊर्ध्वगामी भी है। प्रश्न उपस्थित होता है कि इस ऊर्ध्वगामी वृत्ति का कारण क्या है ? क्या कोई शक्ति इसे पीछे से ढकेल रही है, अथवा कोई शक्ति इसे आगे से खींच रही है?[1] यन्त्रवादी विचारक कहते हैं कि यांत्रिक शक्तियाँ या कार्यकारण के नियम के अनुसार इसे पीछे से ढकेल रही हैं। प्रयोजनवादियों का कथन है कि आध्यात्मिक शक्तियाँ, प्रयोजनों तथा आदर्शों के रूप में, इसे आगे से खींच रही हैं। इन दोनों व्याख्याओं में कौन सी व्याख्या अधिक उपयुक्त है, इसका परीक्षण हम अपने अनुभव से कर सकते हैं। हम किसी परीक्षा के लिए परिश्रम करते हैं, अहर्निश अध्ययन में जुटे रहते हैं। एक शिल्पकार एक प्रतिमा के निर्माण के लिए अथक साधना करता है ; स्वयं को भूल

---

1. **"Is it push or pull ?"**

जाता है। यह सब कैसे होता है ? हमसे अथवा शिल्पकार से इतना परिश्रम क्यों हो जाता है ? क्या यह सब इसीलिए कि हमारे मस्तिष्क (Brain) में कुछ ऐसे भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन होते हैं जो बलात् हमें परिश्रम करने के लिये बाध्य कर देते हैं ? अर्थात् क्या कुछ यांत्रिक शक्तियाँ (भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तनों के रूप में) हमें इतना परिश्रम करने के लिये पीछे से ढकेलती हैं ? अनुभव यह बताता है कि यह परिकल्पना, नितान्त अयुक्त है। हम अध्ययन में परिश्रम इसलिए करते हैं कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने या उत्तम श्रेणी प्राप्त करने का उद्देश्य हमारे सम्मुख रहता है। शिल्पकार मूर्ति-निर्माण में अश्रान्त[1] साधना इस हेतु करता है कि सौन्दर्य-सृष्टि का आकर्षक लक्ष्य उसके सामने रहता है। वास्तविकता यह है कि मानव-जगत् में ऊर्ध्वगामी गति सर्वत्र आदर्शों, मूल्यों तथा प्रयोजनों के आकर्षण से ही होती है। अस्तु यही कहना सर्वाधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि विश्व प्रयोजनमय है।

यंत्रवाद और प्रयोजनवाद में अन्तर

(Difference between Mechanism and Teleology)

यंत्रवाद और प्रयोजनवाद की विवेचना करने के पश्चात् अब हम अपने पाठकों के सुस्पष्ट बोध के लिए इन दोनों सिद्धान्तों के अन्तर निम्न तालिका में प्रस्तुत करते हैं :—

यंत्रवाद	प्रयोजनवाद
1. विश्व की यांत्रिक व्याख्या करना।	1. विश्व की प्रयोजनात्मक व्याख्या करना।
2. प्रकृति को एक विशाल यंत्र के रूप में समझना।	2. प्रकृति को चेतन समझकर उसमें प्रयोजन मानना।
3. सृष्टि के विभिन्न स्तरों में परिमाणात्मक भेद मानना।	3. सृष्टि के विभिन्न स्तरों में गुणात्मक भेद मानना।
4. जड़-जगत्, जीव-जगत् तथा चेतना-जगत् की घटनाओं में मौलिक अंतर न करना।	4. जड़-जगत्, जीव-जगत् तथा चेतना-जगत् की घटनाओं में मौलिक अंतर करना।
5. यंत्र और सावयव रचना (organic structure) में भद न मानना	5. यंत्र और सावयव रचना में भेद मानना।
6. जड़वादी दर्शन पर आधारित होना।	6. प्रायः अध्यात्मवादी दर्शन पर आधारित होना।

1. Unfatigued.

विभिन्न विश्व-विद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. विश्व के सम्बन्ध में यंत्रवादी धारणा का परीक्षण करिये । उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के लिए अपनी युक्तियाँ दीजिए ।
Explain the mechanistic conception of this universe giving reasons for accepting or rejecting it.

2. यंत्रवाद के मुख्य सिद्धान्तों की आलोचना कीजिए ।
Discuss critically the main principles of mechanism.

3. विश्व की यंत्रवादी तथा प्रयोजनवादी व्याख्याओं को समझाइये । इनमें आप किसे अधिक सन्तोषप्रद समझते हैं और क्यों ?
Explain tne mechanistic and teleological conceptions of the universe. Which of them do you find more satisfactory and why ?

4. क्या सृष्टि रचना का कोई प्रयोजन है ? अपने बिचारों की पुष्टि तर्क द्वारा कीजिए ।
Is there is a purpose in creation ? Support your views with arguments.

5. यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद में क्या अन्तर हैं ?
Distinguish between mechanism and teleology.

षष्ठ अध्याय

बहुतत्त्ववाद, द्वितत्त्ववाद और एकतत्त्ववाद

(Pluralism, Dualism and Monism)

सृष्टि के ऊषा काल से ही दार्शनिकों की गवेषणा का यह एक अत्यधिक प्रिय विषय रहा है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि क्या एक ही तत्व की अभिव्यक्ति है, या दो की, अथवा अनेक की ? अपनी खोजों के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न दार्शनिक इस विषय में भिन्न-भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। कुछ दार्शनिक विश्व के अगणित नक्षत्रों, पर्वतों, वन-उपवनों, नदियों, वनस्पतियों तथा जीव-जन्तुओं की विविधताओं से बहुत अधिक प्रभावित हुए। विश्व की विविधता एवं विलक्षणता को देखकर उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह विशाल विश्व 'अनेक' मूल तत्वों से उद्भूत हुआ है। कुछ अन्य दार्शनिकों के निरीक्षण में यह बात आई की इस संसार में प्रायः दो प्रकार की वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं — एक चेतन और दूसरी अचेतन। अस्तु ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार के मूल में केवल 'दो ही' तत्व हैं, एक मनस् जो चेतन है और दूसरा पुद्गल जो अचेतन है। एक और श्रेणी के विचारक भी हुए, जिन्होंने कहा कि इस विविधात्मक संसार के विषय में जब हम गहराई से चिन्तन करते हैं तो हमें शीघ्र ही यह दीखने लगता है कि इस संसार की बहुत सी वस्तुएँ एक ही वस्तु के अनेक रूप हैं। जैसे कि काष्ठ से बनी मेज और कुर्सियों को देखकर हम यह सहज कह देते हैं कि ये सब काष्ठ के ही विकार (changed forms) हैं, और इसी प्रकार लौह-निर्मित विविध पदार्थों को देखकर हम तुरन्त घोषित कर देते हैं कि ये सब लोहे के ही परिवर्तित रूप हैं। इस श्रेणी के दार्शनिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि जगत् की अनेकता की पृष्ठभूमि में 'एकता ही छिपी है, और विश्व के जड़ और चेतन सभी पदार्थ एक ही अन्तिम तत्व के विविध रूप हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सृष्टि के अन्तिम तत्व' के प्रश्न पर दार्शनिक मुख्य रूप से निम्न तीन वर्गों में विभाजित हो गये :

(1) बहुतत्ववाद (Pluralism) जिसके अनुसार सृष्टि के अनेक मूल तत्व हैं।

(2) द्वितत्ववाद (Dualism), जिसके अनुसार सृष्टि के अन्तिम तत्व केवल दो हैं।

(3) एकतत्ववाद (Monism), जिसके अनुसार सृष्टि का आधारभूत तत्व केवल एक है।

अब हम उपर्युक्त सत्तामीमांसीय तीनों सिद्धांतों की क्रमेण विवेचना करेंगे

बहुतत्ववाद
(Pluralism)

सत्तामीमांसा के इस सिद्धांत के अनुसार, जैसा कि इसके नाम से विदित होता है, विश्व में अनेक अन्तिम सत्तायें या तत्व हैं। यह सृष्टि की बहुरूपता, भिन्नता एवं विलक्षणता पर बल देता है। इसकी मान्यता है कि यह संसार अगणित स्वतन्त्र सत्ताओं (Independent realities) का एक यान्त्रिक समूह है। इस सिद्धांत के प्रतिपादक दार्शनिक विश्व में विद्यमान असंख्य पशु-पक्षियों, विशाल एवं गगनचुम्बी पर्वत श्रेणियों, अत्यन्त विस्तृत-वनों, ग्रहों तथा उपग्रहों की विलक्षणताओं एवं भिन्नताओं को देखकर यह घोषित करते हैं कि ये सब विविधतायें किन्हीं दो या एक तत्वों में परिणत नहीं की जा सकती; ये विविधतायें मूलत: विविधतायें ही हैं और सृष्टि के मूल में ही अनेक या बहु तत्व हैं।

बहुतत्ववाद का इतिहास

दर्शन शास्त्र के इतिहास में बहुतत्ववाद के निम्नलिखित चार मुख्य रूप दृष्टिगोचर होते हैं :—

(1) यूनानी बहुतत्ववाद (Greek Pluralism)
(2) आध्यात्मिक बहुतत्ववाद (Spiritualistic Pluralism)
(3) व्यवहारवादी बहुतत्ववाद (Pragmatic Pluralism)
(4) नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी बहुतत्ववाद (Neo-realistic Pluralism)

1. यूनानी बहुतत्ववाद

यूनानी दर्शन में बहुतत्ववाद का सर्वप्रथम उदाहरण इम्पीडोकिल्स (Empedocles) के दार्शनिक सिद्धान्त में मिलता है। इम्पीडोकिल्स ने इस सृष्टि के चार मूल तत्व माने हैं — वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी। इम्पीडोकिल्स के पश्चात् ल्यूसिपस (Leucippus) के शिष्य डैमोक्रीटस (Democritus) ने यूनान में बहुतत्ववाद का प्रतिपादन किया। डैमोक्रीटस के अनुसार इस विश्व के अन्तिम तत्व असंख्य भौतिक परमाणु (Material Atoms) हैं जो सदैव गतिमान रहते हैं। ये परमाणु गति को किसी बाह्य शक्ति या तत्व से प्राप्त नहीं करते, गतिशीलता

उनका स्वभाव ही है। ये भिन्न भिन्न मात्राओं में एक दूसरे से मिश्रित होकर संसार के विविध पदार्थों को जन्म देते हैं। इन (परमाणुओं) का कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है, इनकी गति कुछ यान्त्रिक नियमों से नियन्त्रित (determined) होती है और इसी हेतु सृष्टि में किसी आकस्मिक घटना के घटित होने की कोई सम्भावना नहीं है। यान्त्रिक नियमों द्वारा परिचालित ये भौतिक परमाणु अपने विकासक्रम के विभिन्न सोपानों पर प्राण और चेतना दोनों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार डैमोक्रीटस के मत से विश्व के समस्त पदार्थों की व्याख्या केवल जड़ परमाणुओं से की जा सकती है।

एपीक्यूरस का मत है कि इस संसार का न कभी सृजन होता है और न ही कभी विनाश, यह परमाणुओं की क्रीड़ा मात्र है जो रिक्त देश (Empty space) में घूमते रहते हैं। इन परमाणुओं की क्रीड़ा एक अन्ध क्रीड़ा है जो सर्वथा प्रयोजन-रहित है। केवल यांत्रिक नियमों के आधार पर संसार की व्याख्या की जा सकती है। आत्मा के विषय में एपीक्यूरस कहते हैं कि वह पूर्णत: भौतिक है और अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल (fine matter) से बना है। देह के नष्ट होने के साथ-साथ वह भी नष्ट हो जाता है।

रोम के विख्यात दार्शनिक कवि ल्यूक्रीश्यस (Lucretius) ने तथा एपीक्यूरस के परमाणुवादी भौतिकवाद का समर्थन किया। उन्होंने भी जगत् की व्याख्या रिक्त देश में घूमने वाले परमाणुओं द्वारा की। परन्तु उनका मत है कि परमाणु अपनी गति में स्वतन्त्र हैं, और इसी कारण नीचे की ओर गति में वे मुड़ जाते हैं और विकसित शरीरों के केन्द्र बन जाते हैं।

2. आध्यात्मिक बहुतत्ववाद

आध्यात्मिक बहुतत्ववाद के सिद्धान्त के साथ मुख्य रूप से जर्मन दार्शनिक लाइब्नित्ज़ का नाम जुड़ा है। लाइब्नित्ज को हम आध्यात्मिक बहुतत्ववाद का पिता कह सकते हैं। उनका मत चिद्बिन्दुवाद (Monadology) कहलाता है, क्योंकि उनके अनुसार विश्व के अन्तिम तत्व आध्यात्मिक परमाणु हैं जिन्हें वह चिद्बिन्दु के नाम से पुकारते हैं।

(क) चिद्बिन्दुओं का स्वरूप

लाइब्नित्ज़ कहते हैं कि चिद्बिन्दु अप्रसारित, अभौतिक पदार्थ हैं जो स्वभावत: आत्म-क्रियाशील (self-active) हैं। ये भौतिक बिन्दुओं (Physical-Points) तथा गणितीय बिन्दुओं (Mathemetical-points) से सर्वथा भिन्न हैं। ये तत्त्वमीमांसीय बिन्दु (Metaphysical points) हैं। भौतिक बिन्दुओं से ये इसलिए भिन्न हैं कि इनमें कोई प्रसार नहीं है, और गणितीय बिन्दुओं से इनका अन्तर इस कारण से है कि ये बाह्य सत्तायें (objective realities) हैं। लाइब्नित्ज का मत है कि

ये चिद्बिन्दु अनादि, अनन्त एवं नित्य हैं, और साथ ही साथ ये निरवयव, अवि-भाज्य तथा चेतन भी हैं । चिद्बिन्दुओं को एक ही चित् शक्ति के खण्ड नहीं कह सकते, क्योंकि प्रथम चित् शक्ति अविभाज्य है, और दूसरे यदि हम चिद्-बिन्दुओं को एक ही चित् शक्ति के विभिन्न खण्ड या रूप मान लें, तो उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता समाप्त हो जायेगी और वे एक सार्वभौम चित् शक्ति की छायामात्र बनकर रह जायेंगे ।

(ख) चिद्बिन्दुओं के प्रकार–भेद

लाइब्नित्ज चिद्बिन्दुओं में किसी प्रकार के गुणात्मक भेद नहीं मानते । उनके अनुसार इन (चिद्बिन्दुओं) में केवल परिमाणात्मक भेद हैं । संसार में विद्यमान अनेक प्रकार की विविधतायें इन्हीं परिमाणात्मक भेदों के कारण हैं । इन्हीं भेदों के अनुसार लाइब्नित्ज ने चिद्बिन्दुओं को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है । प्रथम श्रेणी के चिद्बिन्दुओं से जड़तत्व निर्मित हुआ है । इसमें चैतन्य सुप्त रूप में विद्यमान रहता है । इसे हम चैतन्य का क्षीणतम स्तर कह सकते हैं । द्वितीय श्रेणी के चिद्बिन्दु वे हैं जिनसे वनस्पति-जगत् बना है । इसमें चैतन्य स्वप्न जैसी अवस्था में स्थित रहता है । यह चैतन्य का क्षीणतर स्तर है और यहां प्राण का स्पन्दन सूक्ष्म रूप में होने लगता है । तृतीय वर्ग के चिद्बिन्दु चेतन चिद्बिन्दु होते हैं और यह स्तर पशुजगत का स्तर है । यहाँ पशुओं का क्षीण ज्ञान दिखाई पड़ता है । चतुर्थ श्रेणी के चिद्बिन्दु स्व-चेतन चिद्बिन्दु होते हैं जिन्हें मानव कहा जाता है । पांचवी श्रेणी में केवल एक परम चिद्बिन्दु है जिसे लाइब्नित्ज ईश्वर कहते हैं । परम चिद्बिन्दु का ज्ञान स्पष्टतम एवं पूर्ण ज्ञान है । यह अन्य सभी चिद्बिन्दुओं की सृष्टि करता है ।

लाइब्नित्ज़ कहते हैं कि संसार में जितने भी जीवधारी हैं वे अनेक चिद्-बिन्दुओं के समूह हैं । प्रत्येक जीवधारी में अर्थात् चिद्बिन्दुओं के एक समूह में एक चिद्बिंदु मुख्य होता है जिसे उस जीवधारी की आत्मा कहा जाता है । यह चिद्-बिन्दु जागृत तथा स्व–चेतन होता है; और अन्य चिद्बिन्दु, जिनका समूह उसका शरीर है, सुप्तावस्था में होते हैं ।

(ग) प्रत्येक चिद्बिन्दु दूसरे चिद्बिन्दुओं से निरपेक्ष है

एक प्रमुख बात लाइबनित्ज के आध्यात्मिक बहुतत्ववाद में यह है कि वह प्रत्येक चिद्बिन्दु को दूसरे सामान्य चिद्बिन्दुओं से सर्वथा निरपेक्ष मानते हैं । उनके अनुसार प्रत्येक चिद्बिन्दु केवल ईश्वर पर ही निर्भर करता है । वह एक बन्द कमरे के सदृश होता है जिसमें कोई वातायन (Window) नहीं होता, अर्थात् अन्य चिद्बिन्दुओं से उसका आदान प्रदान आदि किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

(घ) पूर्व स्थापित सामञ्जस्य[1]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब प्रत्येक चिद्‌बिन्दु एक स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष सत्ता है और दूसरे चिद्‌बिन्दुओं से उसका कोई सम्पर्क नहीं है, तो फिर विभिन्न व्यक्तियों में परस्पर व्यवहार होना कैसे सम्भव है? और पुनः एक ही व्यक्ति के जीवन में मनस् और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या कैसे की जा सकती है? लाइब्नित्ज इस प्रश्न का उत्तर एक बड़े अनूठे ढंग से देते हैं। चिद्‌बिन्दुओं की निरपेक्षता को स्थित रखने के लिए वह अपने दर्शन में पूर्वस्थापित सामाञ्जस्य' के सिद्धान्त को ले आते हैं। उनका कथन है कि यद्यपि सभी चिद्‌बिन्दु एक दूसरे से निरपेक्ष हैं तथापि ईश्वर ने उन्हें एक तन्त्र में बाँध रखा है। इस तन्त्र को वह 'पूर्वस्थापित सामञ्जस्य' का नाम देते हैं। इसके अनुसार जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के वाद्य-यंत्र अपना विशिष्ट स्वर रखते हुए भी एक ताल-संगीत (Orchestra) उत्पन्न कर देते हैं, उसी प्रकार विभिन्न चिद्‌बिन्दु अपनी स्वतन्त्र सत्ता एवं विशेषता रखते हुए भी एक सामान्य जगत् की रचना कर देते हैं जिसमें विभिन्न व्यक्तियों में परस्पर व्यवहार हो सके। पुनः जिस प्रकार एक घड़ीसाज दो घड़ियाँ बनाकर उनमें ऐसी व्यवस्था कर देता है कि वे दोनों एक समय बताती हैं, उसी प्रकार ईश्वर ने मनस् और शरीर का सृजन करते समय उन्हें ऐसा बनाया है कि यदि एक में कोई क्रिया होती है तो उसकी प्रतिक्रिया दूसरे में अवश्य ही दिखाई पड़ती है। इस सब के मूल में, लाइब्नित्ज कहते हैं, ईश्वर द्वारा निर्धारित 'पूर्वस्थापित सामञ्जस्य ही' तो है।

(ङ) प्रत्येक चिद्‌बिन्दु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करता है

लाइब्नित्ज का मत है कि प्रत्येक चिद्‌बिन्दु समस्त विश्व का प्रतिनिधि है, अर्थात् विराट विश्व में जो कुछ घटित होता है वह सब प्रत्येक चिद्‌बिन्दु में प्रतिबिम्बित होता है। चित् शक्ति के रूप में प्रत्येक चिद्‌बिन्दु में सम्पूर्ण विश्व का भूत, वर्तमान एवं भविष्य बीज रूप में विद्यमान रहता है। चिद्‌बिन्दु का ज्यों–ज्यों विकास होता है और उसमें चैतन्य की अभिवृद्धि होती है, त्यों–त्यों ही वह अधिकाधिक विश्व को अपने में प्रतिबिम्बित करता जाता है, अर्थात् उतना ही अधिक उसका ज्ञान स्पष्ट होता जाता है।

3. व्यवहारवादी बहुतत्ववाद

आधुनिक युग में बहुतत्ववाद का प्रतिपादन सर्वप्रथम एमेरिका के महान् दार्शनिक विलियम जेम्स ने किया। उन (विलियम जेम्स) का बहुतत्ववाद हीगेल के निरपेक्षसत्तावाद (Absolutism) की प्रतिक्रिया है। हीगेल ने इस विश्व को

1. Pre-established harmony

एक निरपेक्ष स्वचेतन सत्ता (Absolute Self- Conscious Reality) की अभिव्यक्ति माना है। उनके अनुसार इस संसार की सभी वस्तुएँ एवं घटनायें उस निरपेक्ष सत्ता या निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea) का बाह्य रूप या प्रकाश मात्र हैं। वे स्वयं पर आश्रित न होकर पूर्णरूपेण उस निरपेक्ष सत्ता पर ही अवलम्बित हैं। जीव भी उस सत्ता का ही आंशिक प्रकार है और उसकी समस्त क्रियायें उस सत्ता द्वारा ही नियन्त्रित होती हैं। उसकी स्वतन्त्रता वस्तुत: तथाकथित स्वतन्त्रता मात्र है अन्य कुछ नहीं। हीगेल का कथन है कि सृष्टि में नवीनता एवं स्वतन्त्रता को कोई स्थान ही नहीं है, सम्पूर्ण नैतिक तथा सामाजिक क्रियायें भी ईश्वरीय मनस् के द्वारा ही नियन्त्रित होती हैं। विलियम जेम्स हीगेल का विरोध करते हुए कहते हैं कि यह विश्व एक ही निरपेक्ष सत्ता या तत्व का प्रकाश नहीं है, उसके मूल में अनेक तत्व हैं जिनसे इसका निर्माण हुआ है। यह विश्व एकात्मक नहीं, प्रत्युत अनेकात्मक है। इस संसार में अनेक प्रकार की स्वतन्त्र वस्तुएँ पाई जाती हैं जो एक व्यवस्था (system) में आबद्ध नहीं की जा सकतीं। जेम्स का कथन है कि यह विश्व एक 'शिलाकल्प विश्व' (Block universe) नहीं है जहाँ सभी कुछ ईश्वर या परम सत्ता द्वारा पहिले ही से निर्धारित कर दिया गया है। उनके अनुसार यह विश्व अनिर्धारित, स्वतन्त्र एवं विविध नवीन नवीन रचनाओं से परिपूर्ण है। परिवर्तन-शीलता इसका मूलभूत स्वभाव है और इसके गर्भ में अनेक प्रकार की नई नई प्रेरणायें छिपी हैं। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है और वह स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है। ईश्वर अनेक सामान्य चेतन सत्ताओं के मध्य एक महान् चेतन सत्ता है। वह कोई अनन्त सत्ता नहीं है जो सारे संसार की घटनाओं को नियन्त्रित करती है।

विलियम जेम्स कहते हैं कि हीगेल का निरपेक्ष सत्तावाद निराशावाद एवं भाग्यवाद (Fatalism) को जन्म देता है और मनुष्य को अकर्मण्य, निरुत्साही तथा प्रमादी बनाता है। हीगेल के विपरीत वह अपने दर्शन में सच्ची स्वतन्त्रता का सन्देश देते हैं और अशुभ (Evil) की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हैं। वह घोषित करते हैं कि उनका बहुतत्ववाद मानव मन में ज्ञान की पिपासा उत्पन्न करता है जिससे हम अधिकाधिक ज्ञान प्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं। उनका मत है कि धर्म और नीति के क्षेत्र में भी हमें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है, प्रत्येक मनुष्य को अपना लक्ष्य और अपना शुभ चुनने का स्वयं अधिकार है।

4. नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी बहुतत्ववाद

व्यवहारवादी बहुतत्ववाद के सदृश नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी बहुतत्ववाद का जन्म भी हीगेल के निरपेक्षसत्तावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ। परन्तु

व्यवहारवादी बहुतत्ववाद के सदृश यह विश्व की विविधता, विलक्षणता एवं भिन्नता पर इतना बल नहीं देता, जितना कि विचार और मूल्यों की विविधता एवं विलक्षणता पर। इसकी मान्यता है कि मानसिक घटनायें उतनी ही सत्य हैं जितनी भौतिक घटनायें। उदाहरण के रूप में 'तार्किक सिद्धान्त' (Logical-Principles) तथा न्याय (Justice)और सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् आदि विविध मूल्य यद्यपि बाह्य वस्तुओं के सदृश देश और काल में स्थिति-सम्पन्न (Existent) नही हैं तथापि वे सत् (subsistent) अवश्य हैं। यद्यपि संसार की उत्पत्ति जड़-तत्व से हुई है, किन्तु विकास-क्रम के विभिन्न स्तरों पर नए नए गुणों की सृष्टि होती रहती है, क्योंकि संसार का स्वरूप यान्त्रिक न होकर प्रयोजनात्मक है और नई नई आवश्यकताओं के अनुसार नई नई वस्तुओं और मूल्यों की सृष्टि होना स्वाभाविक है।

इस दर्शन के अनुसार ज्ञान या चेतना तथा उसके विषय में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। बाह्य विषय ही जब स्नायु संस्थान की अनुक्रिया (response) द्वारा एक साथ हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं तब वे ही हमारी चेतना का रूप धारण कर लेते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नव्य–वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के अनुसार बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मनस् पर आश्रित नहीं है प्रत्युत मनस् ही बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व पर आश्रित है।

बहुतत्ववाद के मूल सिद्धांत

ऊपर की पंक्तियों में बहुतत्ववाद के विभिन्न रूपों की व्याख्या करने के उपरांत अब हम उसके मूल सिद्धांतों का निर्धारण समुचित रीति से कर सकते हैं। ये सिद्धाँत इस प्रकार हैं :—

1. **मूल तत्वों की अनेकता** — विश्व का मूल तत्व एक नहीं अनेक हैं। ये मूल तत्व कुछ बहुतत्ववादियों के अनुसार भौतिक हैं और कुछ के अनुसार आध्यात्मिक।

2. **बाह्य सम्बन्ध** — इन मूल तत्वों (भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों) में परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध नहीं, वरन् बाह्य सम्बन्ध हैं।

3. **घटनाओं की नवीनता** – विश्व की व्यवस्था पूर्व–नियन्त्रित (Pre-determined) नहीं है। अत: विश्व में सदैव नवीन नवीन घटनायें हुआ करती हैं और नित नूतन वस्तुओं एवं मूल्यों की उत्पत्ति होती रहती है।

4. **कर्म की स्वतन्त्रता** — मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है, और वह अपने भाग्य का स्वयं ही निर्माता है।

5. **विचारों और मूल्यों का अस्तित्व** — विश्व में केवल भौतिक पदार्थ ही सत्य नहीं, वरन् विचार तथा मूल्य भी सत्य हैं।

समालोचना

बहुतत्ववाद के पक्ष में युक्तियाँ

बहुतत्ववादी दार्शनिकों ने अपने पक्ष के समर्थन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं :

(I) बहुतत्ववादियों का सबसे प्रबल प्रमाण हमारे 'प्रत्यक्ष अनुभव' का है। उनका कथन है कि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव इस तथ्य का स्पष्ट साक्षी है कि यह विश्व अनेकात्मक है। हमारे अनुभव में कोई ऐसा मूल तत्व नहीं आता जिसे हम सम्पूर्ण विश्व की आधारभूत सत्ता कह सकें। एकतत्ववादी विचारकों की यह एक कृत्रिम चेष्टा मात्र है कि वे केवल बौद्धिक के आधार पर इस विविधात्मक विश्व की व्याख्या एक ही तत्व द्वारा करना चाहते हैं।

(2) पुनः, बहुतत्ववादियों का यह कथन है कि बुद्धि से विचार करने पर भी संसार में अनेकता ही अनुभूत होती है। इस अनेकता को मूल रूप में एक कैसे माना जा सकता है ? उदाहरणार्थ भौतिक पदार्थों (जैसे कि मेज, कुर्सी आदि) और मानसिक घटनाओं (जैसे कि भय, क्रोध आदि) को मूलतः एक ही कैसे कहा जा सकता है ?

(3) जगत् की वस्तुओं में आन्तरिक सम्बन्धों का अभाव भी जगत् की विविधात्मकता को ही सिद्ध करता है। और जगत् की वस्तुओं में केवल वाह्य सम्बन्ध है, आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है यह तो इसी बात से स्पष्ट है कि एक वस्तु (जैसे कि घड़े) के नष्ट हो जाने से दूसरी वस्तु (जैसे कि पुस्तक) के स्वरूप में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता।

(4) विलियम जेम्स ने बहुतत्ववाद की पुष्टि में नैतिक चेतना का भी प्रमाण दिया है। वह कहते हैं कि नैतिक उत्तरदायित्व की भावना (sense of moral responsibility) बिना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अर्थहीन हो जाती है और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से अनेकत्व का समर्थन स्वयमेव हो जाता है।

बहुतत्ववाद के विपक्ष में युक्तियाँ

यह तो स्पष्ट ही है कि बहुतत्ववाद का सिद्धांत जनसाधारण की बुद्धि के कुछ निकट सा प्रतीत होता है, क्योंकि इस विशाल सृष्टि की विविधता और विलक्षणता प्रारम्भ में सभी सामान्य मनुष्यों को प्रभावित करती है। परन्तु जब हम अधिक गहराई से विचार करते हैं तो हम पर यह शीघ्र ही झलकने लगता है कि बहुतत्ववाद में कुछ ऐसी दार्शनिक कठिनाइयाँ हैं जिनका निराकरण करना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है। ये कठिनाइयाँ इस प्रकार हैं :—

(1) बहुतत्ववादी दार्शनिक विश्व की अनेकात्मकता केवल अनुभव के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। परन्तु जहाँ हमारा अनुभव हमें विश्व की विविधता, विचित्रता एवं असदृशता का दिग्दर्शन कराता है, साथ ही साथ वह हमें विश्व की एकात्मकता, सदृशता तथा सापेक्षता का भी ज्ञान कराता है। संसार की वस्तुएँ जहाँ एक दूसरे से भिन्नतायें रखती हैं वहाँ उनमें कुछ समानतायें भी होती हैं। जिन वस्तुओं में समानतायें होती हैं वे किसी न किसी जाति के अन्तर्गत आ जाती हैं। जिन जातियों में पुनः कुछ सदृशतायें होती हैं उनका समावेश अपने से वड़ी जातियों के अन्तर्गत हो जाता है। और ये वड़ी जातियाँ फिर अपनी समानताओं के कारण किन्हीं और भी बड़ी जातियों के अन्तर्गत समाहित हो जाती हैं। इस प्रकार जब हम सृष्टि की अनेकताओं की पृष्ठभूमि में निहित एकता के पहलू पर दृष्टिपात करते हैं तो समग्र विश्व शनैः शनैः हमें एकरूपता में सिमटता दिखाई देता है।

(2) बहुतत्ववादी अपने पक्ष का समर्थन बौद्धिक विचार के आधार पर भी करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु बौद्धिक विचार तो अनुभव से भी अधिक जगत् की एकात्मकता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। ज्ञान और विज्ञान दोनों की ही आधारशिला 'सृष्टि' की एकरूपता का सिद्धांत है। इस एकरूपता के अभाव में किसी भी प्रकार के ज्ञान का उद्भव सम्भव ही नहीं है, और साथ ही साथ इसको स्वीकार किए बिना किसी भी प्रकार के वैज्ञानिक नियमों का निर्धारण अशक्य है, क्योंकि विज्ञान के नियम सार्वभौम होते हैं।

(3) बहुतत्ववाद संसार के पदार्थों में वाह्य सम्बन्धों का प्रतिपादन करता है। विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि न्यायशास्त्र की दृष्टि से बहुतत्ववाद का यह सिद्धांत युक्तिसंगत नहीं है। यदि पदार्थ एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष हैं, तो उनमें सम्बन्ध की स्थापना हो ही नहीं सकती। उदाहरण के रूप में यदि 'क' और 'ख' दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तो उनमें सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक तीसरे 'ग' पदार्थ की आवश्यकता होगी। परन्तु 'ग' भी तो 'क' और 'ख' से स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष पदार्थ है। अतः उसका 'क' और 'ख' से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक चतुर्थ पदार्थ 'घ' की आवश्यकता होगी और इसी प्रकार यह क्रम आगे भी चलेगा। ऐसी स्थिति में स्पष्ट ही है कि 'अनवस्था दोष' (Fallacy of Infinite Regress) उत्पन्न हो जाएगा। इसके अतिरिक्त जब हम संसार की वस्तुओं का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं, तो हमें विदित होता है कि विभिन्न वस्तुएँ एक दूसरे को निश्चित रूप से प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ अग्नि पर जब जल डाला जाता है तो अग्नि बुझ जाती

है, परन्तु जब उस पर घी डाला जाता है तो वह और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अग्नि तथा जल में एक विशेष प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध है और अग्नि तथा घी में एक दूसरे प्रकार का विशेष आन्तरिक सम्बन्ध है ? क्यों नहीं घी डालने से अग्नि बुझ जाती है और पानी डालने से अधिक प्रज्वलित हो उठती है ? इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि विश्व के विभिन्न पदार्थ अवश्य ही आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हैं। और पदार्थों की आन्तरिक सम्बद्धता विश्व की एकात्मकता का परिचायक है।

(4) मनस् और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या भी बहुतत्ववाद के समर्थकों के लिए एक सर दर्द रही है। उनके ही मत से जब मनस् और शरीर एक दूसरे से तत्वत: भिन्न हैं, तब उन (मनस् और शरीर) में परस्पर अन्तर्क्रिया (mutual interaction) कैसे होती है ? तर्कशास्त्र का नियम है कि जब तक दो वस्तुओं में कुछ न कुछ समानता न हो तब तक उनमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होना सम्भव नहीं है। इसी हेतु बहुतत्ववादी और द्वितत्ववादी दोनों ही मनस् तथा शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या का यथोचित समाधान नहीं कर पाये हैं। हम देखते हैं कि लाइब्नित्ज, डेकार्टे आदि के द्वारा दिये गये इस समस्या के समाधानों में अनेक तार्किक दोष विद्यमान हैं। इन्हीं दोषों ने आगे चलकर दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में एकतत्ववाद का मार्ग प्रशस्त किया है।

(5) हमारा सामान्य अनुभव और वैज्ञानिक ज्ञान दोनों यह बताते है कि जगत् में विविधताओं और विलक्षणताओं के साथ साथ वस्तुओं और जीवधारियों में सहयोग, सुव्यवस्था तथा तारतम्य भी विद्यमान है। बहुतत्ववाद के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब विश्व में अनेक स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष तत्व हैं, तो विश्व में व्यवस्था कैसे दृष्टिगोचर होती है ? बहुतत्ववाद के भिन्न भिन्न मतों (जिनका हमने ऊपर उल्लेख किया है) में इस प्रश्न का उत्तर भिन्न भिन्न प्रकार से देने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु उनमें कोई भी उत्तर संतोषप्रद प्रतीत नहीं होता। जैसे कि, यूनानी परमाणुवादी दार्शनिकों ने विश्व के अन्तिम तत्व असंख्य परमाणु बताए हैं। ये असंख्य परमाणु, जो इन दार्शनिकों के अनुसार अन्ध और अचेतन हैं, मिल-जुल कर कैसे एक सुव्यवस्थित संसार की रचना करने में समर्थ हो जाते हैं यह समझ में नहीं आता।

पुन: आध्यात्मिक बहुतत्ववादी लाइब्नित्ज ने विश्व की व्यवस्था एवं सामञ्जस्य की व्याख्या अपने 'पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य' के सिद्धान्त के आधार पर करने की चेष्टा की है। उनका मत है कि जिस समय एक चिद्बिन्दु में कोई क्रिया होती है उसी समय दूसरे चिद्बिन्दु में भी उसकी प्रतिक्रिया होती है, किन्तु इस क्रिया

प्रतिक्रिया का कारण चिद्बिन्दुओं के पारस्परिक सम्बन्ध नहीं, वरन् ईश्वर द्वारा निर्मित पूर्वस्थापित सामञ्जस्य है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि लाइब्नित्ज का यह सिद्धान्त उनके चिद्बिन्दुओं की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का विरोध करता है। सृष्टि में पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य मानने से चिद्बिन्दुओं की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है क्योंकि तब वे ईश्वर के हाथ की कठपुतलियाँ बनकर रह जाते हैं; और यदि चिद्बिन्दुओं की स्वतन्त्रता को स्थित रखा जाय, जैसा कि लाइब्नित्ज प्रयत्न करते हैं, तो पूर्व-स्थापित सामञ्जस्य को स्वीकार नहीं किया जा सकता और फलत: सृष्टि की सुव्यवस्था की व्याख्या भी नहीं की जा सकती।

व्यवहारवादी बहुतत्ववाद में भी इस समस्या का कोई उचित समाधान प्राप्त नहीं होता। कारण यह है कि इस सिद्धान्त में भी विविध वस्तुओं और जीवों की स्वतन्त्रता पर बल दिया गया है; तब विश्व की व्यवस्था एवं सामञ्जस्य की व्याख्या इसमें भी कैसे की जा सकती है ? तदुपरांत, यह भी समझना कठिन है कि नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिक अपने विविध तटस्थ तत्वों द्वारा किस प्रकार एक सुव्यवस्थित एवं तारतम्य-युक्त संसार की रचना कर सकते हैं।

(6) हमने ऊपर देखा है कि बहुतत्ववाद के पोषक सभी सिद्धान्त विश्व के मूल में अनेक स्वतन्त्र केन्द्रीय सत्तायें (independent central realities) मानते हैं। इसका फल स्वाभाविक रूप से यह होता है कि इन सिद्धान्तों में ईश्वर की केन्द्रीय सत्ता एकदम समाप्त हो जाती है और ईश्वर का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। यूनानी बहुतत्ववाद तो, जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, ईश्वर जैसी किसी भी केन्द्रीय सत्ता को स्वीकार ही नहीं करता। हाँ, लाइब्नित्ज ने अपने बहुतत्ववाद में ईश्वर को लाने की चेष्टा अवश्य की है। परन्तु उनके दर्शन में ईश्वर अनेक स्वतन्त्र तत्वों (अर्थात् चिद्बिन्दुओं) में से केवल एक स्वतन्त्र तत्व (अर्थात् चिद्बिन्दु) बनकर रह जाता है, तब उसकी विशेषता ही क्या हो सकती है ? और ऐसे ईश्वर को ईश्वर ही कैसे कहा जा सकता है ? विलियम जेम्स ने भी ईश्वर को स्वीकार किया है, परन्तु उन्होंने जीवों के कर्म-स्वातन्त्र्य को सुरक्षित रखने के हेतु ईश्वर को अगणित सामान्य चेतन सत्ताओं में से केवल एक महान् सत्ता बताया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने ईश्वर को अपूर्ण बनाकर ईश्वर के ईश्वरत्व को ही नष्ट कर दिया है। नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिकों ने ईश्वर को मूल्यों की समष्टि मात्र प्रतिपादित किया है। तब क्या हम नहीं कहेंगे कि इस प्रकार का ईश्वर कुछ लोगों के लिए भले ही प्रेरणा-स्रोत हो सके, किन्तु वह धार्मिक निष्ठा के उपयुक्त जगत्-सृष्टा एवं जगत्-पालक ईश्वर कदापि न होगा।

द्वितत्ववाद

(Dualism)

जब हम सामान्य बुद्धि से विश्व के स्वरूप के विषय में विचार करते हैं, तो हमें इसके मूल में दो प्रकार के तत्व दिखाई पड़ते हैं — एक जड़ और दूसरा चेतन। अपने चारों ओर हमें ऐसे पदार्थ दृष्ट होते हैं जिनमें चेतना या ज्ञान का नितान्त अभाव है, और साथ ही हमें ऐसे जीवित प्राणी दृष्ट होते हैं जिनमें इच्छायें एवं संकल्प, भावनायें एवं संवेग, कल्पनायें एवं विचार हैं। स्वयं अपने ही व्यक्तित्व में हमें परस्पर विरोधी लक्षण वाले शरीर और मनस् दिखाई देते हैं। शरीर स्थूल है जिसका ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है, परन्तु मनस् सूक्ष्म है जिसका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। जब कि शरीर देश काल में सीमित होता है, उसके सर्वथा विपरीत मानसिक क्रियायें देश और काल की परिधियों से पूर्णतया अतीत होती हैं। इस प्रकार समष्टि-जगत् और व्यष्टि-जगत् दोनों में हमें सर्वत्र 'जड़' और चेतन दो तत्वों का भान होता है। अतः अनेक विचारकों ने, उक्त सामान्य बुद्धि के अनुरूप, यह घोषणा की है कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधारभूत 'जड़' और 'चेतन' दो पृथक् पृथक् तत्व हैं जिन्हें एक दूसरे के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। ये विचारक दर्शन के इतिहास में द्वितत्ववादी कहलाये और इनके मत को द्वितत्ववाद की संज्ञा दी गई।

द्वितत्ववाद का इतिहास

1. **प्लैटो** — पाश्चात्य देशों में द्वितत्ववाद का समर्थन सर्वप्रथम हमें यूनान के महान् दार्शनिक प्लैटो के दार्शनिक सिद्धान्त में प्राप्त होता है। प्लैटो के अनुसार सृष्टि के चरम तत्व दो हैं — 'शिवम्' अथवा 'शुभ' का प्रत्यय (Idea of the Good) तथा पुद्गल (Matter)। शिवम् अथवा शुभ एक सार्वभौम प्रत्यय है जिसे प्लैटो ने ईश्वर के नाम से पुकारा है। वह विभु एवं चेतन तत्व है। इसके पूर्णतया विपरीत पुद्गल अचेतन, अशुभ एवं भौतिक है। जबकि शिवम् नित्य एवं पूर्ण प्रत्यय है, पुद्गल अनित्य एवं अपूर्ण है। प्लैटो का मत है कि इन दोनों में सदैव संघर्ष होता रहता है; शिवम् एक ओर इस संसार को शुभ बनाने की चेष्टा करता है तो दूसरी ओर पुद्गल इसे अशुभ की ओर ले जाने का प्रयास करता है।

2. **अरस्तू** — प्लैटो के पश्चात् अरस्तू ने द्वितत्ववाद का प्रतिपादन किया। अरस्तू का मत है कि इस सृष्टि के दो मूल तत्व हैं — एक पुद्गल (Matter) और दूसरा आकार (Form)। ये दोनों स्वरूप में एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं।

पुद्गल विशिष्ट (Particular) एवं सीमित है और आकार सर्वभौम तथा विचार-रूप है।

3. **डेकार्टे** — आधुनिक काल में प्रथम द्वितत्ववादी फ्रान्सीसी दार्शनिक डेकार्टे थे। डेकार्टे इस विश्व के दो चरम तत्व मानते हैं — पुद्गल तथा मनस्। चरम तत्व को वह द्रव्य (substance) की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार द्रव्य वह है जो आत्म-स्थित (self-existent) एवं स्वतन्त्र तत्व है, जिसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य तत्व या सत्ता पर निर्भर नहीं करना पड़ता। वह स्वाश्रित (self-dependent) एवं स्वयं-सिद्ध (self-evident) सत्ता है। ऐसी सत्तायें, डेकार्टे के मत से केवल दो ही हो सकती हैं — एक पुद्गल या जड़ द्रव्य और दूसरा मनस् या चेतन द्रव्य। इन दोनों द्रव्यों के गुण एक दूसरे से पूर्णतया विरुद्ध हैं। पुद्गल का विशेष गुण प्रसार (extension) है और मनस् का विशेष गुण विचार (thought) है। पुद्गल स्थान घेरता है, किन्तु मनस् स्थान नहीं घेरता। मनस् चैतन्य और विभु (अर्थात् सर्वव्यापक) है। पुद्गल विभाज्य है, किन्तु मनस् अविभाज्य है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब पुद्गल और मनस् एकदम विरोधी तत्व हैं तब शरीर और मनस् में परस्पर सम्बन्ध कैसे स्थापित हो जाता है? डेकार्टे इसका उत्तर अपने अन्तर्क्रियावाद (Interactionism) के सिद्धान्त के द्वारा देने का प्रयास करते हैं। उनका कथन है कि मस्तिष्क के मध्य भाग में स्थित पीनियल ग्रन्थि (Pineal gland) द्वारा ये दोनों (अर्थात् शरीर और मनस्) परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया किया करते हैं।

समालोचना

द्वितत्ववाद के पक्ष में युक्तियाँ

(1) द्वितत्ववादी विचारक कहते हैं कि उनके मत को साधारण भाषा से महत्वपूर्ण समर्थन प्राप्त है। सामान्य भाषा में 'शरीर' और 'मन' ये दो शब्द पृथक् पृथक् तत्वों के द्योतक समझे जाते हैं एक तत्व के नहीं। प्रोफैसर पैंट्रिक बड़े ही सुन्दर रूप में इस तथ्य को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहता कि इतने वर्ग गज प्रेम है, इतने सेर आशा है, या इतने इंच विचार हैं; और न है यह कहता है कि तारे प्रेम करते हैं, परमाणु आशा रखते हैं या पर्वत विचार करते हैं। हमारी भाषा ने भौतिक पदार्थों तथा मानसिक घटनाओं का पूर्णतया विभाजन कर रखा है, भौतिक पदार्थों के लिए हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, मानसिक घटनाओं के लिए उनका प्रयोग नहीं करते।

(2) द्वितत्ववाद के समर्थक पुनः यह, प्रतिपादित करते हैं कि सामान्य अनुभव द्वारा भी उन्हीं के मत का पोषण होता है। सामान्य अनुभव हमें बताता

है कि भौतिक पदार्थों के लक्षण मानसिक क्रियायों के लक्षणों से सर्वथा भिन्न होते हैं। भौतिक पदार्थों एवं घटनाओं को हम अपनी पञ्चज्ञानेद्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, परन्तु मानसिक घटनाओं का प्रत्यक्ष इस प्रकार कदापि सम्भव नहीं है। इन (मानसिक) घटनाओं को हम केवल अन्तर्दर्शन (Introspection) द्वारा ही अनुभव कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त स्मृति और स्वप्न इस तथ्य को और भी अधिक सुदृढ़ कर देते हैं कि भौतिक तत्व के अतिरिक्त एक मानसिक तत्व भी है। मानसिक तत्व के अनस्तित्व में स्मृति एवं स्वप्न दोनों की ही सम्भावना समाप्त हो जाती है क्योंकि दोनों (स्मृति और स्वप्न) में भौतिक पदार्थों का सर्वथा अभाव ही होता है।

(3) बहुत से दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों ने मनस्-तत्व को जड़–तत्व में और जड़-तत्व को मनस्-तत्व में घटाने का प्रयास किया है। परन्तु दर्शन तथा विज्ञान का इतिहास बताता है कि इस प्रकार के प्रयास कभी सफल नहीं हो पाये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनस् और पुद्गल एक दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र चरम तत्व हैं।

द्वितत्ववाद के विपक्ष में युक्तियाँ

(1) द्वितत्ववादी दार्शनिकों ने अपने मत के समर्थन में अनुभव को प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। अनुभव को प्रमाण तो सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, परन्तु जब तक गम्भीर विश्लेषण के पश्चात् उसे ठोस आधारभूमि पर स्थापित न किया जाय, तब तक उसे प्रमाण मान लेना भारी दार्शनिक भूल है। जीवन में हमें अनेक ऐसे अनुभव भी होते हैं, जो विश्लेषण के उपरांत केवल हमारे भ्रम सिद्ध होते हैं और जिनका सत्य से तनिक भी सम्बन्ध नहीं होता। अतः हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम अनुभव की छानबीन कर पहिले उसे सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित (established) कर लें और तब उसकी सत्यता में विश्वास रखें। परन्तु इसके विपरीत द्वितत्ववादी बिना किसी पर्यवेक्षण (Circumspection) के अनुभव को सहज स्वीकार कर लेते हैं और यही उनकी बड़ी भूल है।

(2) वास्तविकता यह है कि जब हम द्वितत्ववाद के मूल स्वरूप का विश्लेषण करने लगते हैं तो हम पर उसका छिछलापन शीघ्र ही प्रकट होने लगता है। जब जड़ और चेतन एक दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र और विरोधी गुण वाले हैं, जैसा कि द्वितत्ववाद मानता है, तब यह समझ में नहीं आता कि इनका परस्पर सहयोग कैसे हो जाता है और वे एक दूसरे से संयुक्त होकर कैसे इस विश्व की रचना कर देते हैं ? द्वितत्ववादी दार्शनिकों ने इस समस्या का समाधान करने के अनेक प्रयत्न किए हैं, परन्तु गहराई से विचार करने पर यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जाता है कि उनके ये सभी प्रयत्न पूर्णतया असफल रहे हैं। यूनान के महान् दार्शनिक प्लैटो ने कहा है

कि शुभ के प्रत्यय की छाप जब पुद्गल पर पड़ती है तब विश्व का विकास होता है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब स्वयं प्लैटो के अनुसार शुभ का प्रत्यय और पुद्गल एक दूसरे के पूर्णतया विरोधी तत्व हैं और उनमें किसी भी प्रकार का कोई समान अंश या समान गुण है ही नहीं, तब एक दूसरे की छाप को कैसे ग्रहण कर लेता है और विश्व-सृजन में वे दोनों क्योंकर परस्पर सहयोगी बन जाते हैं ? तब प्लैटो के मतानुसार 'शुभ का प्रत्यय' (Idea of the Good) जिसे वह ईश्वर के रूप में मानते है अपने में सर्वथा पूर्ण तत्व है। यह समझ में नहीं आता कि पूर्ण होते हुए भी उसे विश्व-सृजन की क्या आवश्यकता होती है ? पुनः, हम अरस्तू के दर्शन में देखते हैं कि यद्यपि वह आकार (form) तथा पुद्गल को सर्वथा विपरीत तत्व मानते हैं तथापि यह कहते हैं कि प्रपञ्चात्मक जगत् में ये दोनों संयुक्त हो जाते हैं। पूर्णतया विपरीत एवं स्वतंत्र तत्त्व होते हुए भी ये दोनों कैसे संयुक्त हो जाते हैं इस प्रश्न का कोई उत्तर अरस्तू ने नहीं दिया है ।

(3) भारतीय दर्शन में भी सांख्य दार्शनिकों ने सृष्टि के विकास में प्रकृति (Matter)और पुरुष(Self or Mind)के सहयोग की व्याख्या करते हुए बताया है कि जैसे एक अन्धा और लंगड़ा किसी एक ही गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए परस्पर सहयोग करके अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष स्वभाव में सर्वथा विपरीत तत्व होते हुए भी अपने अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक दूसरे से संयुक्त हो जाते हैं। ऊपर से देखने पर सांख्य-दर्शन का यह रूपक आकर्षक प्रतीत होता है। परन्तु गंभीरता से चिन्तन करने पर इसकी असंगति[1] शीघ्र ही प्रकट हो जाती है। अंधे और लंगड़े का सहयोग इस कारण से सम्भव हो जाता है कि दोनों ही शरीर धारी और चेतन हैं। यदि इनमें एक शरीर धारी किन्तु अचेतन होता और दूसरा बिना देहधारी किन्तु चेतन होता तब क्या वे एक दूसरे का सहयोग दे सकते थे ? वास्तविकता यह है कि इन दोनों में (अर्थात् अन्धे और लंगड़े में) तात्विक दृष्टि से एकता है और केवल बाह्य दृष्टि से विषमता[2] है; परन्तु प्रकृति और पुरुष में तत्वतः ही भेद है, प्रकृति है अचेतन किन्तु सक्रिय और पुरुष है चेतन किन्तु निष्क्रिय ।

(4) आधुनिक द्वितत्वाद का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उसकी सर्व-महत्वपूर्ण समस्या शरीर और मनस् के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या है। डेकार्टे ने (जैसा कि हमने ऊपर देखा है) इस समस्या का समाधान मस्तिष्क में स्थित पीनियल-ग्रंथि द्वारा करने की चेष्टा की है, परन्तु विचार करने पर शीघ्र ही प्रकट हो जाता है कि डेकार्टे की यह मान्यता दोषयुक्त है। डेकार्टे एक ओर मनस् को पूर्णतः अभौतिक एवं अप्रमारित तत्व बताते हैं और दूसरी ओर उसे

1. Unreasonability 2. Dissimilarity,

ही एक विशेप स्थल पर विद्यमान कहते हैं, इस प्रकार स्पष्ट ही वह 'वदतो व्याघात' (self- contradiction) का दोष करते हैं। तर्क यह कहता है कि यदि शरीर और मनस् परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया करते हैं तो उनके मूलभूत स्वरूप में कुछ समानता अवश्य होनी चाहिए अन्यथा अत्यन्त विरोध में यह सब सम्भव ही नहीं है। डैकार्टे ने दोनों में अत्यंत विरोध बता कर अपने मार्ग में अनेक कांटे बिछा लिए हैं। पुन: आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से भी जब हम डैकार्टे के शरीर और मनस् के पारस्परिक सम्बन्ध के सिद्धान्त अन्तर्क्रियावाद पर विचार करते हैं तो भी यह सिद्धान्त अग्राह्य[1] ही प्रतीत होता है। वर्तमान विज्ञान शक्ति-संरक्षण के नियम (Law of conservation of Energy) का प्रतिपादन करता है। यदि शरीर मनस् पर प्रतिक्रिया करता है तो भौतिक शक्ति का ह्रास होता है और मानसिक शक्ति की अभिवृद्धि और इसी प्रकार जब मनस् शरीर पर प्रतिक्रिया करता है तो मानसिक शक्ति का ह्रास होता है और शारीरिक शक्ति की अभिवृद्धि। स्पष्ट ही है कि इन परिवर्तनों में शारीरिक शक्ति का कुछ अंश मानसिक शक्ति का रूप धारण कर लेता है और मानसिक शक्ति का कुछ अंश शारीरिक शक्ति का रूप। परन्तु क्योंकि डैकार्टे शक्ति के एकत्व को स्वीकार नहीं करते, अत: उनका सिद्धान्त शक्ति संरक्षण के नियम का विरोध करता है।

शरीर और मनस् के पारस्परिक सम्बन्ध की कठिनाई को दूर करने के हेतु गिलीनेक्स (Geulinex) तथा मेलब्रांन्श (Malebranche) ने यथावसरवाद (Occasionalism) के सिद्धान्त का सहारा लिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब कभी मनस् में भावना, ज्ञान या संकल्प के रूप में कोई परिवर्तन होता है, तो ईश्वर उसी के अनुरूप शरीर में परिवर्तन उत्पन्न करता है, और जब कभी शरीर में कोई परिवर्तन होता है तो ईश्वर मनस् में उसी प्रकार की संवित्तियाँ (sensations) उत्पन्न कर देता है। प्रश्न उपस्थित होता हैं कि मनस् और शरीर के परिवर्तनों में समानान्तरता ईश्वर के द्वारा स्थापित की जातीं है इसका क्या प्रमाण है? यही कहना होगा कि इस प्रकार की मान्यता में उक्त दार्शनिकों की कल्पना ही एक मात्र कारण प्रतीत होती है अन्य कुछ नहीं।

जर्मन दार्शनिक लाइब्नित्ज ने शरीर तथा मनस् के सम्बन्ध की समस्या के समाधान हेतु 'पूर्व स्थापित सामञ्जस्य' (Pre-established harmony) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर तथा मनस् के परिवर्तनों में समानान्तरता स्थापित करने हेतु ईश्वर को प्रति वार चेष्टा नहीं करनी पड़ती, वरन् ईश्वर के द्वारा प्रारम्भ में ही एक ऐसी योजना बना दी गई है जिसके

1, Unacceptable.

द्वारा स्वयं ही शरीर और मनस् में एक दूसरे के अनुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। इस योजना को ही लाइब्नित्ज 'पूर्व-स्थापित सामाञ्जस्य' का नाम देते हैं। आलोचकों का मत है कि शरीर और मनस् के सम्बन्ध की समस्या का लाइब्नित्ज द्वारा दिया गया यह समाधान यथावसरवाद के सिद्धान्त से कुछ अधिक उपयुक्त भले ही हो, परन्तु इसका कोई समुचित तर्कसंगत आधार वह (लाइब्नित्ज) नहीं दे पाये हैं।

(5) ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भी द्वितत्ववाद के सम्मुख एक भारी कठिनाई उपस्थित होती है। यदि पुद्गल और मनस् एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध और स्वतन्त्र तत्व हैं तो मनस् को पुद्गल अर्थात् भौतिक पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है? मनस् को भौतिक पदार्थों का ज्ञान होता है यह तो सभी के प्रत्यक्ष अनुभव की बात है जिसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार द्वितत्ववादी दार्शनिकों के पास इस ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी कठिनाई को भी दूर करने का कोई उपाय नहीं है।

एकतत्ववाद
(Monism)

अनेकता में एकता की खोज मानव की एक नैसर्गिक माँग है। जब हम संसार की अनेकधा वस्तुओं के मूल स्वरूप के विषय में थोड़ी गम्भीरता से विचार करने लगते हैं तो हम पर यह सत्य शीघ्र ही प्रकट होने लगता है कि सृष्टि की अनेकता की पृष्ठ-भूमि में सर्वत्र एकता ही छिपी है। उदाहरण के रूप में विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषणों को देखकर हम यह तुरन्त समझ लेते हैं कि ये सब आभूषण एक ही मूल धातु स्वर्ण के विविध रूप हैं, विभिन्न मृत्पात्रों (Clay–pots) को देखकर सहज यह अनुमान कर लेते हैं कि ये सब पात्र एक ही द्रव्य मृत् या मृत्तिका (अर्थात मिट्टी) के बने हैं, और इसी प्रकार जगत् की अन्यान्य सभी वस्तुओं के विषय में शीघ्र इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि ये सब वस्तुएँ कुछ मूल द्रव्यों (Basic substances) के ही परिवर्तित रूप हैं। इसके पश्चात् विचार प्रक्रिया के आगे बढ़ने पर कदाचित् हमें ऐसा भी आभास होने लगता है कि ये सब मूल द्रव्य भी एक ही तत्व के परिणत रूप (Changed forms) हैं वस्तुतः भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं। मानव की नैस-र्गिक खोज के इस निष्कर्ष को ही दार्शनिक क्षेत्र में एकतत्ववाद की संज्ञा प्रदान की गई है। एकतत्ववाद सिद्धान्त के प्रतिपादक दर्शन के इतिहास में अनेक विचारक हुए हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा हम आगामी पंक्तियों में करेंगे। इन विचारकों की प्रमुख घोषणा यही है कि समग्र विश्व का मूलतत्व या चरम तत्व एक ही है। विश्व में चर अचर, चेतन अचेतन जो भी है वह सब इसी मूल तत्व का प्रकाशमात्र है। सृष्टि की विविधतायें या तो एकता की अभिव्यक्ति हैं अथवा भ्रम। इस (सृष्टि) के मूल में अनेकत्व या द्वैत को कोई स्थान ही नहीं है।

एकतत्ववाद का इतिहास

1. स्पिनोजा

(क) द्रव्य का सिद्धांत

सत्रहवीं शताब्दी के हालैण्ड के महान् दार्शनिक स्पिनोजा अपने एकतत्ववाद का प्रासाद डैकार्टे के द्वैतवाद की आलोचना के आधार पर खड़ा करते हैं। द्रव्य या तत्व की परिभाषा करते हुए डैकार्टे ने कहा था कि द्रव्य स्वतन्त्र है, उसे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं करना पड़ता। किन्तु इसके साथ ही डैकार्टे ने पुद्गल और मनस् दो द्रव्यों के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया था। इन दो द्रव्यों के अतिरिक्त डैकार्टे ने एक चरम द्रव्य (Ultimate or Supreme Substance) भी माना था, जिसे उन्होंने ईश्वर की संज्ञा दी थी। उनका मत था कि पुद्गल और मनस् सापेक्ष द्रव्य हैं और ईश्वर निरपेक्ष द्रव्य। स्पिनोजा डैकार्टे पर 'वदतो व्याघात' (Contradiction in terms) का दोष आरोपित करते हैं और कहते हैं कि द्रव्य या तत्व स्वतन्त्र होने के कारण सापेक्षहो हो नहीं सकता; पुद्गल तथा मनस् को एक ओर स्वतन्त्र कहना और दूसरी ओर सापेक्ष कहना अनुचित है। उन (स्पिनोजा) का मत है कि वस्तुतः ईश्वर ही एकमात्र द्रव्य हो सकता है, क्योंकि वह ही केवल निरपेक्ष तत्व है। पुद्गल एवं मनस् द्रव्य स्वयं नहीं, वरन् चरम द्रव्य अथवा परम तत्व, ईश्वर के ही दो गुण हैं। वस्तुतः ईश्वर ही सम्पूर्ण गुणों का एकमात्र अधिष्ठान (अर्थात् आधार) है। विश्व में सभी कुछ उस पर आश्रित है, केवल वह ही स्वाश्रित या आत्माश्रित (Self-dependent) है। ईश्वर या (चरम) द्रव्य की परिभाषा करते हुए वह कहते हैं, "द्रव्य से मेरा अभिप्राय उस तत्व से है जो स्वतः ही स्थित है और अपने ही द्वारा समझा जा सकता है अर्थात् जिसे समझने के लिए किसी दूसरी वस्तु को समझने की आवश्यकता नहीं।"[1] द्रव्य की इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि स्पिनोजा के मत में द्रव्य या ईश्वर पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता है जिसे अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं रहना पड़ता। पुनः, यह द्रव्य जब पूर्णतया स्वतन्त्र सत्ता है तब यह अनन्त सत्ता भी है, क्योंकि अन्यथा यह स्वतन्त्र नहीं हो सकती। साथ ही साथ यह भी कहना होगा कि यह सत्ता केवल एक ही है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यह दूसरी

---

1. "By Substance I understand that which is in itself and is conceived through itself; i. e., that the conception of which does not depend on the conception of another thing from which it must be formed." (Ethics, I. def. 3.)

सत्ताओं से सीमित हो जाएगी और तब स्वतन्त्र भी नहीं रहेगी। स्पिनोज़ा कहते हैं कि यह 'स्वयं अपना कारण (Causa sui) है, क्योंकि यदि इसकी उत्पत्ति दूसरी सत्ता या तत्व से मानी जाय तो इसे उस पर आश्रित स्वीकार करना होगा। यह वैय्यक्तिकता (Individuality) तथा व्यक्तित्व (Personality) दोनों से रहित भी है, क्योंकि ये दोनों ही निर्धारण (determination) के द्योतक हैं और सभी निर्धारण सीमाकरण होता है' ('All determination is negation')।

(ख) गुणों का सिद्धांत

स्पिनोजा कहते हैं कि द्रव्य या ईश्वर के अनन्त गुण (Attributes) हैं। गुण की परिभाषा वह (स्पिनोजा) इस प्रकार करते हैं, "गुण से मेरा अभिप्राय उस तत्व से है जिसे बुद्धि द्रव्य का मूल स्वरूप समझती है।"[1] गुणों की इस परिभाषा से स्पिनोजा के सिद्धान्त की विद्वानों द्वारा दो प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत की गयीं हैं — (1) आत्मगत व्याख्या (Subjective interpretation) तथा (2) वस्तुगत व्याख्या (Objective interpretation)। प्रथम वर्ग के व्याख्याकार परिभाषा के 'बुद्धि समझती है' इस अंश पर बल देते हैं, और द्वितीय वर्ग के व्याख्याकार 'द्रव्य का मूल स्वरूप' अंश पर बल देते हैं। प्रथम व्याख्या के अनुसार गुण वस्तुतः द्रव्य में विद्यमान नहीं हैं हमारी बुद्धि उन्हें द्रव्य में विद्यमान समझती है। द्वितीय व्याख्या के अनुसार गुण वस्तुतः द्रव्य के स्वरूप के अंग हैं वे हमारी बुद्धि की समझ पर आधारित नहीं हैं। गुणों की यदि प्रथम व्याख्या को स्वीकार किया जाये तो हमें स्पिनोजा के चरम द्रव्य या ईश्वर को निर्गुण कहना होगा, क्योंकि ईश्वर में जो गुण दिखाई देते हैं वे केवल हमारी बुद्धि के कारण दिखाई देते हैं वास्तविक नहीं हैं। गुणों की दूसरी व्याख्या स्वीकार करने पर स्पिनोजा के अनुसार गुण द्रव्य में बुद्धि द्वारा कल्पित या आरोपित नहीं वरन् उसके वास्तविक धर्म (Characters) हैं। इन्हें द्रव्य को देखने के केवल (Coloured spectacles) नहीं कहा जा सकता जैसा कि श्री एर्डमान (Mr. Erdmann) समझते हैं। हमारी कल्पना शक्ति इनका आविष्कार नहीं कर सकती ; इनकी सत्ता वस्तुगत सत्ता है। गुणों की इस व्याख्या के अनुसार स्पिनोज़ा का ईश्वर सगुण हो जाता है। इस देखा गया है कि गुणों की उक्त विरोधी व्याख्याओं के कारण स्पिनोजा का दर्शन अनेक विरोधी नामों से अंकित किया गया है। गुणों के विषय में आगे वह

---

1. "By Attribute I mean that which the intellect perceives as constituting the essential nature of Substance."

(Ethics, 1. def. 4.)

(स्पिनोजा) यह कहते हैं कि यद्यपि द्रव्य या ईश्वर के अनेक गुण हैं तथापि इनमें से केवल दो गुण – विचार (Thought) तथा विस्तार (Extension) – मुख्य हैं। इस प्रकार ईश्वर प्रमुख रूप से मानसिक तथा भौतिक दोनों है। मानसिक एवं भौतिक जगत् दोनों एक ही सार्वभौम सत्ता (Universal Reality) के प्रकाश हैं, दोनों का स्तर समान है और दोनों में कोई किसी का कारण नहीं है।

(ग) विकारों का सिद्धान्त

स्पिनोजा का कथन है कि विश्व के समस्त पदार्थ द्रव्य के 'विकार' (modes) अर्थात् परिवर्तित रूप (modifications) हैं। 'विकारों' की परिभाषा करते हुए वह कहते हैं कि "विकार वह है जो दूसरी वस्तु (अर्थात् द्रव्य) में स्थित है और जिसके द्वारा उसकी धारणा की जाती है"[1]। अभिप्राय यह है कि 'विकार' की धारणा केवल द्रव्य के गुणों के विकार या परिवर्तित रूप में ही की जा सकती है अन्यथा नहीं। स्वतन्त्र रूप में न उसका कोई अस्तित्व है और न ही उसकी कोई धारणा (Conception) की जा सकती है। स्पिनोजा बताते हैं कि व्यक्तिगत मन एवं शरीर द्रव्य के ससीम कालिक विकार (Finite temporal modes) हैं जिनमें प्रथम अर्थात् व्यक्तिगत मन विचार के गुण के अन्तर्गत हैं और द्वितीय अर्थात् व्यक्तिगत शरीर विस्तार के गुण के अन्तर्गत हैं।

(घ) ईश्वर और प्रकृति में तदात्मता

स्पिनोजा अपने सर्वप्रमुख ग्रंथ 'ईथिक्स' (Ethics) में कहते हैं, "ईश्वर सब वस्तुओं का अन्तर्वर्ती कारण है, बहिर्वर्ती कारण नहीं। सब कुछ ईश्वर है, और सब कुछ उसी में विद्यमान तथा गतिमान है"[2]। इस प्रकार वह प्रारम्भ में ही अपने परतत्व को, केवलनिमित्तेश्वरवादियों के मत से पूर्णतया विपरीत, संसार से अतीत (transcendent) न कह कर संसार में व्यापक (immanent) होने का प्रतिपादन करते हैं। वह अपने अन्य ग्रंथों 'शार्ट ट्रीटाइज' (Short Treatise) आदि में भी ईश्वर की व्यापकता की ही घोषणा करते हैं। वास्तविकता यह है कि उन्होंने जिस प्रकार सर्वत्र 'द्रव्य' और 'ईश्वर' को पर्यायवाची अर्थों में प्रयोग किया है, उसी प्रकार सर्वत्र 'ईश्वर' और संसार या "प्रकृति' (Nature) को भी एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। इस स्थान पर पुन: उनके मत की दो परस्पर विरोधी व्याख्यायें की गई हैं। एक व्याख्या के अनुसार 'ईश्वर' पर बल दिया गया है

---

1. "Mode is that which is in another thing (i. e, Substance) through which also it is conceived." (Ethics, I. Def. 5.)
2. "God is the immanent, and not the extraneous, cause of all things. All is God; all lives and moves in God." (Ethics)

और दूसरी के अनुमार 'प्रकृति पर । प्रथम वर्ग के व्याख्याकारों का मत है कि स्पिनोजा के सिद्धांत में क्योंकि द्रव्य या ईश्वर ही एक मात्र मूल सत्ता है, अतः यही कहना उचित होगा कि उन (स्पिनोजा) के अनुसार संसार ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् संसार ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है और कुछ नहीं; ईश्वर से पृथक् संसार या प्रकृति का कोई अस्तित्व ही नहीं है; सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर है अन्य कुछ नहीं । इन व्याख्याकारों ने स्पिनोजा को ईश्वरोन्मत्त व्यक्ति (God-intoxicated man) पुकारा है। दूसरे वर्ग के व्याख्याकारों का कथन है कि स्पिनोजा का ईश्वर वस्तुत: संसार या प्रकृति से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, और न ही प्रकृति से स्वतन्त्र एवं पृथक् उसकी कोई सत्ता है; अतः यह कहना होगा कि स्पिनोजा वास्तव में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते। इन व्याख्याकारों ने उन्हें (स्पिनोजा को) नास्तिक बताया है ।

इस प्रसंग में हमारा विनम्र विचार यह है कि स्पिनोजा को नास्तिक कहना उनके साथ भारी अन्याय करना है । जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है स्पिनोजा ने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र संसार में ईश्वर के व्यापकत्व (Immanence) की घोषणा की है, ईश्वर में संसार के व्यापकत्व की नहीं । तब उनके सिद्धान्त में 'ईश्वर' पर ही बल देना युक्तिसंगत है 'संसार' या 'प्रकृति' पर नहीं । और इस कारण उन्हें नास्तिक कदापि नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यह कहना न्याय-संगत होगा कि वह पूर्ण आस्तिक एवं ईश्वर-भाव में खोये हुए व्यक्ति थे; जो सर्वत्र ईश्वर ही ईश्वर देखते थे, जिन्हें सारा संसार ही ईश्वरमय दृष्ट होता था । इसी भाव की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति हमें भारत के दो सुविख्यात भक्त-कवियों के निम्न शब्दों में प्राप्त होती है :

"जित देखूँ तित श्याममयी है" । (भक्त सूरदास) ।
"सियाराममय सब जग जानी" । (सन्त तुलसीदास) ।

(ङ) शरीर और मनस् का सम्बन्ध

स्पिनोजा ने अपने एकतत्ववादी दर्शन में शरीर और मनस् के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या का समाधान बड़ी ही सुन्दर रीति से करने का प्रयत्न किया है। हमने ऊपर बताया है कि 'विचार' और 'विस्तार' अर्थात् 'चित्' और 'अचित्' एक ही परतत्व 'द्रव्य' के दो गुण हैं, जो परस्पर भिन्न होते हुए भी विरोधी नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि ये दोनों एक ही प्रकाश की दो रश्मियाँ[1] हैं एक ही धुरी के दो पहिये हैं। अतः स्पिनोजा प्रतिपादित करते हैं कि संसार की प्रत्येक

1. Rays

घटना दैहिक और मानसिक दोनों होती है, वही घटना एक दृष्टिकोण से दैहिक कहलाती है और दूसरे दृष्टिकोण से मानसिक। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक क्रियायें एक दूसरे का कारण नहीं, वरन् दोनों में समानान्तरता (Parallelism) है।

(च) नियतत्ववाद[1]

स्पिनोजा जगत् की सभी घटनाओं में नियंत्रितता (Determinacy) मानते हैं। संसार की सभी वस्तुएँ एवं क्रियायें नियन्त्रितता के कड़े पाश में बंधी हैं, इसकी समस्त व्यवस्था गणित शास्त्र के नियमों के सदृश निश्चित एवं अपरिवर्तनीय है। वह कहते हैं "ईश्वर के अनन्त स्वभाव से संसार के सब पदार्थों का उद्गम उसी अनिवार्य रूप में हुआ है जैसे कि त्रिकोण के स्वभाव से ही उसके तीन कोण सर्वदा दो समकोणों के तुल्य हुआ करते हैं"। इस प्रकार उनके अनुसार विश्व की अनेकता एक ही परतत्व 'ईश्वर' की अनिवार्य अभिव्यक्ति है।

(छ) उपसंहार

जब हम सर्वांग रूप में स्पिनोजा के सिद्धान्त पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के द्वितत्ववाद को एकतत्ववाद में, शरीर और मनस् के अन्तर्क्रियावाद को समानान्तरवाद में और ईश्वरवाद को सर्वेश्वरवाद (Pantheism) में परिणत कर दिया है, और इस प्रकार अपनी विलक्षण प्रतिभा से दार्शनिक संसार को एक अपूर्व देन दी है। कुछ विचारकों ने उनके सिद्धान्त को आध्यात्मिक एकतत्ववाद कहा है। परन्तु हमारा मत है कि यह सिद्धान्त न आध्यात्मिक एकतत्ववाद कहा जा सकता है और न ही भौतिक एकतत्ववाद (Materialistic Monism)। कारण यह है कि उनका परतत्व 'द्रव्य' अपने मूल रूप में न आध्यात्मिक है न भौतिक। वह तो एक तटस्थ सत्ता (Neutral Reality) है, भौतिकता तथा आध्यात्मिकता तो (जैसा कि ऊपर बताया गया है) उसके दो पक्ष मात्र हैं।

2. हीगेल

जर्मन दार्शनिक हीगेल ने पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में जिस एकतत्ववाद का प्रतिपादन किया वह मूर्त्त एकतत्ववाद (Concrete Monism) के नाम से जाना जाता है। हीगेल के अपने इस सिद्धान्त में एकत्व और अनेकत्व के सम्बन्ध की बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है। उनका कथन है कि एकत्व और अनेकत्व दोनों ही सत्य हैं और दोनों ही हमारे अनुभव के विषय हैं। ये दोनों एक ही परम तत्व

1. Determinism

के दो पक्ष (पहलू) हैं। जिस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञाता और ज्ञेय परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार सीमित तथा असीमित, सापेक्ष तथा निरपेक्ष आदि भी परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। ये सब एक ही मूर्त्त सत्ता (Concrete Reality) में समाविष्ट हैं। हीगेल इस सत्ता को निरपेक्ष चैतन्य (Absolute Consciousness) की संज्ञा देते हैं और उनका मत है कि इस सत्ता में समस्त विरोधी प्रत्ययों (Contradictory concepts) का समन्वय हो जाता है। वह कहते हैं कि सृष्टि इसी निरपेक्ष चैतन्य या परमतत्व (Absolute) की बाह्य अभिव्यक्ति है। परमतत्व सृष्टि की विकास-प्रक्रिया द्वारा ही अपने स्वरूप का साक्षात्कार (self-realisation) करता है और विकास के विभिन्न स्तरों द्वारा शनैः-शनैः स्व-चेतना (self-consciousness) को प्राप्त होता है। जिस प्रकार अपनी ही विचार प्रक्रियाओं तथा अनुभूतियों के द्वारा मनस् समृद्ध (enriched) एवं विकसित होता है और अधिकाधिक स्वचेतना को प्राप्त होता है, उसी प्रकार परमतत्व भी प्रकृति (Nature) तथा इतिहास (History) में स्वयं की अभिव्यक्तियों के द्वारा समृद्ध एवं विकसित होता है और स्वचेतना को प्राप्त होता है। हीगेल इस परम तत्व को कई बार ईश्वर के नाम से भी पुकारते हैं और उनका कथन है कि जहाँ एक ओर परमतत्व या ईश्वर अनेकतत्व की सृष्टि करता है वहाँ साथ ही साथ अनेकत्व के विभिन्न अंगों में वह इस प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थापित करता है कि सभी भिन्नतायें तथा विरोध इसमें समाविष्ट होकर समन्वित हो जाते हैं[1]।

3. अन्य एकतत्ववादी सिद्धांत

एकतत्ववाद के विवेचन में हमने ऊपर देखा है कि स्पिनोजा के दर्शन में एकतत्ववाद अपने तटस्थ रूप में (Neutral form) प्राप्त होता है और हीगेल के दर्शन में अपने आध्यात्मिक रूप (Idealistic form) में। किन्तु एकतत्ववाद के इन दो रूपों के अतिरिक्त कुछ अन्य रूप भी हैं। उदाहरण के लिए जड़तत्ववाद भी एकतत्ववादी सिद्धान्त है, क्योंकि उसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व के चर-अचर पदार्थ (animate and inanimate objects) एक ही जड़-तत्व या पुद्गल से उद्भूत हुए हैं। इसी प्रकार प्रकृतिवाद भी एकतत्ववादी दर्शन ही है, क्योंकि इसमें भी प्रकृति को ही एकमात्र सत्ता बताया गया है। वर्तमान युग में वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप अनेक भौतिकवादी विचारक समग्र विश्व का मूल आधार 'शक्ति' को मानने लगे हैं और वे यह प्रतिपादित करने लगे हैं कि संसार की सभी वस्तुएँ और

1. हीगेल के एकतत्ववाद की विस्तृत व्याख्या नवम अध्याय "अध्यात्मवाद" में देखिये।

"चेतन प्राणी भी इसी मूल शक्ति के परिवर्तित रूप मात्र हैं अन्य कुछ नहीं। स्पष्ट ही है कि इस प्रकार के भौतिकवादी भी एकसत्ववादी ही कहलायेंगे। विख्यात जर्मन दार्शनिक शैलिंग (Schelling) के दार्शनिक सिद्धान्त में भी हमें एकतत्ववाद का दिग्दर्शन होता है। उनके एकतत्ववाद को स्पिनोजा के एकतत्ववाद[2] के सदृश तटस्थ एकतत्ववाद (Neutral Monism) की संज्ञा दी गई है। शैलिंग कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् में एक ही निराकार, निरपेक्ष एवं तटस्थ परमतत्व विद्यमान है और सब कुछ उसी की अभिव्यक्ति है। हीगेल के जिस मूर्त्त एकतत्ववाद (Concrete Monism) की हमने ऊपर चर्चा की है उसका समर्थन हमें यूरोप के कई अन्य दार्शनिकों, जैसे कि फिश्टे (Fichte), ग्रीन (Greene), ब्रैड्ले (Bardley) आदि में भी प्राप्त होता है। इन दार्शनिकों ने अपने अपने सिद्धान्तों में अपने अपने ढंग से अनेकत्व और एकत्व का सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है, और बताया है कि यद्यपि परमतत्व एक ही है तथापि वही तत्व भिन्न भिन्न रूपों में स्वयं को सृष्टि के अनेकत्व में प्रकाशित करता है।

समालोचना

एकतत्ववाद के विवेचन के प्रारम्भ में ही हमने यह कहा था कि सृष्टि की अनेकता में एकता की खोज मनुष्य के मन की एक स्वाभाविक खोज है। विश्व की विविधताओं के विषय में जब भी हम तनिक गहराई से चिन्तन करने लगते हैं, तो हमें शीघ्र ही इन विविधताओं की पृष्ठभूमि में एकता झाँकती दिखाई देती है। भिन्न भिन्न रूप में अनुभव की अनेकात्मकता होते हुए भी हमारा तर्क हमें जगत् की एकता की ओर इंगित करता है। परन्तु फिर भी दार्शनिक संसार में ऐसे अनेक विचारक हुए हैं जिन्होंने एकतत्ववादी दर्शन में अनेक दोष निर्दिष्ट किये हैं। हम निम्न पंक्तियों में इन दोषों की ओर संकेत करेंगे और साथ ही साथ उनकी समीक्षा भी प्रस्तुत करेंगे।

(1) ऊपर की पंक्तियों में स्पिनोजा के एकतत्ववाद में यह निर्दिष्ट किया गया है कि वह (स्पिनोजा) परतत्व, द्रव्य या ईश्वर को विश्वव्यापी सत्ता (Immanent Reality) प्रतिपादित करते हैं विश्वातीत सत्ता (Transcendental Reality) नहीं। हमारा विचार है कि ईश्वर की विश्वातीतता को न मानकर उन्होंने भारी भूल की है और अपने दर्शन को अनेक आपत्तियों का भाजन बना दिया है। उनके सिद्धान्त में सृष्टि में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या करना सम्भव ही नहीं हैं। ईश्वर को केवल विश्वव्यापक मानने से उन्हें ईश्वर और संसार

2. यद्यपि जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है, इस विषय में स्पिनोजा के टीकाकारों में परस्पर बड़ा मतभेद है।

में तदात्मता (identity) स्वीकार करनी पड़ी है जिसे वह स्पष्ट रूप से घोषित भी करते हैं। ऐसी स्थिति में संसार की परिवर्तनशीलता ईश्वर की ही परिवर्तनशीलता माननी होगी, और यदि ईश्वर को ही परिवर्तनशील माना जायेगा तो ईश्वर ईश्वर कैसे रहेगा ? ईश्वर की परिभाषा ही है 'त्रिकालाबाधित अपरिवर्तनीय सत्ता'; तब ईश्वर को परिवर्तनशील एवं विकारी मानना ईश्वर के ईश्वरत्व को ही समाप्त करना है ।

इस स्थल पर स्पिनोजा के एकतत्ववाद की आचार्य शंकर के एकतत्ववाद (वस्तुत: अद्वैतवाद) से भिन्नता को इङ्गित करना सम्भवत: अप्रासंगिक न होगा। शाङ्कर दर्शन का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ('यह सब ब्रह्म ही है') सिद्धान्त बाह्य रूप से स्पिनोजा के 'ईश्वर और जगत् के तादात्म्य' के सिद्धांत से बहुत अधिक सदृश प्रतीत होता है। परन्तु गहराई से विचार करने पर यह शीघ्र ही समझ में आ सकता है कि शंकर के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सिद्धान्त में, स्पिनोजा के समान, ब्रह्म और जगत् की तदात्मता (Identity) का प्रतिपादन कदापि नहीं किया गया है। इस सिद्धांत का अभिप्राय केवल इतना ही है कि क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सभी कुछ मिथ्या है, अत: जो कुछ भी वस्तुत: अस्तित्वमान है वह ब्रह्म ही है अन्य कुछ नहीं, जिसका अर्थ यही है कि 'यह सब ब्रह्म ही है'। स्पिनोजा के समान शंकर ब्रह्म को असंख्य परिवर्तनशील वस्तुओं की समष्टि नहीं बताते, वरन् उसे इस मिथ्या समष्टि की आधारभूत सत्ता (Basic Reality) कहते हैं। उन (शंकर) का मत है कि विविधताओं से परिपूर्ण सृष्टि अधिष्ठान (Substratum) ब्रह्म में उसी प्रकार कल्पित या अधिष्ठित (superimposed) है जिस प्रकार मिथ्या सर्प रज्जु[1] के अधिष्ठान में। अत: जिस प्रकार सर्प में होने वाले विकार (या परिवर्तन) रज्जु को स्पर्श नहीं कर पाते, उसी प्रकार सृष्टि में होने वाले विकार भी ब्रह्म को दूषित नहीं कर सकते। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का सिद्धांत उनके परतत्व को किञ्चिदपि विकारयुक्त नहीं करता, जैसे कि स्पिनोजा का 'ईश्वर और जगत् के तादात्म्य' का सिद्धान्त उनके ईश्वर को दूषित कर देता है।

(2) जगत् की परिवर्तनशीलता की व्याख्या की जो कठिनाई स्पिनोजा के एकतत्ववाद में उत्पन्न होती है वही कठिनाई हीगेल के एकतत्ववाद में भी उद्भूत होती है। हीगेल सृष्टि-प्रक्रिया को परतत्व (Absolute) या निरपेक्ष चैतन्य (Absolute Consciousness) की बाह्य अभिव्यक्ति कहते हैं। यह बाह्य अभिव्यक्ति जो अगणित विविधताओं से परिपूर्ण है, उनके मतानुसार, उतनी ही

---

1. रस्सी

सत्य है जितना सत्य उनका परतत्व या ईश्वर, जो एक है और निरपेक्ष है। पुन: यह कहना होगा कि जब सृष्टि एक वास्तविक प्रक्रिया है तो उसमें होने वाले परिवर्तन भी वास्तविक ही हैं, और सृष्टि क्योंकि ईश्वर की वास्तविक अभिव्यक्ति है, अत: सृष्टि के वास्तविक परिवर्तन ईश्वर के ही वास्तविक परिवर्तन हैं। इस प्रकार उन (हीगेल) के सिद्धांत में ईश्वर की ही परिवर्तनशीलता सिद्ध हो जायेगी और ईश्वर की परिवर्तनशीलता या विकारयुक्तता सिद्ध हो जाने पर क्या वह फिर भी ईश्वर को निरपेक्ष या परम सत्ता कह सकेंगे ? हमारा विनम्र मत है : कदापि नहीं।

(3) हीगेल के दर्शन के विरुद्ध हमारी एक दूसरी आपत्ति यह है कि एक ओर वह अपने परतत्व को निरपेक्ष सत्ता (Absolute) कहते हैं और दूसरी ओर यह कहते हैं कि यह परतत्व या ईश्वर सृष्टि की विकास-प्रक्रिया द्वारा स्वचेतना को प्राप्त होता है और आत्म-साक्षात्कार (self-realisation) करता है। हमारा प्रश्न यह है कि सृष्टि विकास द्वारा ईश्वर का स्वचेतना को प्राप्त होना और आत्म-साक्षात्कार करना क्या इस बात का द्योतन नहीं करता कि ईश्वर को अपने स्वरूप की वास्तविक अनुभूति के लिए सृष्टि रचना की अनिवार्य रूप से अपेक्षा है ? और यदि ऐसी अपेक्षा या आवश्यकता ईश्वर को है तब क्या ईश्वर ईश्वर या निरपेक्ष तत्व रह जाता है ?

(4) प्राय: सभी एकतत्ववादियों के विरुद्ध कहा गया है कि उनके सिद्धांत में वैयक्तिकता (Individuality) का नाश हो जाता है। उनके अनुसार क्योंकि जगत् के चर-अचर सभी पदार्थ एक ही परतत्व के बाह्य प्रकाश हैं, अत: उन पदार्थों की अपनी कोई स्वतन्त्रता ही नहीं है। अत: आलोचकों द्वारा यह आक्षेप किया गया है कि इस प्रकार के दर्शन में नैतिकता को कोई स्थान नहीं रह जाता। इस स्थान पर हमारा मत उक्त आलोचकों के मत के विरुद्ध है। हमारा नम्र कथन है कि ऊपर से देखने पर ये आपत्तियाँ भले ही कुछ युक्तिसंगत प्रतीत होती हों, परन्तु गम्भीरता एवं निष्पक्षता से विचार करने पर इनकी निस्सारता सहज ही प्रकट हो सकती है। स्पिनोजा के एकतत्ववादी दर्शन में 'स्पिनोजा का पत्र-व्यवहार' (Correspondence of Spinoza) नामक ग्रंथ पढ़ने से यह बात शीघ्र समझ में आ जाती है कि यद्यपि वह द्रव्य या ईश्वर को ही एकमात्र सत्ता मानते हैं तथापि साथ ही साथ वह यह भी प्रतिप्रादित करते हैं कि प्राणी (सृष्टि का ही एक अंग होने से) ईश्वर की ही अभिव्यक्ति अथवा प्रकाश हैं, और इसलिए उसमें नैसर्गिक रूप से ईश्वर के ही स्वभाव का अंश विद्यमान हैं। स्पिनोजा कहते हैं कि ईश्वर के स्वभाव का यह अंश ही प्राणी को इच्छा–स्वातन्त्र्य (Freedom of will) प्रदान करता है, और जहाँ इच्छा-स्वातन्त्र्य है वहाँ नैतिक मूल्यों की सार्थकता अत्यन्त स्पष्ट है। हीगेल के सिद्धांत में भी इसी प्रकार नैतिक संप्रत्ययों (moral concepts) को

अर्थहीन नहीं कहा जा सकता। हमने ऊपर बताया है कि हीगेल एकत्व और अनेकत्व दोनों को समान रूप से सत्य मानते हैं। अनेकत्व को सत्य मानने से मनुष्यों की सत्ता एवं स्वतन्त्रता उनके मत में स्वयमेव सिद्ध हो जाती है और मनुष्यों की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाने से नैतिकता भी स्वतः ही प्रतिष्ठापित हो जाती है।

भारतीय दर्शन के प्रख्यात एकतत्ववादी (अद्वैतवादी) सिद्धांत में भी विपक्षियों (Opponents) ने यह दोष आरोपित किया है कि इस सिद्धांत (अर्थात् शांकर दर्शन) में क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् की कोई सत्ता नहीं है, अतः इसमें नैतिकता निर्मूल हो जाती है। जब जगत् मिथ्या है, तो नैतिक प्रत्यय स्वाभाविक रूप से स्वयं ही मिथ्या हो जाते हैं। पुनः, इस दर्शन में जब ब्रह्म से जीव का कोई पार्थक्य या अन्यत्व नहीं, अर्थात् जीव ब्रह्म ही है, तब जीव को नैतिक प्रयत्न (moral endeavour) एवं नैतिक प्रगति (moral progress) करने की आवश्यकता ही क्या है? हमारा विचार है अद्वैत वेदांत के विरुद्ध इस प्रकार के आक्षेप इस दर्शन के रहस्यों को न समझने के कारण ही किए गए हैं। इस दर्शन के ज्ञाता जानते हैं कि जब तक इस दर्शन के व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोणों के भेद को ठीक प्रकार नहीं समझा जाता तब तक इसकी गहराइयों में प्रवेश करना कदापि सम्भव नहीं है। शंकर जगत् और नैतिक प्रत्ययों के मिथ्यात्व का प्रतिपादन केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण से करते हैं, व्यावहारिक दृष्टिकोण से नहीं। व्यावहारिक दृष्टिकोण (जो सभी साधारण मनुष्यों का दृष्टिकोण है) से वह जगत् और जगत् में विद्यमान नैतिक मूल्य सभी को सत्य कहते हैं। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन भी शंकर ने केवल पारमार्थिक दृष्टि से ही किया है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। व्यावहारिक दृष्टि से वह निश्चित-रूपेण जीव और ब्रह्म के द्वैत (अर्थात् पार्थक्य) को स्वीकार करते हैं, और उसके साथ स्पष्ट रूप से यह भी घोषित करते हैं कि जब तक व्यक्ति व्यावहारिक स्तर (Empirical plane) पर रहता है और उसे ब्रह्म तथा जीव की एकता की अपरोक्ष अनुभूति (Direct realisation) नहीं हो जाती, तब तक उसके लिए नैतिक मूल्यों की पूरी सत्यता है और पूरी महत्ता है। यही कारण है उन्होंने अपने दर्शन में नैतिक प्रत्ययों का इतना विस्तृत विवेचन किया है और सर्वत्र नैतिक प्रगति की आवश्यकता पर इतना बल दिया है। यहाँ विपक्षी लोग यह कहते हैं कि शांकर दर्शन में तो पारमार्थिक दृष्टिकोण ही वस्तुतः सत्य दृष्टिकोण है, और जब इस दृष्टिकोण से नैतिक मूल्य मिथ्या हैं तब वे वस्तुत: मिथ्या ही हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण जो अज्ञानग्रस्त लोगों का दृष्टिकोण है, उससे उन (नतिक मूल्यों) के सत्य होने का महत्व ही क्या है? शंकर बड़ी निर्भीकता के साथ उत्तर देते हुए कहते हैं कि उन्हें यह मानने में तनिक भी आपत्ति नहीं है कि पारमार्थिक दृष्टि ही उनके दर्शन की वास्तविक दृष्टि

है, और जिस महाभाग व्यक्ति को यह दृष्टि प्राप्त हो गई है, अर्थात् जिसे जीव और ब्रह्म के ऐक्य अथवा तादात्म्य (identity) की अनुभूति हो गई है, उसके लिये तो वस्तुत: ब्रह्म मात्र ही सत्य है, न जगत् सत्य है और न ही सत्य हैं जगत् के नैतिक प्रत्यय। परन्तु, उनका यह निश्चित मत है कि जब तक मनुष्य को यह दृष्टि प्राप्त नहीं हुई है तब तक उसे न जगत् को मिथ्या कहने का अधिकार है और न ही जगत् के नैतिक प्रत्ययों को।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गए प्रश्न

1. तत्व-मीमांसा क्या है ? इसके अन्तर्गत मुख्य वाद या सिद्धान्त क्या हैं ?

   What is Ontology ? What are the main varieties of ontological theory ?

2. तत्व एक है या अनेक ? एकतत्ववाद के आधार पर विश्व की अनेकता की व्याख्या क्या सफलतापूर्वक की जा सकती है ?

   Is the reality one or many ? How far does Monism succeed in explaining the plurality of the universe ?

3. लाइबनित्ज महोदय के आध्यात्मिक बहुतत्ववाद को समझाते हुए उसकी परीक्षा कीजिए ।

   State and exmine the the spiritualistic pluralism of Leibnitz.

4. बहुतत्ववाद के मूल सिद्धांत क्या हैं ? उनकी आलोचना कीजिए ।

   What are the basic principles of pluralism ? Consider them critically.

5. द्वितत्ववाद का सिद्धान्त क्या है ? उसके गुण और दोष बताइए ।

   What is Dualism ? Indicate its merits and demerits.

6. एकतत्ववाद से आप क्या समझते हैं ? यह मत हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाली विश्व की विचित्रताओं की व्याख्या करने में कहाँ तक सफल हुआ है ?

   What do you understand by Monism ? How far has this doctrine been succesful in explaining the variegations of the world ?

सप्तम अध्याय

जड़वाद तथा प्रकृतिवाद

(Materialism and Naturalism)

मनीषियों के चिन्तन का यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है कि इस संसार के मूलभूत तत्व का स्वरूप क्या है ? क्या यह तत्व जड़ है या चेतन ? अनुभव के विश्लेषण के पश्चात् कुछ दार्शनिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस विश्व की आधार-भूत सत्तायें जड़ एवं चेतन दोनों हैं। परन्तु उन दार्शनिकों के सम्मुख यह: समस्या — 'जड़ और चैतन्य, जो अपने स्वभाव और गुणों में एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं, में परस्पर सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाये' सर्वदा उनका सरदर्द बनी रही; वे इस समस्या का सन्तोषजनक समाधान कभी न ढूँढ़ पाये। अतः, दूसरे दार्शनिक विचारकों ने इस समस्या को हल करने हेतु केवल एक ही तत्व का सहारा लिया। उनमें से कुछ ने कहा कि इस सम्पूर्ण विश्व की मूल सत्ता केवल एक चेतन-तत्व या मनस् ही है; जड़-तत्त्व उसी पर आश्रित अथवा उसी से उद्भूत उसका ही दूसरा रूप है। ये विचारक अध्यात्मवादी[1] कहलाये। और, दूसरे चिन्तकों ने यह प्रतिपादित किया कि पुद्गल या जड़ पदार्थ ही संसार की एक मात्र आधारभूत सत्ता या तत्त्व है, अन्य सब पदार्थ (जिनमें प्राण और मनस् भी हैं) इसी जड़तत्व का परिणाम या विकसित रूप हैं। ये दार्शनिक जड़वादी नामांकित हुए और इनका सिद्धान्त जड़वाद कहलाया। निम्न पंक्तियों में हमारा सम्बन्ध जड़वाद की व्याख्य करने से ही है।

जड़वाद

(Materialism)

1. विश्व का मूल तत्त्व पुद्गल है

जड़वाद या भौतिकवाद के अनुसार पुद्गल ही इस सम्पूर्ण विश्व की आधार·

---

1. अध्यात्मवाद की सविस्तार विवेचना हम आगे नवम अध्याय में करेंगे।

भूत सत्ता है। प्रसार (Extension) तथा ठोसपन (Impenetrability) इसके स्वाभाविक गुण (essential attributes) हैं। इसकी क्रिया का प्रारम्भिक रूप गति (Motion) है। पुद्गल तथा गति के द्वारा संसार के सभी पदार्थों की व्याख्या की जा सकती है। ये ही सब वस्तुओं के मूल कारण हैं। प्राण (Life) तथा मनस् भी पुद्गल के ही परिणाम (transformations) हैं। सभी प्राण-सम्बन्धी प्रक्रियाओं (vital processes) एवं मानसिक क्रियाओं को पुद्गल तथा गति के द्वारा समझा जा सकता है।

2. पदार्थों में गुणात्मक भेद नहीं केवल परिमाणात्मक भेद हैं

जड़वाद 'शक्तिरक्षण का सिद्धान्त' (Law of Conservation of Energy) स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वह यह मानता है कि गुणात्मक भेदों को परिमाणात्मक भेदों में परिवर्तित किया जा सकता है। संसार के समग्र पदार्थ परमाणुओं से ही निर्मित हुए हैं, अतएव वे सब समान हैं। तथापि प्रश्न उपस्थित होता है कि पदार्थों में जो अनेक प्रकार के भेद दृष्ट हो रहे हैं उनका क्या कारण है? जड़वादी उत्तर देते हुए कहता है कि पदार्थों के भेदों का कारण यह नहीं कि वे तत्वत: एक दूसरे से भिन्न हैं, वरन् यह कारण है कि एक वस्तु के परमाणुओं का परिमाण दूसरी वस्तुओं के परमाणुओं के परिमाण से भिन्न है। परिमाण-भेद के कारण ही वस्तुओं में गुणात्मक भेद दृष्ट होने लगते हैं। इस प्रकार तापमान[1], प्रकाश, विद्युत, यांत्रिक गति[2], चुम्बकीय आकर्षण[3], आदि में कोई गुणात्मक भेद नहीं, वे तत्वत: एक ही हैं और इसी हेतु वे वैज्ञानिक प्रयोगों में एक दूसरे के रूप में परिवर्तित भी किये जा सकते हैं।

3· जीवन भौतिक शक्तियों का ही एक विकसित रूप है

जड़वाद केवल तापमान, विद्युत, चुम्बकीय आकर्षण, यांत्रिक गति, प्रकाश, आदि भौतिक शक्तियों की ही पारस्परिक परिवर्तनशीलता नहीं मानता, वरन् भौतिक शक्तियों की जीवन-शक्ति[4] में भी परिवर्तनशीलता का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार यांत्रिक तथा रासायनिक शक्तियाँ[5] ही जीवन के रूप में परिणत हो जाती हैं। यह घोषित करता है कि जीवन या प्राण (Life) पुद्गल से सर्वथा

---

1. Heat
2. Mechanical Motion
3. Magnetism
4. Life–Force
5. Chemical forces

भिन्न एवं स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है, प्रत्युत पुद्गल का ही एक विकसित रूप[1] है। जीवन को पुद्गल की ही एक आनुषंगिक उत्पत्ति[2] कही जा सकती है। इस प्रकार यह स्वतः-उत्पत्ति (Abiogenesis) के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और कहता है कि जीवन निर्जीव पुद्गल से ही उत्पन्न हुआ है।

4. मनस् या चेतन-शक्ति भी पुद्गल का ही एक विकसित रूप है

जीवन के आविर्भाव की व्याख्या करने के उपरान्त जड़वादी और भी आगे बढ़ता है और वह मनस् या चेतन की प्रक्रियाओं की व्याख्या भी पुद्गल तथा गति के द्वारा ही करने का प्रयास करता है। वह कहता है कि मनस् मस्तिष्क के स्नायु, मण्डल में होने वाली अनेक भौतिक शक्तियों की क्रियाओं प्रतिक्रियाओं का ही परिणाम है। मस्तिष्क में कुछ ऐसे भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन[3] होते हैं जिनके कारण उसमें स्वतः ही विचार-शक्ति उद्भूत हो जाती है। अतः प्राण या जीवन के सदृश मनस् को भी पुद्गल से सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं कहा जा सकता, यह भी पुद्गल का ही एक विकसित रूप है।

5. विश्व की यन्त्रवादी व्याख्या

जड़वाद विश्व की यन्त्रवादी व्याख्या[4] प्रस्तुत करता है। इसकी मान्यता है कि संसार परमाणुओं से बना है। ये परमाणु जड़ एवं नित्य हैं और इनमें गतिशीलता है। भौतिक नियमों के अनुसार आकर्षण तथा विकर्षण की शक्तियों (Forces of attraction of Repulsion) के द्वारा ये परमाणु संयोजित[5] और वियोजित[6] होते रहते हैं। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप संसार के अनेक प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश हुआ करता है। सभी घटनायें कारणों से नियन्त्रित[7] होती हैं, अकस्मात् अथवा अकारण कुछ भी घटित नहीं होता। सारा विश्व नियंत्रितता के लौहपाश में आबद्ध हैं और भौतिक नियमों का साम्राज्य सर्वत्र छाया हुआ है। भौतिक शक्तियाँ, जिनके द्वारा सारी घटनायें घटित हो रही हैं, अंध एवं अचेतन हैं; अतः उनमें वस्तुओं के निर्माण की योजना बनाने की सामर्थ्य ही कैसे

---

1. Evolved form
2. Bye-product
3. Physical and Chemical changes
4. Mechanistic Interpretation
5. Combined
6. Separated
7. Determined

हो सकती है ? इस हेतु सृष्टि में स्वतन्त्रता एवं प्रयोजन को कोई स्थान ही नहीं है।

6. जड़वाद की तीन प्रमुख अस्वीकृतियाँ

विभिन्न जड़वादी दार्शनिक सिद्धांतों पर दृष्टिपात करने से विदित होगा कि जड़वाद का सार उसकी तीन प्रमुख अस्वीकृतियों में निहित है — (1) सर्वप्रथम, जड़वाद ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता है। उसका कहना है कि इस सृष्टि का निर्माण किसी ऐसी सत्ता द्वारा नहीं हुआ है जो चेतन एवं सर्वशक्तिमान है, जिसे लोग ईश्वर कहते हैं। सृष्टि के सञ्चालन हेतु भी किसी ऐसी सत्ता या तत्व (Principle) की आवश्यकता नहीं है। (2) द्वितीय, जड़वाद मनस् या चेतन-शक्ति को पुद्गल से सर्वथा भिन्न एवं स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। वह यह भी नहीं मानता कि प्राणियों के आचरण में उनके मन कारण-रूप[1] से कार्य करते हैं। (3) तृतीय, जड़वाद जीवन या प्राण-शक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता।

7. जड़वाद के प्रकार-भेद

कुल्पे महोदय (Kulpe) ने अपने ग्रन्थ 'दर्शन की भूमिका' में जड़वाद के निम्न तीन रूप वर्णित किये हैं : (1) गुणात्मक जड़वाद (Attributive Materialism), (2) कारणात्मक जड़वाद (Causal Materialism), तथा (3) समतात्मक जड़वाद (Equative Materialism)। गुणात्मक जड़वाद मानता है कि मनस् या चेतन शक्ति पुद्गल का ही गुण है अन्य कुछ नहीं। कारणात्मक जड़वाद कहता है कि मनस् पुद्गल का कार्य (effect) है। और समतात्मक जड़वाद मानसिक क्रियाओं को स्वभाव से भौतिक समझता है। जड़वाद के इन तीन रूपों को बुशनर महोदय (Buchner) ने निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है : (8) विचार गति के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है, (2) विचार गति का कार्य है, तथा (3) विचार स्वतः ही गति है।

8. जड़वाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में आधुनिक जड़वाद का उदय सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक ल्यूसिपस (Leucippus) तथा उसके शिष्य डैमोक्रीटस (Democritus) के सिद्धान्तों में पाया जाता है। इन दार्शनिकों का कथन है कि संसार की सभी वस्तुएँ जड़ परमाणुओं से बनी हैं जिनमें कोई भी गुणात्मक भेद नहीं हैं, केवल परिमाणात्मक भेदों के कारण ही उनमें (अर्थात् वस्तुओं में) भेद दृष्टिगोचर

---

1. 'Verae Causae'

होते हैं। इनके अनुसार मनस् भी स्वभाव से जड़ ही है। डेमोक्रीटस के पश्चात् एपीक्यूरस (Epicurus) नाम के यूनानी दार्शनिक ने भी जड़वाद का प्रतिपादन किया। एपीक्यूरस का कथन है कि पुद्गल ही मनस् या आत्मा का अधिष्ठान (Substratum) है तथा विचार उसकी आकस्मिक घटनायें हैं। सोलहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में टॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes) एक विख्यात जड़वादी दार्शनिक हुआ जिसने यह घोषणा की कि विचार मस्तिष्क (Brain) की गति (Motion) मात्र है। उसका कथन है कि शरीर में उत्पन्न हुई गति ही स्नायुओं द्वारा मस्तिष्क को ले जाई जाती है और वही संवेदना (Sensation) के रूप में प्रकट हो जाती है। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के दार्शनिकों, जॉन टॉलैण्ड (John Toland) हॉलबैच (Holbach), कैबेनिस (Cabanis) आदि ने विचार को पुद्गल की उसी प्रकार एक प्रक्रिया मात्र बताई जैसे की जिह्वा की प्रक्रिया आस्वादन, उदर की प्रक्रिया पाचन और यकृत (Liver) की प्रक्रिया पित्तोत्पादन[1] है। कुछ अन्य आधुनिक जड़वादियों का कथन है कि मनस् या चेतना पुद्गल की ही एक आनुषंगिक उत्पत्ति है। वे बताते हैं कि जिस प्रकार एक मशीन के पुर्जों के पारस्परिक संघर्षण से प्रकाश-कण उत्पन्न हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार गर्दन के पिछले भाग के कोष्ठों (Ganglionic cells) के पारस्परिक संघर्ष से चेतना या ज्ञान की प्रकाश-रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। फ्रान्स के विख्यात दार्शनिक श्री बर्गसों (Bergson) अपनी काव्यमयी भाषा में कहते हैं कि मनस् मस्तिष्क के कोष्ठों पर नृत्य करने वाला एक प्रकाश-पुञ्ज (Halo) है।

जड़वाद के समर्थन में उपस्थित किए गए तर्क

(1) जड़वादियों ने अपने पक्ष का समर्थन जन-साधारण तथा विज्ञान के इस सिद्धान्त द्वारा किया है कि केवल प्रत्यक्ष एवं प्रयोग ही सत्य के अनुसंधान के प्रमुख साधन हैं; और प्रत्यक्ष एवं प्रयोग द्वारा हमें इस विश्व में पुद्गल के विभिन्न परिणामों के अतिरिक्त कुछ भी दृष्ट नहीं होता; अतः विश्व की मूलभूत सत्ता या तत्व हम पुद्गल के अतिरिक्त किसी भी वस्तु को नहीं मान सकते। जहां तक आत्मा, परमात्मा एवं परलोक के अस्तित्व का सम्बन्ध है, उनका अस्तित्व भी नहीं है क्योंकि न तो हमें उनका प्रत्यक्ष होता है और न ही वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा उनकी सिद्धि होती है।

(2) अपने मत की पुष्टि में जड़वादी दार्शनिक 'सरलतम व्याख्या का सिद्धांत'[2] प्रस्तुत करते हैं। यह सिद्धान्त कहता है कि हमें किसी विषय की व्याख्या

1- Secretion of bile

2- Law of Parsimony

करने के लिए केवल उतने ही तत्वों का सहारा लेना चाहिए जो नितान्त आवश्यक हों, और वे तत्व भी ऐसे हों जो हमें ज्ञात हों। अज्ञात तत्वों का सहारा तभी लिया जा सकता है जब ज्ञात तत्वों से हमारा काम कदापि न चल सके। जड़वाद का दावा है कि विश्व तथा उसकी समग्र वस्तुओं की व्याख्या केवल पुद्गल एवं गति के आधार पर पूर्ण रूपेण की जा सकती है। अत: हमें आत्मा एवं परमात्मा के अस्तित्व को मानने की आवश्यकता है ही नहीं।

(3) वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार किसी घटना का कारण जानने के लिए हमें उसकी नियत पूर्ववर्ती घटनाओं[1] को खोजना आवश्यक होता है। इस प्रकार जब हम मानसिक घटनाओं के कारण की खोज करते हैं तो हमें विदित होता है कि मस्तिष्क एवं स्नायु-मण्डल की प्रक्रियायें ही मानसिक क्रियाओं की नियत पूर्ववर्ती घटनायें हैं। जड़वाद कहता है कि इससे यह सिद्ध होता है कि मानसिक क्रियायें भौतिक क्रियाओं से स्वतंत्र या भिन्न नहीं, वरन् उन्हीं का रूपान्तर मात्र हैं।

(4) जड़वाद विज्ञान के शक्ति रक्षण नियम[2] द्वारा भी अपने मत की पुष्टि करने का प्रयास करता है। शक्ति रक्षण नियम यह है कि विश्व में शक्ति की मात्रा स्थिर रहती है यह घट या बढ़ कदापि नहीं सकती। संसार में होने वाले विविध परिवर्तन 'शक्ति' (energy) के रूप के ही परिवर्तन मात्र हैं अन्य कुछ नहीं। अत: हमें मानसिक घटनाओं को भौतिक घटनाओं का ही परिवर्तित रूप मानना होगा, अन्यथा शक्ति रक्षण के नियम का खण्डन होना अवश्यम्भावी है।

(5) भौतिकवाद[3] की घोषणा है कि तुलनात्मक शरीरविज्ञान[4] की दृष्टि से भी मनस् (Mind) का मस्तिष्क (Brain) के साथ घनिष्ट सम्बन्ध सिद्ध होता है। तुलनात्मक शरीर-विज्ञान के अनुसार स्नायु-मण्डल के विकास के समानान्तर में ही मनस् का विकास होता है। यदि विभिन्न श्रेणियों के पशुओं के मस्तिष्कों की तुलना की जाय तो हमें ज्ञात होगा कि पशु की श्रेणी के विकास-क्रम के साथ ही साथ मस्तिष्क का आकार, वजन एवं जटिलता[5] भी बढ़ती जाती है। मनुष्य का मस्तिष्क क्योंकि आकार, वजन तथा जटिलता में उसके शरीर के अनुपात से अन्य सभी पशुओं की तुलना में अधिक होता है इसी हेतु वह सबसे अधिक मानसिक शक्ति रखने वाला प्राणी है। मनुष्यों में भी यह देखा गया है कि जो व्यक्ति अधिक

1. Invariable antecedent events
2. Law of Conservation of Energy
3. जड़वाद को भौतिकवाद की संज्ञा भी दी गयी है
4. Comparative Anatomy
5. Complexity

बुद्धिमान होते हैं उनका मस्तिष्क भी अधिक जटिल होता है। इस सब के अतिरिक्त शरीरक्रिया विज्ञान (Physiology) तथा रोगविज्ञान (Pathology) के प्रयोगों के द्वारा यह देखा गया है कि मस्तिष्क के विशिष्ट स्थानों पर चोट लगने से मन की विशिष्ट शक्तियों का लोप हो जाता है; और यदि मस्तिष्क की स्नायुओं का सर्वथा विनाश हो जाता है तो चेतना की भी पूर्णरूप से समाप्ति हो जाती है। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनस् मस्तिष्क के सिवाय कुछ नहीं है।

(6) विश्व की आधुनिक विकासवादी व्याख्या से भी जड़वाद अपना समर्थन करता है। विकासवाद कहता है कि सृष्टि के आरम्भ में केवल पुद्गल की ही सत्ता थी। धीरे धीरे कुछ भौतिक नियमों के अनुसार ग्रहों[1] एवं उपग्रहों[2] की उत्पत्ति हुयी। ग्रहों में हमारी पृथ्वी पर सर्वप्रथम वनस्पति का विकास हुआ, और वनस्पति से जीव की उत्पत्ति हुई। शनैः शनैः विकास आगे बढ़ा और पुद्गल उत्तरोत्तर जटिल रूप धारण करता गया। जिससे प्राकृतिक चुनाव[3] तथा वंशानुक्रमण द्वारा अनेक प्रकार के जीवों का आविर्भाव हुआ और तब मनस् एवं बुद्धि का विकास हुआ।

आलोचना

(1) जड़वाद की सबसे बड़ी त्रुटि उसकी इस मान्यता में दृष्ट होती है कि सत्य के अनुसंधान में प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। जड़वादियों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि प्रत्यक्ष ही एक मात्र ज्ञान का आधार है तो दूसरे वादों की सत्यता में संदेह वे किस आधार पर करते हैं? क्या इस सन्देह का इन्हें किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है? उन्हें उत्तर में कहना ही पड़ेगा 'नहीं'। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि दूसरे मतों का खण्डन एवं अपने मत की पुष्टि केवल प्रत्यक्ष के आधार पर की ही नहीं जा सकती।

(2) जड़वादी दार्शनिक कहते हैं कि प्राण (या जीवन) की पुद्गल से पृथक् एवं स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है; यह पुद्गल से ही उद्भूत हुआ है। परन्तु यह उनकी कोरी कल्पना ही होती हैं। संसार की किसी भी प्रयोगशाला में अभी तक कोई वैज्ञानिक रासायनिक पदार्थों (Chemical substances) से 'जीवन रस' (Protoplasm) का निर्माण नहीं कर सका है। जिस जीवन-रस का निर्माण हो सका है वह केवल देखने में ही जीवन-रस के सदृश प्रतीत होता है उसमें जीवन का सर्वथा अभाव है। इसी तथ्य का उद्घोष करते हुए वर्तमान युग के सुविख्यात विचारक

1. Planets
2. Satellites
3. Natural Selection
4. Heredity

जॉन केयर्ड (John Caird) कहते हैं, "The protoplasm, which has been prepared artificially is not living but dead protoplasm, and again that protoplasm which can be analysed and of which chemical constitution is known is not living but dead protoplasm." पुन: जीवन आत्माभिवर्धन[1], स्वचालन[2], वंशोत्पादन[3], आदि कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो जड़-तत्व के गुणों से सर्वथा भिन्न हैं। अत: जीवन को जड़-तत्व से आविर्भूत कहा ही नहीं जा सकता।

(3) मनस् की व्याख्या भी जड़-तत्व के द्वारा करना सम्भव नहीं है। जड़वादी मनस् को पुद्गल की आनुषांगिक उत्पत्ति बताते हैं। यदि यह सत्य होता तो शरीर में मनस् पर नियन्त्रण करने की शक्ति होती। परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव हमें यह बताता है कि ऐसा कदापि नहीं है, वरन् मनस् में ही शरीर को नियन्त्रित करने की शक्ति है।

(4) मनस् का यह एक विशेष गुण है कि यद्यपि क्षण क्षण उसकी स्थिति बदलती है तो भी उसकी एकता (Unity) तथा प्रहवमानता (Continuity) में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। यह गुण किसी भी जड़ पदार्थ में दृष्टिगोचर नहीं होता। इस बात से भी यह स्पष्ट होता है कि मनस् जड़ परमाणुओं से निर्मित नहीं हुआ है।

(5) कुछ जड़वादियों ने मनस् को मस्तिष्क की उसी प्रकार से एक प्रक्रिया[4] बताई है जैसे कि पैरों की प्रक्रिया चलना और हाथों की प्रक्रिया काम करना है। विचार करने पर यह पता चलता है कि किसी अंग की प्रक्रिया से अभिप्राय उस अंग की गति[5] से ही होता है। अत: मस्तिष्क की प्रक्रिया कहने से मस्तिष्क की गति का होना ही अर्थ होगा। परन्तु विचार करते समय मस्तिष्क की गति का कोई भी अनुभव नहीं करता। अत: भौतिकवाद का मनस् या बुद्धि को मस्तिष्क की प्रक्रिया बताना सर्वथा असंगत है।

(6) जड़वाद की मान्यता है कि सृष्टि का उद्विकास भौतिक शक्तियों की अन्ध याँत्रिक क्रीड़ा मात्र है। ये शक्तियाँ बिना किसी चेतन शक्ति के निर्देशन के

---

1. Self-growth
2. Self-automation
3. Self-procreation
4. Function
5. Motion

जड़ परमाणुओं को आकर्षण और विकर्षण द्वारा विविध वस्तुओं के रूप में उत्पन्न करती हैं। यह समझ में नहीं आता कि अन्ध भौतिक शक्तियाँ किस प्रकार जड़ परमाणुओं द्वारा हमारे ऐसे सुन्दर, सुव्यवस्थित एवं सामञ्जस्यपूर्ण संसार को निर्माण करने में समर्थ हो सकती है। जगत् की व्यवस्था एवं सौन्दर्य को देखकर यह अनुमान करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि जगत् की उत्पत्ति किसी उद्देश्ययुक्त चेतन शक्ति द्वारा ही हुई है अचेतन भौतिक शक्तियों द्वारा नहीं।

(7) भौतिकवाद सम्पूर्ण जगत् की व्याख्या यांत्रिक नियमों के आधार पर करने का दावा करता है। परन्तु उसका यह दावा विज्ञान के आधुनिक अनुसन्धानों के सर्वथा विरुद्ध है। वर्तमान वैज्ञानिक गवेषणायें बताती हैं कि यांत्रिक नियम विश्व के केवल एक सीमित क्षेत्र तक ही लागू होते हैं। विश्व की जो बड़ी से बड़ी वस्तुएँ हैं जैसे नक्षत्र आदि और विश्व की जो छोटी से छोटी वस्तुएँ हैं जैसे परमाणु — उनकी गति की व्याख्या करने में यान्त्रिक नियम असफल हो जाते हैं।

(8) यांत्रिक नियम जीव-जगत् तथा मानसिक जगत् के व्यवहारों पर भी लागू नहीं होते। पशुओं तथा मनुष्यों की शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं की व्याख्या यांत्रिक नियमों द्वारा कभी भी नहीं हो पाई है। जीवन को स्वचालितता[1] तथा मनस् का इच्छा-स्वातन्त्र्य[2] जगत् की यान्त्रिक व्याख्या को एक खुली चुनौती है।

(9) जड़वाद ने जिन तर्कों के आधार पर मस्तिष्क एवं मनस् की एकता सिद्ध करने का प्रयास किया है उनसे केवल इतना ही प्रकट होता है कि उन दोनों की क्रियाओं में बहुत अधिक समानान्तरता[3] है। परन्तु समानान्तरता का अर्थ एकता कभी नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि मनस् की क्रियायें बहुत सीमा तक मस्तिष्क पर आधारित हैं, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि मस्तिष्क ही मनस् है; जैसे कि यद्यपि देखने की क्रिया प्रकाश पर आधारित अवश्य है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रकाश ही देखने की क्रिया है।

(10) हमने ऊपर देखा है कि भौतिकवादियों ने अपने मत का समर्थन

---

1. Automation
2. Freedom of will
3. Correspondence
4. **Identity**

'शक्ति-संरक्षण के नियम' के द्वारा करने की चेष्टा की है। परन्तु यदि गहराई से विचार किया जाय तो यह शीघ्र समझ में आ सकता है कि यह नियम भी भौतिकवाद का खण्डन करता है। इस नियम के अनुसार बिना किसी परिमाण के ह्रास के एक प्रकार की भौतिक शक्ति (जैसे तापमान) दूसरे प्रकार की भौतिक शक्ति (जैसे प्रकाश) में परिणत हो सकती है, परन्तु भौतिक शक्ति का अभौतिक अथवा मानसिक शक्ति में परिणत होना कदापि सम्भव नहीं है। तब भौतिकवाद का यह मानना कि मस्तिष्क की गति (Motion of the Brain) ही मानसिक शक्ति में रूपान्तरित हो जाती है 'शक्ति रक्षण नियम' का सर्वथा विरोध करता है। भौतिक गति की विचार में परिणति का अर्थ ही भौतिक शक्ति का समूल नष्ट हो जाना है। पुनः, स्वयं वैज्ञानिकों को ही यह ज्ञान नहीं है कि विश्व में भौतिक शक्ति कितने परिणाम में विद्यमान है, तब 'शक्ति रक्षण का नियम' उनकी एक अन्ध धारणा मात्र ही कही जा सकती है।

(11) जड़वाद के खण्डन में विख्यात् जर्मन दार्शनिक हीगेल का कथन है कि कुछ समय के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि पुद्गल से ही मनस् की उत्पत्ति हुई है, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि पुद्गल में मनस् पहिले ही से विद्यमान था, क्योंकि जो वस्तु जहाँ नहीं है उसको वहां से उत्पन्न नहीं किया जा सकता[1], जैसे कि तेल बालू से नहीं निकाला जा सकता केवल तिलों से ही निकाला जा सकता है। किन्तु, ऐसा स्वीकार करने पर जड़वाद का स्वतः ही खण्डन हो जायेगा।

(12) विज्ञान की आधुनिकतम गवेषणाओं ने तो जड़वाद की नींव 'जड़ तत्व' को ही आमूल नष्ट कर दिया है। वर्तमान वैज्ञानिकों का कथन है कि पुद्गल जैसी ठोस एवं इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु की कोई सत्ता है ही नहीं। वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा हमें जिस अन्तिम सत्ता का ज्ञान हुआ है वह केवल एक 'शक्ति' (Energy) है, जिसके मूल स्वरूप के विषय में हम कुछ भी कहने में असमर्थ हैं। यदि कुछ कह सकते हैं तो केवल इतना ही कि "We do not know what it is" (अर्थात् "हम नहीं जानते कि यह क्या है"।)।

---

1. हीगेल का यह तर्क गीता के निम्न सिद्धान्त से बहुत अधिक सादृश्य रखता है : "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः"। (अर्थात् सत् वस्तु का कभी नाश नहीं होता और असत् वस्तु का कभी उद्भव सम्भव नहीं है।)।

(गीता, अध्याय — 2.16.)

ऊपर हमने जड़वाद की तत्वमीमांसा सम्बन्धी कठिनाइयाँ व्यक्त की हैं; अब निम्न पंक्तियों में हम ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से उक्त वाद के कुछ दोषों की ओर संकेत करेंगे।

(13) ज्ञानमीमाँसा की दृष्टि से ज्ञान के उदय होने के लिए ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के अस्तित्व की आवश्यकता है। परन्तु जड़वाद ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत को मिटाकर केवल पुद्गल के अद्वैत की स्थापना करने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में यह बुद्धिगम्य नहीं होता कि वह ज्ञान की यथोचित व्याख्या करने में कैसे समर्थ हो सकता है ?

(14) पुद्गल और उसके गुणों का ज्ञान मनस् के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनस् के द्वारा ही पुद्गल के अस्तित्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार जब पुद्गल ही मनस् पर आश्रित है तब जड़वादी का यह कहना कि मनस् पुद्गल की उत्पत्ति है ऐसा ही है जैसा कि घोड़े के आगे गाड़ी का रखना अथवा व्यक्ति का अपने ही कंधों पर सवार होना।

प्रकृतिवाद
(Naturalism)

हमने जड़वाद की समीक्षा करते हुए ऊपर यह बताया है कि आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों ने पुद्गल के प्रत्यय (concept of matter) को ही भस्मसात कर दिया। इस बात से भौतिकवादियों के हृदय में टीस होना अत्यन्त स्वाभाविक था। अब उन्होंने अपना रूप-रंग परिवर्तित किया और अपने इस परिवर्तित रूप-रंग को प्रकृतिवाद के नाम से अंकित किया। भौतिकवाद ने पुद्गल के प्रत्यय पर ही अपना सम्पूर्ण वल दिया था और यह प्रतिपादित किया था कि विश्व की समस्त वस्तुओं की व्याख्या केवल 'पुद्गल' के द्वारा ही की जा सकती है। परन्तु भौतिक विज्ञान तथा रसायन विज्ञान के क्षेत्रों में हुई नवीनतम खोजों को देख भौतिकवादी विचारकों के मन में यह स्फुरित होने लगा कि पुद्गल को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की मूलभूत सत्ता मानना एक भारी भूल है। परमाणु का विश्लेषण हो जाने से पुद्गल की अन्तिम सत्ता (ultimate truth) का खण्डन अब उन पर स्पष्ट हो गया था। प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात हो चुका था कि परमाणु के भी टुकड़े किए जा सकते हैं, और परमाणु की रचना इलैक्ट्रोन (Electrons) और प्रोटोन (Protons) से हुई है। ये परमाणुओं के टुकड़े गतिहीन नहीं, वरन् स्वभाव से ही गतियुक्त हैं। ये शक्ति-कण हैं और ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों का कारण हैं।

इन तथ्यों के आधार पर उक्त विचारकों को अब यह घोषणा करनी पड़ी कि सृष्टि का आधार-तत्व पुद्गल नहीं, वरन् शक्ति (energy) है। 'शक्ति' के साथ उन्होंने 'गति' और प्राकृतिक नियमों (जिनमें 'कार्यकारण सम्बन्ध' का एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण नियम है) पर भी बहुत बल दिया और सृष्टि की व्याख्या एक नये ढंग से प्रस्तुत की, जो यद्यपि भौतिकवाद की व्याख्या से सादृश्य रखती है तथापि वैज्ञानिक दृष्ट्या उससे अधिक सन्तोषप्रद है। विकास की इस नवीन व्याख्या को ही प्रकृति-वाद की संज्ञा प्रदान की गई।

1. 'प्रकृति' शब्द का अर्थ

प्रकृतिवाद के यथोचित स्वरूप को समझने के लिए सम्भवतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पहिले हम यह जान लें कि प्रकृतिवाद में 'प्रकृति' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? प्रकृतिवाद में मुख्य रूप से प्रकृति का अर्थ 'देश और काल के अन्तर्गत समग्र वस्तुओं तथा घटनाओं की समष्टि' से लिया गया है, जो कार्यकारण तथा अन्य प्राकृतिक नियमों से बद्ध हो स्वयं ही स्वकीय स्वभाववश अपना संचालन करती हैं और जो किसी भी अन्य बाह्य शक्ति से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होती। जैसा कि ऊपर कहा गया है प्रकृतिवाद परमाणुओं के स्थान पर 'शक्ति' की सत्ता की स्थापना करता है और यह प्रतिपादित करता है कि इस शक्ति की तरंगों से ही जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों और घटनाओं का विकास हुआ है। अत एव इस सिद्धान्त को शक्तिवाद (Energism) के नाम से भी पुकारा गया है। पुनः, प्रकृतिवाद की यह मान्यता है कि समस्त प्राकृतिक वस्तुएँ एवं घटनायें भावात्मक विज्ञानों (Positive Sciences) के अन्तर्गत आ जाती हैं और वैज्ञानिक नियमों से उनकी व्याख्या की जा सकती है, अत एव इस विचार दर्शन को 'भाववाद' (Positivism) की संज्ञा भी प्राप्त हुई है। वर्तमान काल में फ्रान्सीसी दार्शनिक ऑगस्ट कॉम्टे (August Comte) ने भाववाद की प्रतिष्ठापना की है।

2. शक्ति-संरक्षण के नियम में विश्वास

प्रकृतिवाद शक्ति-संरक्षण के नियम में आस्था रखता है। वह कहता है कि शक्ति के रूप तो अवश्य परिवर्तित होते हैं परन्तु न तो उसकी मात्रा में अभि वृद्धि होती है और न ही ह्रास। शक्ति के विभिन्न प्रकार-भेद हैं, जैसे कि तापमान, प्रकाश, गति, विद्युत, आकर्षण आदि। ये विभिन्न प्रकार एक दूसरे के रूप में परिणत किए जा सकते हैं। उनके गुण में परिवर्तन हो जाता है परिमाण में नहीं।

3. उद्विकास के सिद्धान्त का समर्थन

प्रकृतिवादी दार्शनिक उद्विकास के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। उनका

कथन है कि निर्जीव पुद्गल से जीवन का विकास हुआ है। भौतिक एवं रासायनिक शक्तियों ने संयुक्त होकर जीवन को प्रकट किया है। पौधों की सरल जातियों[1] से पौधों की जटिल जातियों का और जन्तुओं की सरल जातियों से जन्तुओं की जटिल जातियों का उद्भव हुआ है। उनके मतानुसार मनस् भी प्रतिक्षेप क्रियाओं[2] से क्रमशः विकसित हुआ है जिसे मस्तिष्क की आनुषंगिक उपज कहा जा सकता है।

4. जगत् की नियतत्ववादी व्याख्या[3]

प्रकृतिवाद नियतत्ववाद (Determinism) का समर्थक है। उसकी मान्यता है कि जगत् की सभी घटनायें पूर्व कारणों से नियन्त्रित होती हैं। संसार में न तो कुछ अकस्मात् घटित होता है, और घटनाओं के घटित होने में न ही कोई भावी प्रयोजन (Future purpose) कार्य करता है। प्राकृतिक नियमों, जिनमें 'कारणता का नियम' भी सम्मिलित है, के द्वारा सब पदार्थ तथा क्रियायें संचालित होती रहती हैं; ये नियम शाश्वत, सार्वभौम एवं अपरिवर्तनीय हैं। इस प्रकार प्रकृतिवाद 'प्रकृति की समरूपता' (Uniformity of Nature) का अनुमोदन करता है।

5. एक प्रकार का नास्तिकवाद

प्रकृतिवाद एक प्रकार का नास्तिकवाद भी है। वह प्रकृति अथवा प्राकृतिक नियमों के संचालन हेतु ईश्वर या किसी अन्य शक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। 'आत्मा की अमरता', 'परलोक के अस्तित्व' तथा 'संकल्प की स्वतन्त्रता' (Freedom of Will) में उसका विश्वास नहीं है।

6. प्रकृतिवाद का नया रूप

प्रारम्भ में प्रकृतिवादियों की यह धारणा थी कि भौतिक विज्ञान एवं रसायन विज्ञान के द्वारा सभी प्राकृतिक पदार्थों एवं घटनाओं की व्याख्या की जा सकती है। परन्तु आधुनिक प्रकृतिवादियों का कथन है कि जीव-विज्ञान तथा मनोविज्ञान का अपना स्वतन्त्र क्षेत्र है और उनकी समस्याओं का समाधान भौतिक विज्ञान एवं रसायन विज्ञान के दृष्टिकोणों से नहीं किया जा सकता। विकास-क्रम के विभिन्न स्तरों पर केवल परिणात्मक भेद ही नहीं वरन् गुणात्मक भेद भी होते हैं; अतः नये स्तर की व्याख्या पूर्व स्तर के नियमों द्वारा करना सम्भव ही नहीं है। विकास की प्रक्रिया में आगामी स्तरों पर ऐसी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है जिनके गुण पूर्व स्तर की

1. Species
2. Reflex actions
3. Deterministic explanation

वस्तुओं के गुणों से सर्वथा भिन्न होते हैं। उदाहरण के रूप में जैसे प्रकृतिवाद यह तो मानता है कि जीवन की उत्पत्ति पुद्गल से होती है और मनस् भी पुद्गल की ही आनुषंगिक उपज है, तथापि साथ ही साथ वह यह भी घोषित करता है कि जीवन और मनस् के गुण और स्वभाव पुद्गल के गुण और स्वभाव से सर्वथा भिन्न होते हैं और दोनों (जीवन और मनस्) में से किसी को भी पुद्गल का ही दूसरा रूप नहीं कहा जा सकता।

आलोचना

(1) भिन्न भिन्न प्रकृतिवादी दार्शनिक 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में करते हैं और तदनुरूप अपने अपने मतों का प्रतिपादन करते हैं। इससे यह विदित होता है कि प्रकृतिवादियों के सम्मुख उनके सिद्धान्त का मूल प्रत्यय (Basic concept) भी स्पष्ट नहीं है; और दार्शनिक दृष्टि से यह एक बड़ी ही उपहासास्पद स्थिति है।

(2) प्रकृतिवाद 'पुद्गल' के स्थान पर 'शक्ति' के प्रत्यय की स्थापना करता है। परन्तु, शक्ति क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देने में वह स्वयं की पराजय स्वीकार कर लेता है। पुनः प्रकृतिवाद प्राकृतिक नियमों को सार्वभौम एवं अनिवार्य बताता है, किन्तु उसकी यह मान्यता हमारे साधारण अनुभव के विरुद्ध है।

(3) हमने जैसाकि ऊपर बताया है, प्रकृतिवाद एक प्रकार का नास्तिकवाद है, अस्तु वह धार्मिक आस्थाओं एवं विचारों का विरोध करता है। ऐसी स्थिति में यह समझ में नहीं आता कि विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों में उत्पन्न सन्तों एवं महात्माओं की धार्मिक अनुभूतियों की समुचित व्याख्या करने में वह कैसे समर्थ हो सकता है ?

(4) यह तो स्पष्ट ही है कि अन्ततोगत्वा प्रकृतिवाद है तो भौतिकवाद ही। अतः जो युक्तियां भौतिकवाद के खण्डन में प्रस्तुत की गई हैं वे सभी प्रकृतिवाद के विषय में भी बहुत सीमा तक लागू हैं।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. जड़वाद क्या है ? उसके गुण और दोष क्या हैं ?
   What is Materialism ? What are its merits and demerits ?
2. भौतिकवाद क्या ? उसकी विवेचना कीजिए ।
   What is Physicalism ? Discuss it critically.
3. प्रकृतिवाद क्या है ? क्या आप विश्व की प्रकृतिवादी व्याख्या को सन्तोषजनक समझते हैं ?
   What is Naturalism ? Do you find a naturalistic interpretation of the Universe satisfactory ?
4. जड़वाद और प्रकृतिवाद का भेद स्पष्ट कीजिये ।
   Indicate clearly the difference between Materialism and Naturalism.

अष्टम अध्याय

वस्तुस्वातन्त्र्यवाद

(Realism)

दार्शनिक विचार के क्षेत्र में हमारे सम्मुख एक यह समस्या उपस्थित होती है कि वस्तुओं का ज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? अर्थात् बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर आधारित है या ज्ञान से स्वतन्त्र ? क्या वस्तुओं के ज्ञान से पृथक् उन वस्तुओं की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता है या नहीं ? दर्शन के इतिहास में इस समस्या का समाधान दो प्रकार से किया गया है। प्रथम यह कि वस्तुओं का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर आश्रित नहीं है; ज्ञान से पूर्णतया स्वतन्त्र वस्तुओं का अपना पृथक् अस्तित्व है। यह मत वस्तुस्वातन्त्र्यवाद या यथार्थवाद के नाम से इङ्गित किया गया है। दूसरा समाधान यह किया गया है कि वस्तुओं का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर आश्रित है ; ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तुओं की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस मत को अध्यात्मवाद, धारणावाद या प्रत्ययवाद (Idealism) के नाम से पुकारा गया है। इस अध्याय में हम वस्तुस्वातन्त्र्यवाद का विवेचन करेंगे और अगले अध्याय में अध्यात्मवाद का।

वस्तुस्वातन्त्र्यवाद का स्वरूप

(Nature of Realism)

वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के सामान्य स्वरूप को निर्दिष्ट करते हुए सैलर्स, (Sellers) कहते हैं, "Knowledge unconditionally presupposes that the reality known exists independently of the knowledge of it, that we know it as it exists in this independence." (अर्थात् ज्ञान की सर्वदा ही यह पूर्वमान्यता है कि ज्ञात सत्ता अपने ज्ञान से पूर्व स्वतन्त्र रूप से अस्तित्वमान है और हम इसे अपने इसी स्वतन्त्र अस्तित्व के रूप में जानते हैं।")।

1. वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान पर आधारित नहीं है

वस्तु-स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तुओं की अपनी पृथक् सत्ता है। उनका अस्तित्व ज्ञान पर आश्रित नहीं है। यदि हम किन्हीं वस्तुओं को नहीं जानते तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उन वस्तुओं का अस्तित्व है ही नहीं। अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका पूर्व काल में हमें ज्ञान नहीं था और अब है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अस्तित्व पूर्वकाल में था ही नहीं। उदाहरण के रूप में कुछ शताब्दियों पूर्व एमेरिका के विषय में किसी को कुछ ज्ञात ही नहीं था, परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि एमेरिका का अस्तित्व पहिले था ही नहीं ? इसी प्रकार जिन मंगल(Mars), बृहस्पति (Jupiter), शुक्र (Venus) आदि ग्रहों (planets) में मनुष्य जाति के होने का अब हमें ज्ञान नहीं है और यदि भविष्य में ऐसा हो जाय, तब क्या यह कहेंगे कि उक्त ग्रहों में मनुष्य जाति पहिले थी ही नहीं। वस्तुस्वातन्त्र्यवाद कहता है कि वस्तुओं के ज्ञान के बिना भी वस्तुओं का अस्तित्व सम्भव है, परन्तु वस्तुओं के अस्तित्व के बिना वस्तुओं का ज्ञान सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि वस्तुएँ ज्ञान पर आधारित नहीं होतीं, वरन् ज्ञान ही वस्तुओं पर आधारित होता है।

2. वस्तुओं और ज्ञान में कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है

वस्तु-स्वातंत्र्यवाद वस्तुओं का ज्ञान के साथ कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं मानता। दो वस्तुओं के आन्तरिक सम्बन्ध का अर्थ है कि एक वस्तु के अस्तित्व के अभाव में दूसरी वस्तु का अस्तित्व ही सम्भव न हो। उदाहरणत: अग्नि और उष्णता में आन्तरिक सम्बन्ध है, क्योंकि अग्नि के अभाव में उष्णता का अस्तित्व सम्भव नहीं है और न ही उष्णता के अभाव में अग्नि का अस्तित्व सम्भव है। इस प्रकार का कोई (आन्तरिक) सम्बन्ध वस्तुओं और ज्ञान में नहीं है। अत: संसार में ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व सम्भाव्य है जिनका किसी को भी ज्ञान न हो।

सभी वस्तु-स्वातन्त्र्यवादी दार्शनिकों ने उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। परन्तु उनमें इस प्रश्न को लेकर बड़ी मतभिन्नता है कि वस्तुएँ कितने परिमाण में ज्ञान से स्वतन्त्र हैं ? सब वस्तु-स्वातन्त्र्यवादी यह तो स्वीकार करते हैं कि वस्तु का द्रव्य (substance) वस्तु के ज्ञान से पूर्णतया स्वतन्त्र होता है ; किन्तु जहाँ तक वस्तुओं के गुणों का सम्बन्ध है इस विषय में विचारकों का मत एक सा नहीं है। कुछ विचारक कहते हैं कि वस्तुओं के सभी गुण ज्ञान से स्वतन्त्र हैं और कुछ का मत है कि वस्तुओं के कुछ गुण ज्ञान से स्वतन्त्र हैं और कुछ नहीं। प्रथम प्रकार के विचारकों को सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवादी (Naive Realists) कहा जाता है और दूसरे प्रकार के विचारकों को वैज्ञानिक वस्तु-स्वातन्त्र्यवादियों

(Scientific Realists) या प्रतिनिधानवादियों (Representationists) की संज्ञा दी जाती है। वस्तु-स्वातन्त्र्यवाद के इन दो प्रकारों के अतिरिक्त दो भेद और भी हैं — एक भेद है 'नव्य वस्तुस्वातन्त्र्यवाद' (Neo-Realism) और दूसरा भेद है विचार-मूलक वस्तुस्वातन्त्र्यवाद (Critical Realism)। वैज्ञानिक वस्तुस्वातन्त्र्य-वाद "सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद" की प्रतिक्रिया रूप में उद्भूत हुआ और विचार-मूलक वस्तुस्वातन्त्र्यवाद 'नव्यवस्तुस्वातन्त्र्यवाद' की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। हम यहाँ केवल सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद तथा नव्यवस्तुस्वातन्त्र्यवाद की ही चर्चा करेंगे :

सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद
(Naive or Direct Realism)

सभी सामान्य व्यक्ति यह सहज स्वीकार कर लेते हैं कि जो वस्तुएँ हमें दृष्ट हो रही हैं वे हमारे ज्ञान पर आधारित नहीं हैं वरन् उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। बिना किसी गम्भीर विचार के वे यह भी मान लेते हैं कि वस्तुओं में दीखने वाले समस्त गुण भी हमारे ज्ञान पर निर्भर नहीं करते, वरन् वे वस्तुओं के अपने गुण हैं। सामान्य मनुष्य की सहज स्वीकृति होने से यह दृष्टिकोण 'सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद' कहलाता है। ड्यूराँ ड्रेक (Durant Drake) ने अपनी पुस्तक (Invitation to Philosophy) में इसी नाम का प्रयोग किया है। सामान्य बुद्धि पर आधारित होने के कारण यह सिद्धान्त 'सामान्यबुद्धि वस्तुस्वातन्त्र्यवाद' (Common-sense Realism) भी कहलाता है और मनुष्य का स्वाभाविक दृष्टिकोण होने से यह 'स्वाभाविक वस्तुस्वातन्त्र्यवाद' (Natural Realism) के नाम से भी पुकारा जाता हैं। इन दोनों नामों को सैलर्स ने अपनी पुस्तक 'Principles and Problems of Philosophy' में प्रयुक्त किया है।

इस सिद्धांत की मुख्य मान्यतायें ये हैं :

1. वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान से पूर्णतया स्वतन्त्र है

ज्ञान से पूर्णतया पृथक् वस्तुओं की अपनी सत्ता है। ज्ञान के साथ-साथ वे उत्पन्न नहीं होतीं। चाहे संसार का कोई भी मनस् उनका अनुभव न करे तो भी उनका अस्तित्व रहता ही है।

2. वस्तुओं में अपने गुण होते हैं

संसार की सभी वस्तुओं में अपने गुण होते हैं जिनका अस्तित्व ज्ञान पर आश्रित नहीं होता।

3. ज्ञान वस्तुओं को प्रभावित नहीं करता

वस्तुएँ तथा उनके गुण हमारे ज्ञान से किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं होते अर्थात् हमारी ज्ञान–क्रिया से वस्तुओं तथा उनके गुणों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

4. सत्य और उसकी प्रतीति में कोई अन्तर नहीं है

वस्तुओं का जैसा स्वरूप है वे वैसी ही प्रतीत होती हैं, और जैसी वे प्रतीत होती हैं उनका वैसा ही स्वरूप है। सरल वस्तुस्वातन्त्रवादियों की प्रसिद्ध उक्ति है, "Things seem as they are and are as they seem." दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सत्य और उसकी प्रतीति में कोई अन्तर नहीं है।

5. वस्तुएँ सार्वजनिक हैं

एक ही वस्तु भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न रूपों में दृष्ट नहीं होती। सभी व्यक्ति उस बस्तु को ज्यों की त्यों उसी रूप में देखते हैं। अस्तु हम कह सकते हैं कि वस्तुएँ सार्वजनिक (Public) हैं।

6. वस्तुओं का हमें प्रत्यक्ष (Direct) अनुभव होता है

वस्तुओं का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष रूप में होता है, अर्थात् वस्तुओं और उनके ज्ञान के मध्य में अन्य कुछ नहीं होता।

आलोचना

(1) सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद कहता है कि वस्तुएँ ज्ञान से स्वतन्त्र हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि वस्तुएँ ज्ञान से स्वतत्र हैं तो वे ज्ञान का विषय कैसे हो जाती हैं ? ज्ञान मनस् में होता है। अत: एक ओर वस्तुओं को मनस् से बाहर कहना और दूसरी ओर मनस् के अन्दर कहना विरोधात्मक है।

(2) सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के सिद्धान्त के आधार पर भ्रम (Illusion), विभ्रम (Hallucination) तथा स्वप्न की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं का जैसा वास्तविक स्वरूप (real nature) है वे वैसी ही प्रतीत होती हैं, और जैसी वे प्रतीत होती हैं वैसा ही उनका वास्तविक स्वरूप है। परन्तु भ्रम, विभ्रम तथा स्वप्न हमारे नित्य प्रति के अनुभव की बातें हैं और इनमें अनुभूत होने वाले पदार्थों का स्वरूप वैसा नहीं है जैसा प्रतीत होता है। उदाहरण के रूप में हमें बहुत बार मन्द प्रकाश में रस्सी के स्थान पर सर्प का भ्रम होता है और सीपी (Shell) के स्थान पर चांदी का। सूर्य जो हमारी पृथ्वी से लगभग तेरह लाख गुना बड़ा है केवल एक फुट व्यास (Diameter) के गोले के

सदृश प्रतीत होता है। पानी में थोड़ी डूबी हुई छड़ी पानी की सतह से नीचे मुड़ी हुई दृष्ट होती है जब कि वस्तुतः वह एक दम सीधी होती है। विभ्रम और स्वप्न के पदार्थों का तो नितांत अभाव ही होता है यद्यपि वे पूर्णतया सत्य जान पड़ते हैं। जैसे कि विभ्रमों में कई मानसिक रोग ग्रस्त व्यक्तियों को ऐसी आकृतियाँ दीखती हैं जिनका कोई अस्तित्व नहीं होता। और इसी प्रकार स्वप्नों में दीखने वाले हाथी, घोड़े, नदियाँ और पर्वत वास्तविक जगत् से सर्वथा असम्बद्ध होते हैं। इस प्रकार भ्रम विभ्रम तथा स्वप्नों की अनुभूतियों से स्पष्ट होता है कि सत्य और प्रतीति में बहुत अन्तर है और वस्तुस्वातन्त्र्यवादियों ने इस अन्तर को न मान कर अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया है।

(3) ज्ञान-प्रक्रिया के समुचित विश्लेषण से यह शीघ्र समझ में आ सकता है कि हमारा ज्ञान दो प्रकार के कारकों पर आधारित होता है —(1) अन्तरावयवीय-कारक (Intra-organic Conditions) और (2) अवयवेतर कारक (Extra-organic Conditions)। इन्द्रियों की संरचना स्वास्थ्य और शक्ति आदि अन्तरावयवीय कारक कहलाते हैं, और शरीर से बाहर की परिवेशगत दशायें जैसे कि प्रकाश की मात्रा एवं रंग तथा दूरदर्शक (Telescope) सूक्ष्मदर्शक (Miscro–scope) आदि अनेक प्रकार के यन्त्रों की शक्ति अवयवेतर कारक कहलाते हैं। वस्तुस्वातंत्र्यवादी दार्शनिक इन कारकों की ओर ध्यान ही नहीं देते, और वस्तुओं के ज्ञान को परिस्थितिनिरपेक्ष मानकर बड़ी सरलता से कह देते हैं कि वस्तुएँ वैसी ही हैं जैसी वे प्रतीत होती हैं। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है, हमारा ज्ञान उपर्युक्त कारकों से निरपेक्ष होता ही नहीं।

(4) ज्ञान-प्रक्रिया पर अन्तरावयवीय तथा अवयवेतर कारकों के प्रभाव के कारण वस्तु-स्वातन्त्र्यवादियों की इस मान्यता का भी निराकरण हो जाता है कि वस्तुएँ सार्वजनिक हैं। इन दोनों कारकों की भिन्नता के कारण भिन्न भिन्न व्यक्ति एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न प्रकार से अनुभव करते हैं, एक वस्तु सब को एक सी नहीं दिखाई देती।

(5) जब वस्तुस्वातंत्र्यवाद यह कहता है कि वस्तुओं में अपने गुण होते हैं जो ज्ञान पर आश्रित नहीं होते तब इसका अभिप्राय यही है कि वस्तु-स्वातन्त्र्यवाद के अनुसार सभी गुण वस्तुगत (objective) होते हैं। परन्तु गहराई से विचार करने पर हमें यह सहज समझ में आ जाता है कि पदार्थों के सारे गुण वस्तुगत नहीं होते, कुछ गुण वस्तुगत होते हैं और कुछ गुण आत्मगत (subjective) या मनोगत (Mental)। वस्तुगत गुण सभी को एक से प्रतीत होते हैं। जैसे कि प्रसार (Extension), ठोसपन (Solidity), आकार (Size), रूप (Form), गति

(Motion), स्थिरता (Rest) आदि की प्रतीति में कोई भेद नहीं है; वे सभी को एक समान दृष्ट होते हैं। आत्मगत गुण भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार के प्रतीत होते हैं। जैसे कि रस (Taste) गन्ध (Smell) स्पर्श (Touch) आदि की अनुभूति भिन्न भिन्न लोगों को भिन्न भिन्न प्रकार से होती है; वे सब को एक समान दृष्ट नहीं होते।

नव्य–वस्तुस्वातन्त्र्यवाद

(Neo-Realism)

नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद पुरातन सिद्धान्त सरल वस्तुस्वातंत्र्यवाद का ही पुनरावर्तन घोषित किया गया है। इस सम्बन्ध में आर० बी० पैरी (R. B. Perry) कहते हैं: "The New Realism is a rivival of what has been referred to as the antiquated metaphysics, which talks about existence 'per se' out of all relations to minds." (अर्थात् "नव्य-वस्तु-स्वातन्त्र्यवाद उस पुराकालीन तत्वमीमांसा का ही पुनर्जीवन है जो मन के सम्बन्ध से सर्वथा स्वतन्त्र स्वतः अस्तित्व का प्रतिपादन करता है।")। इस मान्यता में पर्याप्त सत्य प्रतीत होता है; क्योंकि निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद ने सरल वस्तुस्वातंत्र्यवाद के मूल सिद्धान्तों को (जैसा कि हम निम्न पंक्तियों में देखेंगे) प्रायः ज्यों का त्यों स्वीकार लिया है। इस सिद्धान्त (नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद) का प्रतिपादन इंग्लैंड में बर्ट्रेण्ड रसैल (Bertrand Russel) तथा जी० ई० मूर (G. E. Moore) ने किया और एमेरिका में ई० बी० होल्ट (E. B. Holt), डब्ल्यू० टी० मार्विन (W. T. Marvin), डब्ल्यू० टी० मॉण्टेग (W. T. Montague), आर० बी० पैरी (R. B. Perry) तथा ई० जी० स्पॉल्डिग (E. G. Spaulding) ने किया। वास्तविकता यह है कि लॉक (Locke) ने 'धारणा और वस्तु' के मध्य एक प्राचीर (दीवार) बनाकर अपने दर्शन में अनेक आपत्तियों को आमंत्रित कर लिया था। इन आपत्तियों से बचने के कारण ही उपर्युक्त कुछ दार्शनिकों ने सरल वस्तुस्वातंत्र्यवाद की उस विचार प्रणाली को पुनः अपनाया जिसके अनुसार धारणा और वस्तु भिन्न भिन्न नहीं हैं। उक्त दार्शनिकों की इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवाद का जन्म हुआ है।

नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवाद ने सरल वस्तु-स्वातन्त्र्यवाद के जिन सिद्धान्तों को उनके मूल रूप में ही अपना लिया है (जिनका उल्लेख कुछ विस्तार में सरल वस्तुस्वा-तंत्र्यवाद की व्याख्या में हो चुका है वे संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(क) वस्तुओं की ज्ञान से स्वतन्त्र अपनी सत्ता है।

(ख) वस्तुओं के प्राथमिक तथा गौण गुण दोनों उनके वास्तविक अंग हैं।

(ग) ज्ञान-प्रक्रिया वस्तुओं के स्वरूप को प्रभावित नहीं करती।

(घ) वस्तुएँ जैसी प्रतीत होती हैं वे वैसी ही हैं और वे जैसी हैं वैसी ही प्रतीत होती हैं।

(ङ) वस्तुएँ व्यक्तिगत नहीं वरन् सार्वजनिक हैं।

(च) वस्तुओं का अनुभव प्रत्यक्ष (direct) होता है।

ज्ञातव्य है कि सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के कतिपय मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिकों ने अपनी विचारधारा को अपने ही पृथक् ढंग से विकसित किया है। इस तथ्य को पाठक-गण हमारे नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के निम्न विवेचन से स्वयं ही अनुभव करेंगे।

1. ज्ञान की इकाइयाँ

नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद का सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद से सर्वप्रमुख मतभेद यह है कि सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद वस्तु को ज्ञान की इकाई मानता है और नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद वस्तु के पहलू (aspect) को ज्ञान की इकाई कहता है। सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के अनुसार संसार की विभिन्न वस्तुएँ ज्ञान की भिन्न भिन्न इकाइयाँ हैं। जैसे कि कुर्सी एक इकाई है जो पुस्तक, पंखा, मेज, खाट आदि अन्य वस्तुओं से भिन्न है। दूसरी ओर नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के अनुसार जगत् की प्रत्येक वस्तु अनेक पहलुओं (aspects) का एक समूह मात्र है और वास्तविक इकाई वस्तु नहीं वरन् पहलू है। उदाहरण के रूप में जिसे 'मेज' कहा जाता है वह वस्तुतः हमें कभी भी अपने समूचे रूप में अनुभूत नहीं होती। हमें अनुभव होता है उसके केवल एक अंश का अर्थात् उसके एक पहलू का। और जब हम भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से मेज को देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमें उसके भिन्न भिन्न पहलू दृष्टिगोचर होते हैं। अब क्योंकि दृष्टिकोण अनन्त है अतः मेज के पहलुओं को भी अनन्त कहना होगा। प्रश्न उपस्थित होता है कि इन अनन्त पहलुओं में हम किस पहलू को मेज की संज्ञा दे सकते हैं ? स्पष्ट ही है कि किसी एक पहलू को यह संज्ञा कदापि नहीं दी जा सकती, क्योंकि वह मेज का एक अंग मात्र है समूची मेज नहीं। हमें कहना होगा कि विभिन्न दृष्टिकोणों से दीखने वाले पहलू मेज के पहलू हैं और मेज इन पहलुओं का संगठित (organised) रूप है।

वस्तुओं के पहलुओं को नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिकों ने 'तटस्थ तत्व' (Neutral Entities) का नाम दिया है। कारण यह है कि उनके अनुसार ये पहलू न चेतन हैं और न अचेतन; ये न तो हमारे मनस् की धारणायें हैं और न ही हमारे ज्ञान की सामान्य वस्तुएँ। एक ही पहलू जब बाह्य जगत् की किसी वस्तु के

अंश के रूप में दृष्ट होता है, तब वह अचेतन और वस्तुगत (objective) होता है, और जब वही किसी द्रष्टा या ज्ञाता के अनुभव-क्षेत्र के अंश के रूप में दृष्ट होता है, तब वह चेतन और आत्मगत (subjective) होता है। इस प्रकार ऊपर के अनुच्छेद में दिए गए उदाहरण में मेज का प्रत्येक पहलू बाह्य जगत् में देश और काल में स्थित मेज का भी अंश है और हमारे अनुभव-क्षेत्र या ज्ञान का भी अंश है।

2. मनस् या चेतना का स्वरूप

कुछ नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी मनस् और जड़ पदार्थों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं करते। उनके अनुसार मनस् बाह्य जगत् की भौतिक वस्तुओं से पृथक् कोई स्वतन्त्र तत्व है ही नहीं। एमेरिकन नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिक मनस् को बाह्य विषयों की एक संस्था मानते हैं। होल्ट (Holt) का कथन है कि मनस् स्नायु-संस्थान की विशिष्ट अनुक्रिया (Specific response) द्वारा चयन किया हुआ विश्व का एक अनुप्रस्थ क्षेत्र (Cross section) है।[1] अर्थात् मनस् कोई द्रव्य न होकर स्नायु-संस्थान की अनुक्रिया मात्र है। इस अनुक्रिया के परिणामस्वरूप ही संसार की कुछ वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं से पृथक् होकर हमारी चेतना का अंश बन जाती हैं। उदाहरण के रूप में मानो आप किसी अधिकारी से भेंट करने के लिए उसके कार्यालय में जाते हैं, वहाँ आपके स्नायु-संस्थान के सन्निकर्ष कुछ वस्तुएँ आती हैं, जैसे सम्मुख बैठा हुआ वह अधिकारी, उसके समीप रखी हुई मेज तथा कुर्सियाँ, राजकीय कागजों से भरी हुई कुछ आलमारियां आदि। इन सबसे आपके स्नायु-संस्थान में संक्षोभ (Stimulation) या अनुक्रिया उत्पन्न होती है। इस संक्षोभ या अनुक्रिया के परिणामस्वरूप उपर्युक्त वस्तुएँ संसार की अन्य वस्तुओं से पृथक् होकर आपके चेतना-क्षेत्र में एक साथ उपस्थित होती हैं। उक्त वस्तुओं के इस प्रकार एक साथ उपस्थित होने का नाम ही चेतना है। नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादियों ने अपनी इस बात को समझाने के लिए गवेषणा–प्रकाश (Search-light) का उदाहरण दिया है। जब गवेषणा-प्रकाश कुछ वस्तुओं पर पड़ता है तो वे एक दूसरे से पृथक् होती हुई भी एक साथ दृष्ट होती हैं, क्योंकि उन पर एक साथ ही प्रकाश पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जब हमारे स्नायु-संस्थान की अनुक्रिया जगत् की कुछ वस्तुओं को एक साथ हमारे सम्मुख उपस्थित करती है तब उस अनुक्रिया को ही चेतना कहा जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि एमेरिकन नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी विचारकों के अनुसार, जैसा कि ऊपर इङ्गित किया गया है, ज्ञान या चेतना या उसके विषय में कोई अन्तर नहीं है। बाह्य विषय जब स्नायु-संस्थान की अनुक्रिया

1. Cross section of the universe selected by the specific response of the nervous system.

द्वारा एक साथ हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं तब वहीं हमारी चेतना का रूप धारण कर लेते हैं। अस्तु यह कहा जा सकता है कि पृथक् पृथक् वस्तुओं में एक प्रकार का गठबन्धन कर उन्हें एक साथ उपस्थित करने का वाह्य सम्बन्ध (external relation) ही चेतना है। इस सब से निष्कर्ष अन्ततः यही निकलता है कि उक्त नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के मत से, प्रत्ययवाद (Idealism) के एकदम विपरीत, विषय मनम् पर आधारित नहीं हैं वरन् मनस् ही विषयों पर आधारित है।

3. सत् जगत् और स्थिति-सम्पन्न जगत्

इस स्थान पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या विचारों तथा वस्तुओं में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है? क्या वे सर्वथा एक ही हैं? नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी उत्तर देते हुए कहते हैं कि दोनों में एक विशेष अन्तर है। विचार या धारणाएँ बाह्य वस्तुओं के सदृश देश-काल में नहीं हैं प्रत्युत वे देश-काल का निर्माण करती हैं, किन्तु बाह्य वस्तुएँ देश-काल में हैं। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए वे (नव्यवस्तुस्वातन्त्र्यवादी) आगे कहते हैं कि विचार अथवा धारणायें केवल सत (subsistents) हैं परन्तु बाह्य वस्तुएँ सत् होने के साथ-साथ स्थिति सम्पन्न (existents) भी है। सत् होने का अर्थ है ज्ञान का विषय होना, और स्थिति-सम्पन्न होने का अर्थ है देश और काल में स्थिति होना। इसी सत् और स्थिति सम्पन्न के अन्तर के द्वारा वे भ्रम और स्वप्न के पदार्थों का बाह्य जगत् के पदार्थों से अन्तर करते हैं। भ्रम एवं स्वप्न की अवस्थाओं में दृष्ट होने वाले पदार्थ बाह्य जगत् के पदार्थों के सदृश सत् तो अवश्य है क्योंकि वे ज्ञान या अनुभव का विषय हैं, परन्तु वे स्थिति-सम्पन्न नहीं हैं क्योंकि उनकी देश और काल में स्थिति नहीं है। दूसरी ओर बाह्य जगत् के पदार्थ सत् भी हैं और स्थिति-सम्पन्न भी क्योंकि वे अनुभव का विषय भी हैं और देश-काल में स्थित भी है। रज्जु-सर्प भ्रम के उदाहरण में सर्प सत् तो अवश्य है क्योंकि वह अनुभव का विषय है परन्तु वह स्थिति-सम्पन्न नहीं, क्यों कि देश-काल में उसकी कोई स्थिति नहीं है। दूसरी ओर रज्जु सत् भी है और स्थिति-सम्पन्न भी है, क्योंकि वह अनुभव या ज्ञान का विषय भी है और देश-काल में विद्यमान भी है। नव्य वस्तुस्वातन्त्र्यवाद कहता है कि वास्तविकता यह है कि जब ज्ञान का कोई विषय केवल सत् होता है स्थिति-सम्पन्न नहीं होता, और हम उसे स्थिति-सम्पन्न समझ लेते हैं तब वही भ्रम कहलाता है। इस प्रकार भ्रम सर्प के देखने में नहीं है, परन्तु सर्प को रज्जु के सदृश स्थिति-सम्पन्न समझ लेने में है।

4. मूल्यों का अस्तित्व

नव्य वस्तुस्वातन्त्र्यवाद न्याय (Justice), करुणा, दया, उदारता, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् आदि मूल्यों की सत्यता पर बहुत बल देता है। किन्तु वह स्वीकार

करता है कि ये (मूल्य) भी, बाह्य वस्तुओं के असदृश, देश काल में स्थिति-सम्पन्न नहीं है। उसकी घोषणा है कि यद्यपि संसार का उद्भव जड़-तत्व से हुआ है, परन्तु विकास-क्रम के विभिन्न स्तरों पर सर्वदा नवीन नवीन गुणों का सृजन होता रहता है, क्योंकि संसार का स्वरूप यांत्रिक न होकर प्रयोजनात्मक है और नई नई आवश्यकताओं के अनुरूप नये नये पदार्थों एवं मूल्यों का सृजन होना स्वाभाविक है।

आलोचना

(1) नव्य वस्तुस्वातंत्र्यवादी दार्शनिकों ने भ्रम तथा स्वप्न की वस्तुओं और बाह्य जगत् की वस्तुओं में यह अन्तर बताया है कि भ्रम तथा स्वप्न की वस्तुएं केवल सत् हैं स्थिति-सम्पन्न नहीं, जबकि बाह्य जगत् की वस्तुएं सत् और स्थिति-सम्पन्न दोनों हैं। किन्तु जब हम केवल सत् वस्तुओं को स्थिति-सम्पन्न भी मान लेते हैं तभी हमारी भ्रम की स्थिति होती है। प्रश्न उपस्थित होता है कि केवल सत् वस्तुओं को हम स्थिति-सम्पन्न समझ ही क्यों लेते हैं? नव्य वस्तुस्वातंत्र्यवादियों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। वास्तविकता यह है कि केवल सत् वस्तुओं को स्थिति-सम्पन्न समझने में हमारा मन ही कारण हो सकता है अन्य कुछ नहीं। परन्तु ये लोग मन को कारण मानने को प्रस्तुत नहीं हैं, क्योंकि ऐसा करने में उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि वस्तुओं का ज्ञान करने में मन सक्रिय रूप से कार्य करता है जो मूलतः उनके सिद्धान्त के विरुद्ध है। हमें ज्ञात है कि इन विचारकों के अनुसार बाह्य वस्तुओं के साथ मनस् का केवल एक बाह्य सम्बन्ध है, परन्तु यदि बाह्य वस्तुओं अर्थात् बाह्य विषयों के निर्माण में मनस् की सक्रियता मान ली गई तो बाह्य वस्तुओं से मनस् का आन्तरिक सम्बन्ध भी स्वीकार करना होगा जो पुनः उनके सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। इस प्रकार हम देखते है कि नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवादी दार्शनिक भ्रम ज्ञान की व्याख्या करने में नितान्त असफल रहे हैं।

(2) जब नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवाद मनस् या चेतना का विषयों से एक बाह्य सम्बन्ध प्रतिपादित करता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि विषय हमारे चेतना क्षेत्र में हैं। यह तो सभी लोगों के साधारण अनुभव की बात है कि ज्ञान के विषय चेतना में होते हैं। अस्तु नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवाद का उक्त सिद्धान्त कि विषयों से चेतना का एक बाह्य सम्बन्ध है, साधारण अनुभव के विपरीत सिद्ध होता है।

(3) सरल वस्तुस्वातंत्र्यवादी दार्शनिकों के सदृश नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवादी भी ज्ञान-प्रक्रिया को परिस्थिति-निरपेक्ष कहते हैं और यह मानते हैं कि वस्तुएं वैसी ही हैं जैसी वे प्रतीत होती हैं। परन्तु (जैसा कि सरल वस्तुस्वातंत्र्यवाद की

आलोचना में बताया गया है) वास्तविकता इस के विरुद्ध है। ज्ञान को परिस्थिति निरपेक्ष कहना सर्वथा अयुक्त है। वह सर्वदा ही अन्तरावयवीय कारकों तथा अवयवेतर कारकों से सापेक्ष होता है।

(4) हमने ऊपर देखा है कि कुछ नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवादियों ने मनस् को बाह्य विषयों से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु उनका यह प्रयास पूर्णतया असफल ही रहा है। स्वयं नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवादी सैमुएल एलैक्जैन्डर ने ही इसका बड़ा प्रभावपूर्ण खण्डन किया है। उनका कथन है कि मनस् और विषय की प्रकृति एवं कार्य तथा उनके ज्ञान की पद्धतियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि किसी भी प्रकार उन्हें अभिन्न नहीं कहा जा सकता। मनस् की प्रकृति बाह्य विषयों या वस्तुओं से सर्वथा विपरीत है। जब कि मनस् चेतन एवं स्वप्रकाश है, बाह्य वस्तुएं अचेतन हैं और स्वयं के द्वारा प्रकाशमान नहीं हैं। मनस् और बाह्य वस्तुओं के कार्य भी एक दूसरे से भिन्न हैं। मनस् बाह्य वस्तुओं को आलोकित करता है, और बाह्य वस्तुएं मनस् के द्वारा आलोकित होती हैं। इस प्रकार मनस् ज्ञाता सिद्ध होता है और बाह्य वस्तुएं ज्ञेय सिद्ध होती हैं। एलैक्जैन्डर कहते हैं कि मनस् को विषयों से एक सा मान लेने पर ज्ञाता ही ज्ञेय हो जाता है, जो स्पष्ट रूप से स्व-विरोध (self-contradiction) है। जहाँ तक उनके ज्ञान की पद्धतियों का प्रश्न है वे भी दोनों (मनस् और बाह्य वस्तुओं) की पृथक् पृथक् हैं। मनस् का ज्ञान एक विशेष पद्धति या रीति से होता है। यह विशेष रीति एक प्रकार की अनुभूति है जिसका नाम उन्हों (एलैक्जैन्डर) ने संभोग (enjoying) दिया है। इस अनुभूति के द्वारा ही मनस् ज्ञात होता है। दूसरी ओर बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होने की पद्धति सर्वसामान्य है। जब वस्तुएं ज्ञाता के समक्ष ज्ञेय के रूप में उपस्थित होती हैं तब उनका ज्ञान होता है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. वस्तुवाद क्या है ? वस्तुवाद तथा प्रत्ययवाद में क्या अंतर है ?
What is Realism? Distinguish between Realism and Idealism

2. यथार्थवाद के विभिन्न रूपों को समझाइये तथा उनकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
What are the various types of Realism ? Bring out their chief features.

3. वस्तुवाद और विज्ञानवाद में स्पष्ट रूप से भेद समझाइए। आपको इन दोनों में कौन सा मत अधिक प्रभावमय लगता है ?
Make a clear distinction between Realism and Idealism. Which appeals to you more ?

4. अध्यात्मवाद और वस्तुस्वातंत्र्यवाद के मौलिक सिद्धान्तों की तुलना कीजिए ?
Compare the basic stand-points of Idealism and Realism ?

5. नव्य-वस्तुस्वातंत्र्यवाद का दृष्टिकोण समझाइए ? उसका मनस् की प्रकृति के विषय में क्या विचार है ?
Explain the stand-point of Neo-Realism. What is its view about the nature of mind ?

6. सरल वस्तुस्वातन्त्र्यवाद की संक्षिप्त विवेचना कीजिये ।
Briefly discuss Naive Realism.

नवम अध्याय

अध्यात्मवाद

(Idealism)

अध्यात्मवाद, प्रत्ययवाद या आदर्शवाद दर्शन की उस विचार-प्रणाली को कहते हैं जो चैतन्य, आत्मा, मनस् या प्रत्यय को इस संपूर्ण विश्व की आधारभूत सत्ता या मूलभूत तत्व मानती है। इसके अनुसार समस्त भौतिक पदार्थों का मूल आत्मा या मनस् है जिसकी सत्ता को स्वीकार किए बिना हम जड़ जगत् के घटना-क्रम को समझने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। पुद्गल एवं दिक्-काल की व्याख्या मनस् के अभाव में कदापि संभव नहीं है। कनिंघम महोदय कहते हैं कि अध्यात्मवाद का मूल सिद्धान्त यह है कि मनस् या आत्म-तत्व समग्र पुद्गल या जड़-तत्व का किसी न किसी अर्थ में आधार है। अत: भौतिक तत्व पर विचार करने से पूर्व आत्म-तत्व पर विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्ययवाद की यह घोषणा है कि आत्मा या मनस् ही इस अखिल चराचर विश्व की अन्तिम सत्ता है, चरम है तथा मूल है।

अध्यात्मवाद को हम जड़वाद का विपरीत सिद्धान्त कह सकते हैं। जहां जड़वाद पुद्गल या भौतिक तत्व को इस संसार का मूल कारण मानता है और यह कहता है कि पुद्गल एक पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र सत्ता है, ठीक उसके विपरीत अध्यात्म-वाद यह मानता है कि इस जगत् का आधारभूत कारण आत्मा या मनस् है और वह ही एक मात्र स्वाश्रित एवं स्वतन्त्र सत्ता है पुद्गल या जड़ नहीं। जब कि जड़वाद विश्व के विकास-क्रम में चैतन्य या मनस् को एक आनुषांगिक उत्पत्ति (Epiphenomenon) मात्र कहता है, अध्यात्मवाद यह प्रतिपादित करता है कि चैतन्य ही चरम सत्ता है और यह सम्पूर्ण विश्व उसी की बाह्य अभिव्यक्ति है या उसी में कल्पित आभास (appearance) है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि अध्यात्मवाद के अनुसार चैतन्य या ज्ञान का विषय-वस्तु से आन्तरिक सम्बन्ध है और विषय-वस्तु पूर्ण रूप से ज्ञान पर ही निर्भर करती है। जगत् की सभी

वस्तुएं सापेक्ष हैं, केवल ज्ञान ही निरपेक्ष है। अर्थात् सारी वस्तुएं ज्ञान पर आश्रित हैं, किन्तु ज्ञान किसी पर आश्रित नहीं। जब ज्ञान निरपेक्ष और सर्वथा स्वाश्रित है तो आत्मा भी पूर्ण रूपेण निरपेक्ष और स्वाश्रित है क्योंकि ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं।

अध्यात्मवाद के समर्थकों ने अपने मत की पुष्टि में अनेक तर्क एवं युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, उनमें से मुख्य निम्न हैं :

(1) जब हम किसी वस्तु के अस्तित्व की बात कहते हैं तो उससे हमारा अभिप्राय केवल इतना ही होता है कि वह वस्तु हमें ज्ञात है अर्थात् वह वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है। किसी वस्तु का अस्तित्व होना या उसका ज्ञान होना अन्ततोगत्वा एक ही बात है। यह बात अवश्य संभव है कि असंख्य ऐसी वस्तुएं हैं जिनका अस्तित्व हम स्वीकार करते हैं यद्यपि वे हमारे ज्ञान का विषय नहीं हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि वे वस्तुएं भले ही हमारे ज्ञान का विषय न हों अवश्य ही वे किसी न किसी के ज्ञान का विषय हैं, क्योंकि तभी तो उनके अस्तित्व की बात कही जाती है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि हमारे ज्ञान से निरपेक्ष किसी भी वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं।

(2) हमारे जीवन में अनेक प्रकार के भ्रम आया करते हैं। कई बार हमें रज्जु का सर्प दिखाई देता है, -सीपी के स्थान पर चाँदी दृष्ट होती है, वृक्ष-स्थाणु (trunk of a tree) मनुष्य प्रतीत होता है, आदि आदि। भ्रामक ज्ञान के इन दृष्टांतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य जगत् में हमें अनेक बार ऐसी भी वस्तुओं का अनुभव होता है जिनका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है। अध्यात्मवादियों का कथन है कि जब हमारे प्रत्यक्ष-अनुभव की कुछ वस्तुएं हमारी धारणाएं मात्र हो सकती हैं तो हम अन्य वस्तुओं के विषय में यह कैसे प्रतिपादित कर सकते हैं कि वे भी हमारी मानसिक धारणाएं मात्र नहीं हैं।

(3) आध्यात्मवाद की पुष्टि में एक यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि संसार की सभी वस्तुओं के अस्तित्व के विषय में हम सन्देह कर सकते हैं परन्तु आत्मा या मनस् (ज्ञाता) के अस्तित्व के विषय में नहीं, क्योंकि हमारे सन्देह करने की प्रक्रिया में ही संशयात्मा (अर्थात् ज्ञाता या आत्मा) की स्वयमेव सिद्धि हो जाती है। संशयकर्ता संशय से सर्वथा अतीत है। पश्चिमी दर्शन में आत्मा की सिद्धि के हेतु यह तर्क सर्वप्रथम फ्रांसीसी दार्शनिक डैकार्टे ने दिया था परन्तु उन्होंने आत्मा (ज्ञाता या मनस्) को एक मात्र संशय रहित सत्ता (indubitable reality) मानकर भी अपने दर्शन में द्वैत—मनस् और पुद्गल—की स्थापना की थी, जो हमारे विचार से उनकी एक बहुत बड़ी भूल थी।

(4) संसार की प्रत्येक व्यक्तिगत वस्तु परिवर्तनशील है, अत: उसे सत्य एवं नित्य नहीं माना जा सकता; केवल वस्तुओं की जातियों (classes) का हीं अस्तित्व स्थायी और नित्य होता है। प्रत्येक मनुष्य मरणशील और अनित्य है परन्तु मनुष्यत्व स्थायी और नित्य है। अब यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्यत्व और इसी प्रकार अन्य जातियाँ भौतिक वस्तुएं नहीं वरन् मानसिक प्रत्यय हैं। अत एव यह कहा जा सकता है कि इस विश्व में आध्यात्मिक तत्व ही सत्य एवं नित्य है।

(5) अध्यात्मवाद के समर्थन में बर्कले ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि जब हम किसी वस्तु का अनुभव करते हैं तो हमें उनमें दो प्रकार के गुण दृष्ट होते हैं— मुख्य और गौण। मुख्य गुण हैं— वस्तु की आकृति, आयतन, गति इत्यादि, और गौण गुण हैं वस्तु का स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इत्यादि। लॉक ने मुख्य गुणों को वस्तुगत और गौण गुणों को मनोगत अथवा व्यक्तिगत (subjective) बताया है। गौण गुणों के मनोगत होने का कारण लॉक के मतानुसार यह है कि वे भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न रूप में अनुभूत होते हैं। बर्कले का कथन है कि गौण गुणों के सदृश मुख्य गुण भी भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न रूप में ही दृष्ट होते हैं, अत: हमें दोनों प्रकार के गुणों को ही मनोगत या व्यक्तिगत कहना होगा। पुन: जब हम वस्तु पर विचार करते हैं तो विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि वस्तु में गुणों के समूह के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। अत एव हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाह्य वस्तुओं का आधार केवल हमारा मनस् ही है अन्य (द्रव्य आदि) कुछ नहीं।

(6) जर्मनी के विख्यात दार्शनिक हीगेल (Hegel) अध्यात्मवाद की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि विश्व बोधगम्य है। विश्व बोधगम्य तभी हो सकता है जब बुद्धि और विश्व में किसी प्रकार की समानता हो। यदि विश्व का स्वरूप और उसकी घटनाएं बुद्धि के नियमों के अनुकूल न होतीं तो विश्व कभी भी बोधगम्य नहीं हो सकता था। उदाहरण के रूप में हमारी बुद्धि के अनुसार चार और चार आठ होते हैं; यदि वास्तविक संसार में चार और चार आठ न होकर नौ होते, तो हमारी बुद्धि इस संसार को समझने में सर्वदा ही असमर्थ रहती। बुद्धि के नियम क्योंकि विश्व के भी नियम हैं अत: हम यह कह सकते हैं कि विश्व का स्वरूप बुद्धि के अनुकूल है अर्थात् बौद्धिक है।

(7) ग्रीन महोदय का कथन है कि यह विश्व एक सम्बद्ध समष्टि (system) है जिसमें अनेक पदार्थ सम्बद्ध होकर एक इकाई बनाए हुए हैं। इस समष्टि की विशेषता यह है कि इसमें अनेक पदार्थों का नाश न होते हुए भी एकता स्थापित रहती है। ग्रीन के अनुसार ऐसी अनेकता में एकता (Unity in diversity) का कारण मनस् या आत्मा ही हो सकता है, भौतिक प्रणाली नहीं; क्योंकि भौतिक

प्रणाली में तो एकता में अनेकता स्थापित न रह कर उल्टे नष्ट हो जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि विश्व का आधार भौतिक नहीं वरन् आध्यात्मिक है।

(४) जब हम विश्व के स्वरूप और उसके घटना-क्रम पर ध्यान देते हैं तो हमें चारो ओर व्यस्था और सामञ्जस्य (order and harmony) दृष्ट होते हैं। जगत् के पदार्थ और घटनाएँ एक क्रम-व्यवस्था में दिखाई देते हैं। विश्व की व्यवस्था, क्रम तथा सामञ्जस्य की समुचित व्याख्या हम तभी कर सकते हैं जब कि हम इस के मूल में एक ऐसी चेतन शक्ति या तत्व को मानें जो इस सम्पूर्ण विश्व और इसके संचालन का कारण है; बिना बुद्धि या चेतन तत्व के विश्व की व्यवस्था आकस्मिक रूप से कदापि सम्भव नहीं है।

अध्यात्मवाद के विभिन्न प्रकार

अध्यात्मवाद के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्मवाद का सार सिद्धान्त यह है कि विषय या वस्तु (object) मनस् या ज्ञाता (subject) पर निर्भर है। प्रश्न उपस्थित होता है कि किसके मनस् पर और किस सीमा तक। इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से दिया है, और उनके उत्तरों के अनुरूप ही उनके अध्यात्मवादी सिद्धान्तों में भेद हो गये हैं, जिनमें से मुख्य निम्न प्रकार से हैं :

1. आइरिश दार्शनिक बीशप बर्कले का कथन है कि विषय व्यक्ति-ज्ञान पर आधारित है और विश्व में कोई भी ऐसा विषय नहीं है जो व्यक्ति-ज्ञान से परे कहा जा सकता हो। उनके मतानुसार सम्पूर्ण जगत् की बाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष करने वाले सान्त अन्तःकरणों (finite minds) के वैय्यक्तिक विचार (subjective ideas) मात्र हैं अन्य कुछ नहीं। इसलिए उनका अध्यात्मवाद व्यक्तिगत अध्यात्मवाद (Subjective Idealism) के नाम से पुकारा गया है।

2. जर्मन दार्शनिक काण्ट कहते हैं कि जिस जगत् का हमें अवभास या प्रतीति होती है वह व्यावहारिक जगत् कहलाता है। यह व्यावहारिक जगत्, उनके मतानुसार, प्रपंचात्मक जगत् (Phenomena) है जो हमारे ज्ञान पर निर्भर है। परन्तु इस प्रपंचात्मक जगत् के परे एक वास्तविक जगत् है जिसे वह पारमार्थिक जगत् (Noumenal world) की संज्ञा देते है, जो हमारे ज्ञान से परे है। अत एव उनका सिद्धान्त अवभासवाद या प्रपंचवाद (Phenomenalism) या प्रपंचात्मक अध्यात्मवाद (Phenomenalistic Idealism) कहा गया है।

3. हीगेल का कहना है कि विषय हमारे व्यक्ति-ज्ञान पर आधारित नहीं वरन् अनन्त-चेतना या समष्टि मनस् (Universal mind) पर आधारित है। उनके-

मतानुसार यह सम्पूर्ण जगत् उस समष्टि मनस् की ही अभिव्यक्ति है। इसी कारण उनके अध्यात्मवाद को परब्रह्मवाद (Absolutism) या निरपेक्ष अध्यात्मवाद (Absolute Idealism) की संज्ञा दी गई है।

अब हम अध्यात्मवाद के इन तीनों भेदों में से यहां विस्तृत रूप से केवल प्रथम दो की विवेचना करेंगे :

बर्कले का व्यक्तिगत अध्यात्मवाद या विज्ञानवाद

(Subjective Idealism or Mentalism of Berkeley)

जॉर्ज बर्कले के अध्यात्मवाद को व्यक्तिगत अध्यात्मवाद या विज्ञानवाद की संज्ञा दी गई है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन्हें संसार के बाह्य भौतिक पदार्थ कहा जाता है वे केवल प्रत्यक्ष करने वाले अन्त:करणों (Percipient minds) के वैय्यक्तिक विचार (Subjective ideas) हैं अन्यथा कुछ नहीं। पुद्गल मनस् के विचारों का समूह मात्र है ; मनस् से स्वतन्त्र उसकी कोई सत्ता नहीं है।

1. अस्तित्व का अर्थ ही प्रत्यक्ष होना है

बर्कले अपने मत के प्रतिपादन में तर्क उपस्थित करते हुए कहते हैं कि जब यह कहा जाता है कि कोई वस्तु है उसका अर्थ यही होता है कि उस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। उदाहरण के रूप में जब मैं यह घोषित करता हूं कि जिस मेज पर मैं लिख रहा हूं वह विद्यमान है,' इसका अभिप्राय केवल यही तो है कि मैं उस मेज का प्रत्यक्ष कर रहा हूं। इसी प्रकार किसी वस्तु के विषय में यदि मैं यह कहूं कि 'वह थी', तो इसका अभिप्राय होता है कि भूतकाल में उसका प्रत्यक्ष किया गया था; और यदि यह व्यक्त करूँ कि 'वह होगी' तो इसका अर्थ होता है कि भविष्य में उस वस्तु का प्रत्यक्ष होगा। अत: सिद्ध होता है कि 'किसी वस्तु का अस्तित्व होना' और 'उसका प्रत्यक्ष होना' — इन दोनों क़थनों (statements) का एक ही अर्थ है। इसी कारण बर्कले घोषित करते हैं — 'Esse est percipii' अर्थात् अस्तित्व = प्रत्यक्ष। किसी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना उसके प्रत्यक्ष के अभाव में की ही नहीं जा सकती। जब भी हम किसी वस्तु के विषय में विचार करते हैं, तो उसे मनस् से सम्बन्धित या मनस् पर आश्रित ही पाते हैं। मनस् से असंबन्धित वस्तु का विचार स्व-विरोधी[1] है। अस्तु हम यह कह सकते हैं कि बाह्य-जगत् की वस्तुएँ हमारे विचार मात्र हैं अन्य कुछ नहीं।

---

1. Self-contradictory

2. प्राथमिक एवं गौण दोनों ही गुण व्यक्तिगत हैं

बर्कले कहते हैं कि जिसे पुद्गल के नाम से पुकारा जाता है वह केवल कुछ गुणों का समूह ही तो है। अब क्योंकि सभी गुण (प्राथमिक एवं गौण दोनों) हमारे मनस् के विचारों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, इसलिए हम पुद्गल को भी विचारों के अतिरिक्त कुछ नहीं मान सकते। प्रश्न उपस्थित होता है — कि प्राथमिक तथा गौण गुण दोनों ही मनस् के व्यक्तिगत विचार कैसे और क्यों हैं ? बर्कले उत्तर में निम्न प्रमाण प्रस्तुत करते हैं :

(क) पुद्गल के प्राथमिक गुण हैं — प्रसार,[1] ठोसपन,[2] आकार,[3] रूप[4], गति[5], स्थिरता[6] आदि ; और उसके गौण गुण हैं — शब्द, गन्ध, रंग, स्वाद, गर्मी, सर्दी इत्यादि। अंग्रेज दार्शनिक लॉक का कथन है कि प्राथमिक गुण वास्तविक हैं और गौण गुण अवास्तविक ; प्राथमिक गुण पुद्गल में विद्यमान हैं परन्तु गौण गुण केवल मनस् में हैं। गौण गुणों की मानसिक निर्भरता (dependence on mind) के विषय में तर्क प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं कि गौण गुण भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं ; इसलिए वे व्यक्तिगत और अवास्तविक हैं। उदाहरण के रूप में जब आप अपना हाथ हल्के गर्म जल में डालते हैं तो आपको वह गर्म प्रतीत होता है। परन्तु यदि आप पहले अपना हाथ अधिक गर्म जल में डालते हैं और उसके पश्चात् तुरन्त ही हल्के गर्म जल में डालते हैं तो आपको वह ठण्डा प्रतीत होगा। परन्तु वही जल एक साथ गर्म और ठण्डा नहीं हो सकता। अत: हमें कहना होगा कि गर्मी, सर्दी आदि गौण गुण केवल मनस् के विचार हैं उससे परे कुछ नहीं।

बर्कले कहते हैं कि लॉक का मत अधूरा है। वास्तविकता यह है कि गौण गुणों के सदृश प्राथमिक या प्रधान गुण भी भिन्न भिन्न लोगों को भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे कि एक ही व्यक्ति समीप होने पर लम्बा और दूर होने पर ठिगना दृष्ट होता है। परन्तु वह लम्बा और ठिगना दोनों साथ साथ नहीं हो सकता। अत एव हमें यह कहना पड़ेगा कि आकार (Size) केवल आत्मगत[7] या व्यक्तिगत

---

1. Extension
2. Solidity or Impenetrability
3. Size
4. Shape
5. Motion
6. Rest
7. Subjective

है, अर्थात् हमारा एक विचारमात्र है, वास्तविकता नहीं। इसी प्रकार एक ही पत्थर का टुकड़ा एक व्यक्ति को हल्का और दूसरे को भारी प्रतीत होता है ; एक ही वस्तु गज के परिमाण से 'एक', फीट के परिमाण से 'तीन' और इञ्चों के परिमाण से 'छत्तीस' दृष्ट होती है ; एक ही गति एक परिस्थिति में तीव्र और दूसरी परिस्थिति में मन्द भासित होती[1] है। तब हमें 'वजन', 'सख्या', और 'गति' के विषय में भी यही मानना होगा कि वे भी वस्तुगत (Objective) नहीं वरन् हमारे मनस् के विचार मात्र हैं। अस्तु सिद्ध होता है कि प्राथमिक गुण उसी प्रकार मनस् पर आधारित हैं जैसे कि गौण गुण।

(ख) बर्कले दूसरा तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्राथमिक तथा गौण गुणों का एक दूसरे से पृथक् प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं है। उदाहरण के रूप में जैसे प्रसार से पृथक् रंग का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, और न ही रंग से पृथक् प्रसार का प्रत्यक्ष हो सकता है। उसी प्रकार सर्दी तथा गर्मी का प्रत्यक्ष प्रसार से पृथक् सम्भव नहीं, और न ही प्रसार का प्रत्यक्ष सर्दी गर्मी से पृथक् संभव है। अत: रंग एवं तापमान (Temperature) यदि मनस् के विचार मात्र हैं, तो प्रसार भी मनस् का विचार ही है। अर्थात् प्राथमिक गुण गौण गुणों के सदृश ही मनस् पर अवलम्बित हैं[2]।

3. पुद्गल के अस्तित्व का खण्डन

बर्कले अपने मत की पुष्टि हेतु पुद्गल के अस्तित्व का खण्डन और भी कई प्रमाणों द्वारा करते हैं जिन्हें हम निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत करेंगे :

(क) लॉक का कथन है कि प्राथमिक गुणों का अधिष्ठान[3] अथवा आधार पुद्गल ही है। बर्कले उनका विरोध करते हैं और कहते हैं कि प्राथमिक गुण भी गौण गुणों के सदृश मनस् के विचार हैं ; और विचार मनस् में रहा करते हैं, पुद्गल में

---

1. Appears
2. "If it be certain that those original qualities are inseparably united with other sensible qualities, and, not even in thought capable of being abstacted from them, it plainly follows that they exist only in the mind."
   (अर्थात् "यदि यह निश्चित है कि वे मौलिक गुण दूसरे संवेद्य गुणों के साथ अवियोज्य रूप से संयुक्त हैं, और विचार तक में भी, उन्हें उन (संवेद्य गुणों) से वियुक्त नहीं किया जा सकता, तब स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि मौलिक गुणों का अस्तित्व केवल मनस् में ही है"। (बर्कले)
3. Substratum.

नहीं। विचारों के आधार के लिए पुद्गल की प्राक्-कल्पना (Hypothesis) सर्वथा निराधार प्रतीत होती है।

(ख) लॉक कहते हैं कि 'पुद्गल' प्राथमिक गुणों का एक अज्ञात एवं अज्ञेय आधार[1] है। बर्कले उनके विरुद्ध आपत्ति (objection) करते हुए कहते हैं कि अज्ञात एवं अज्ञेय का अर्थ है जिसका प्रत्यक्ष न हुआ हो और न हो सके। अब क्योंकि अस्तित्व होने का अर्थ ही प्रत्यक्ष होना है (Esse est percipii); और पुद्गल लॉक के शब्दों में 'अज्ञात एवं अज्ञेय' होने के कारण न तो उसका प्रत्यक्ष हुआ है और न हो सकता है, तब उसके अस्तित्व को मानना लॉक का एक अन्ध विश्वास ही कहा जा सकता है।

(ग) पुनः जब पुद्गल को प्राथमिक गुणों का आधार कहा जाता है तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या पुद्गल उसी प्रकार प्राथमिक गुणों का आधार हैं जैसे किसी भवन का आधार 'स्तम्भ' हुआ करते हैं? परन्तु स्तम्भों का तो प्रत्यक्ष होता है; उसके विपरीत प्राथमिक गुणों को आधार (अर्थात् सहारा) देते हुए पुद्गल का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। ऐसी स्थिति में हम प्राथमिक गुणों के आधार-रूप में पुद्गल या द्रव्य के अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकते हैं?

(घ) बर्कले लॉक के 'प्रत्यक्ष पुनरुपस्थापन सिद्धान्त'[2] का खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि यदि विचार जगत् की बाह्य वस्तुओं के प्रतिरूप (copies) या प्रतिच्छायायें (images or representations) हैं तो वे बाह्य वस्तुओं के सदृश होने चाहियें। और यदि बाह्य वस्तुयें और विचार परस्पर सदृश हैं तो, हमें कहना होगा कि बाह्य वस्तुयें विचार हैं अन्य कुछ नहीं। "A colour or figure can be like nothing but another colour or figure. An idea can be like nothing but another idea." (अर्थात् "एक रंग या आकृति केवल एक दूसरे रंग या आकृति के समान ही हो सकती है अन्यथा नहीं। एक विचार एक दूसरे विचार के समान ही हो सकता है अन्य कुछ नहीं"। (बर्कले)।

(ङ) बर्कले का कथन है कि जिन्हें बाह्य पदार्थों की संज्ञा दी जाती है उनका प्रत्यक्ष उनकी संवित्तियों (sensations) से पृथक् नहीं किया जा सकता[3]। जैसे कि किसी नीली वस्तु का प्रत्यक्ष नीले रंग की संवित्ति के बिना नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु और संवित्ति (या विचार) एक ही हैं।

---

1. Unknown and unknowable substratum.
2. Representative Theory of Perception.
3. "It is impossible for me to see or feel anything without an actual sensation of that thing." (Berkeley)

(च) भौतिकवादी दार्शनिक पुद्गल की सत्ता सिद्ध करने में यह तर्क देते हैं कि संवित्तियों की उत्पत्ति केवल पुद्गल (अर्थात् बाह्य वस्तुओं) द्वारा ही संभव है अन्यथा नहीं, क्योंकि मनस् स्वयं उन्हें अपने अन्दर से उत्पन्न नहीं कर सकता। वे (संवित्तियाँ) बाह्य वस्तुओं द्वारा बाहर से मनस् पर अङ्कित होती हैं; उनका कारण सर्वदा पुद्गल ही होता है। इस तर्क का निराकरण करते हुए बर्कले कहते हैं कि संवित्तियों और पुद्गल में कोई आवश्यक सम्बन्ध (necessary relation) नहीं है। क्या स्वप्न बाह्य पदार्थों के बिना ही उत्पन्न नहीं हो जाते ? क्या हमारा मनस् ही उनकी उत्पत्ति में एकमात्र कारण नहीं होता ? इसी प्रकार यह कहना कदापि असंगत नहीं है कि संवित्तियाँ बाह्य वस्तुओं के बिना भी उत्पन्न हो जाती हैं।

तथापि इस स्थान पर बर्कले एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कहते हैं ; वह यह कि जागृत जगत् की संवित्तियों को अपनी इच्छा या संकल्प के अनुसार मनुष्य स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता। सूर्य, चन्द्र, तारागण, नदियाँ, समुद्र, पर्वत आदि की संवित्तियाँ सीमित मानव मन द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकतीं। प्रकृति संवित्तियों या विचारों का एक संस्थान (system) है जो सीमित अन्तःकरणों (finite minds) में ईश्वर के द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार उत्पन्न कर दिया गया है।

4. वास्तविक वस्तुओं और कल्पित वस्तुओं में भेद

पाठक के मन में यहाँ यह प्रश्न उद्भावित हो सकता है कि 'क्या बर्कले के सिद्धान्त में व्यावहारिक जगत् के पदार्थों और कल्पित पदार्थों में कोई अन्तर ही नहीं है ? बर्कले उत्तर देते हैं कि व्यावहारिक जगत् के वास्तविक पदार्थ ईश्वर द्वारा नियमित ढंग से मनुष्यों के सीमित अन्तःकरणों पर अङ्कित की हुई संवित्तियाँ हैं, और कल्पित पदार्थ प्रतिच्छाया (images) हैं जिन्हें मनुष्यों के सीमित अन्तःकरण स्वयं ही उत्पन्न करते हैं। संवित्तियां अधिक दृढ़, सबल, स्पष्ट एवं व्यवस्थित होती हैं और कल्पित बिचार (imaginary ideas) अदृढ़, निर्बल अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित होते हैं[1]। उदाहरण के रूप में वास्तविक पुष्पों तथा उनके कल्पित विचारों में बहुत

---

1. "The ideas imprinted on the senses by the Author of Nature are called 'real things'; and those excited in the imagination, being less regular, vivid and constant, are more properly termed 'ideas' or 'images' of things which they copy or represent." (अर्थात् "प्रकृति के स्वामी द्वारा ज्ञानेन्द्रियों पर अङ्कित विचार सत्य वस्तुएँ कहलाती हैं; और जो कल्पना में उद्दीप्त होते हैं और जो कम

अन्तर है। परन्तु बर्कले इस बात पर बल देते हैं कि यद्यपि संवित्तियों और कल्पित विचारों में भिन्नता है तथापि दोनों हैं व्यक्तिगत और मनस् पर आश्रित ही। वास्तविकता यह है कि सीमित अन्तःकरणों से स्वतन्त्र उन दोनों का ही कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। "But, then, our 'sensations,' be they ever so vivid and distinct, are neverthless ideas, i.e.,they exist in the mind, or are perceived by it, as truly as the ideas of its own framing." (अर्थात् "परन्तु, तब, हमारी संवित्तियाँ चाहे सदैव कितनी ही सुस्पष्ट एवं विविक्त हों, तो भी हैं 'विचार' ही, अर्थात उनका अस्तित्व मनस् में ही है, या यों कह सकते हैं कि मनस् के द्वारा ही उनका प्रत्यक्ष होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि स्वयं उस (मनस्) के द्वारा उत्पन्न विचारों का"। (बर्कले)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बर्कले के मतानुसार वास्तविक वस्तुओं और कल्पित वस्तुओं में भेद तो निश्चित रूप से है, परन्तु साथ ही साथ हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि अन्ततोगत्वा उन दोनों के अस्तित्व का आधार हैं हमारे सीमित अन्तःकरण ही।

5. बर्कले का अध्यात्मवाद सर्वाहंवाद नहीं है

बर्कले के दार्शनिक सिद्धांत को साधारणतया 'व्यक्तिगत अध्यात्मवाद' के नाम से पुकारा गया है। यह जगत् की भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को मनस् से निरपेक्ष या स्वतन्त्र नहीं मानता; और उन्हें केवल प्रत्यक्षकर्ता मनस् (Percepient mind) के विचार ही समझता है। परन्तु बर्कले को सर्वाहंवादी नहीं कहा जा सकता। सर्वाहंवाद कहता है कि विश्व में केवल 'मैं' और 'मेरे विचारों' का ही अस्तित्व है; इसके अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता नहीं है। "Each person is shut up to himself alone, 'souls ipse'." (अर्थात् "प्रत्येक मनुष्य केवल अपने में ही बन्दी है।" ('Types of Philosophy' by Hocking)) । इसके विपरीत बर्कले का कथन है कि मेरे मनस् के अतिरिक्त अन्य सीमित अन्तःकरणों का अस्तित्व भी है; क्योंकि जगत् की अनेक वस्तुएँ जिनका मुझे प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है उनके अस्तित्व को इसी कारण स्वीकार किया जाता है कि उनका प्रत्यक्ष अन्य अन्तःकरणों के द्वारा होता है। पुनः ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन भी बड़े ही स्पष्ट रूप में बर्कले ने किया है। उनका कहना है (जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है) कि जागृत जगत् की वस्तुओं की संवित्तियाँ सीमित अन्तःकरण स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकते, वे ईश्वर द्वारा

नियमित, कम सुस्पष्ट तथा कम स्थिर होते हैं उनकी अधिक समीचीन संज्ञायें वस्तुओं के 'विचार' या 'प्रतिमायें' होती हैं जिनकी वे अनुकृतियाँ या प्रतिरूप हैं।" (बर्कले)।

सीमित अन्तःकरणों में कुछ निश्चित् नियमों के अनुसार उत्पन्न कर दी जाती हैं। अत एव निश्चित् होता है कि बर्कले के दर्शन को सर्वाहंवाद की संज्ञा देना एक भारी भूल है। इसी बात का समर्थन करते हुए जॉन्सटन (Johnston) अपनी पुस्तक 'The Development of Berkeley's Philosophy' में कहते हैं" His (Berkeley's) doctrine is not really solipsistic, for he explicitly holds (a) that the world contains, in addition to me and my ideas, other finite spirits with their ideas, and (b) that I am not the source of my presentations, but am dependent for them on God, who causes them to occur in a fixed and regular order." (अर्थात् "उन (बर्कले) का सिद्धान्त वस्तुत: सर्वाहंवाद नहीं है, क्योंकि वह स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं (क) कि 'मेरे' और 'मेरे विचारों' के अतिरिक्त संसार में दूसरी सान्त आत्मायें और उनके विचार भी अस्तित्वमान हैं, और यह (ख) कि मैं अपने पुरोधानों का स्वयं कारण नहीं हूँ, किन्तु उनके लिए मैं ईश्वर पर निर्भर हूं जो उनके स्थिर और नियमित क्रम में घटित होने का कारण है।") ।

समालोचना

(1) पश्चिमी दर्शन में नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादियों[1] ने अध्यात्मवाद का खण्डन बड़े ही बलपूर्वक शब्दों में किया है। नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी मूर (Moore) कहते हैं कि वस्तु का अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष पर आधारित नहीं, वरन् वस्तु का प्रत्यक्ष ही उसके अस्तित्व पर आधारित है। इसके लिए वह एक तर्क प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि जब एक स्थान पर हमें लाल रंग का प्रत्यक्ष होता है और दूसरे स्थान पर नीले रंग का प्रत्यक्ष होता है, तब लाल रंग और नीले रंग के पार्थक्य का कारण हमारा ज्ञान नहीं कहा जा सकता, वरन् उनका कारण ज्ञान के विषय ही होते हैं। ज्ञान का विषय यदि लाल है तो लाल का प्रत्यक्ष होता है, यदि नीला है तो नीले का प्रत्यक्ष, और यदि हरा या पीला है, तो हरे या पीले का ही प्रत्यक्ष होता है।

इस स्थान पर तुलना हेतु भारतीय दर्शन से एक सन्दर्भ प्रस्तुत करना स्वभावत: अप्रासंगिक न होगा। जो तर्क मूर ने व्यक्तिगत अध्यात्मवाद के विरोध में दिया है वही शताब्दियों पूर्व विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन करते हुए भारत के सुविख्यात दार्शनिक आचार्य शंकर दे चुके हैं। जब विज्ञानवादी वस्तु की 'विज्ञप्ति' या 'ज्ञान' को ही वस्तु बताते हैं, क्योंकि वस्तु का अस्तित्व उसकी विज्ञप्ति पर ही

1. Neo-realists

आधारित है ; तब शंकर बड़े ही प्रभावपूर्ण शब्दों में उनका निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि वस्तु का अस्तित्व ज्ञान पर ही आश्रित है, तब क्या विज्ञानवादियों में यह सामर्थ्य है कि वे एक प्राचीर[1] के स्थान पर सिंह का प्रत्यक्ष कर सकें।

(2) बर्कले के मतानुसार वस्तु और उसकी संवित्ति दोनों तदात्म (identical) हैं क्योंकि उनका एक दूसरे से पृथक् प्रत्यक्ष हम कर ही नहीं सकते। परन्तु प्रत्यक्ष का अपृथकत्व तादात्म्य की सिद्धि कदापि नहीं करता। उदाहरण के रूप में जैसे कि यदि 'अ' और 'ब' का प्रत्यक्ष सदा साथ-साथ ही होता है, पृथक् रूप से कभी नहीं होता ; तो इससे हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि 'अ' और 'ब' दोनों तदात्म अथवा अभिन्न हैं।

(3) बर्कले ने लॉक के 'प्रत्यक्ष पुनरुपस्थापन सिद्धान्त' की आलोचना करते हुए यह कहा है कि यदि विचार बाह्य वस्तुओं की प्रतिच्छायायें या प्रतिरूप हैं तो विचारों के सदृश ही हैं, और यदि वे विचारों के सदृश हैं तो वे वस्तुतः विचार ही हैं। परन्तु बर्कले की यह युक्ति[2] असंगत[3] प्रतीत होती है। सादृश्य का अर्थ तादात्म्य कदापि नहीं होता। भिन्न भिन्न स्तरों वाले पदार्थों में भी सादृश्य का होना सम्भव है।

(4) एलैक्जैण्डर (Alexander) ने बर्कले के विरुद्ध निम्न आपेक्ष प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि यह बात ठीक है कि जब भी हम किसी वस्तु को जानते हैं तो उसे ज्ञात वस्तु के रूप में ही जानते हैं ; परन्तु बर्कले का यह तर्क कि 'क्योंकि वस्तु का ज्ञान मनस् पर निर्भर करता है अतः वस्तु का अस्तित्व भी मनस् पर ही निर्भर है' अनुचित है। कारण यह है कि वस्तु के ज्ञानत्व और वस्तु को एक ही नहीं कहा जा सकता।

(5) बर्कले के सिद्धान्त में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की कमी प्रतीत होती है। उन्होंने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का समग्र रूप से विश्लेषण करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में प्रत्यक्षकर्ता की मानसिक अनुभूति तथा प्रत्यक्ष की जाने वाली वस्तु इन दोनों में वह भेद ही नहीं करते। इनमें प्रथम का नाम 'क्रिया' या 'अनुभूति' है और दूसरी का नाम 'पदार्थ' या 'वस्तु' है। वह अपने दर्शन में सर्वत्र 'संवित्ति' तथा 'विचार' इन दो शब्दों को बड़े भ्रामक रूप में प्रयोग करते हैं। किसी समय 'संवित्ति' एवं 'विचार' से उनका अभिप्राय मानसिक क्रिया से होता है और कभी मन में उपस्थित होने वाली वस्तु से।

---

1. Wall
2. Argument
3. Unreasonable

(6) स्वप्न, अनुभूतियों को बर्कले ने संवित्तियां कहा है और उन्हें जागृत अवस्था (Waking state) की संवित्तियों के समकक्ष रखा है। हमारी दृष्टि से यह सर्वथा अयुक्त है। स्वप्न-अनुभूतियां बाह्य पदार्थों के साथ ज्ञानेन्द्रियों और मनस् के सम्पर्क से उत्पन्न नहीं होतीं, बरन् मनस् स्वयं ही उनकी रचना कर देता है; अत: उन्हें संवित्तियां कहना तर्कसंगत नहीं है। पुन:, इसके विपरीत, जागृत अवस्था की संवित्तियाँ ज्ञानेन्द्रियों और मनस् पर बाहर से लादी जाती हैं। ये ज्ञाता से सर्वथा निरपेक्ष होती हैं और उस पर कदापि निर्भर नहीं करतीं।

(7) जागृत जगत् की संवित्तियों की व्याख्या करते हुए बर्कले ने कहा है कि वे सीमित अन्त:करणों में ईश्वर के द्वारा उत्पन्न कर दी जाती हैं। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बर्कले एक अनुभववादी दार्शनिक हैं, जो ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त ज्ञान का कोई अन्य साधन मानते ही नहीं; ऐसी स्थिति में वह एक अत्यन्त अतीन्द्रिय विषय[1] अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध ही कैसे कर सकते हैं ?

(8) एमेरिकन नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिक पैरी (Perry) ने बर्कले पर आत्मकेन्द्रित प्रवणता का दोष[2] आरोपित किया है। आत्मकेन्द्रित प्रवणता का अर्थ यह है कि जब भी हमें किसी पदार्थ का ज्ञान होता है तो वह हमारे मनस् से संबंधित हो जाता है ; हम किसी ऐसे पदार्थ को जान ही नहीं सकते जो हमारे मनस् से सम्बन्धित न हो। परन्तु, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता, जैसा कि बर्कले ने किया है, कि जिस वस्तु का मनस् द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता उसका अस्तित्व ही नहीं है। केवल अन्वय प्रणाली (Method of agreement) के द्वारा हम किसी असंदिग्ध निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते, क्योंकि इसमें नकारात्मक उदाहरणों का विचार नहीं किया जाता। यह ठीक है कि हम स्वभावत: अपने अनुभव से दूर हट कर विचार ही नहीं कर सकते, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हमारे अनुभव (अर्थात् ज्ञान) पर ही आश्रित है।

(9) नव्य-हीगेलवादी[3] जो वस्तुगत आध्यात्मवादी[4] हैं, बर्कले का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान-प्रक्रिया के लिए ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की स्वतन्त्र सत्ता (independent reality) मानना आवश्यक है। जिस प्रकार हम ज्ञाता को ज्ञेय या विषय (object) का ही रूप नहीं कह सकते, उसी प्रकार हमको यह भी अधिकार नहीं है कि ज्ञेय या विषय को ज्ञाता या मनस् (subject or mind) का ही

1. Absolutely super-sensuous object
2. Fallacy of Ego-centric Predicament
3. Neo-Hegelians
4. Objective Idealists

रूप अथवा विचार कह सकें। ज्ञाता और ज्ञेय यद्यपि एक दूसरे से सम्बद्ध (Correlated) अवश्य हैं, तथापि दोनों स्वतन्त्र हैं और वास्तविक (real) हैं।

(10) बर्कले के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए हमने ऊपर यह बताया है कि बर्कले सर्वाहंवादी नहीं थे, क्योंकि उन्होंने स्वकीय अन्तःकरण के अतिरिक्त दूसरे अन्तःकरणों तथा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। परन्तु (जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है) एक अनुभववादी दार्शनिक होने के नाते उन्हें ईश्वर के अस्तित्व की तो चर्चा करने का अधिकार ही नहीं है।

हीगेल का निरपेक्ष विज्ञानवाद या परब्रह्मवाद
(Absolute Idealism or Absolutism of Hegel)

जर्मन दार्शनिक हीगेल के दर्शन को निरपेक्ष विज्ञानवाद या परब्रह्मवाद का नाम दिया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार निरपेक्ष विज्ञान (Absolute Idea or Knowledge) या विश्व-मनस् (Unviesal mind) इस विश्व की आधारभूत सत्ता है; यह सम्पूर्ण जगत् इसी सत्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त को उक्त नाम (निरपेक्ष विज्ञानवाद) से पुकारा गया है। इस दर्शन को कई बार वस्तुगत प्रत्ययवाद (Objective Idealism) भी कहा गया है। कारण है कि जहाँ बर्कले एक ओर यह कहते हैं कि जगत् के भौतिक पदार्थ प्रत्यक्ष करने वाले अन्तःकरणों के वैय्यक्तिक विचार मात्र हैं; वहाँ दूसरी ओर हीगेल का मत है कि बाह्य पदार्थ जिस विज्ञान की अभिव्यक्ति हैं वह व्यक्तिगत न होकर वस्तुगत (objective) है।

1. हीगेल का काण्ट से सम्बन्ध

हीगेल काण्ट के साथ यह तो मानते हैं कि बुद्धि ही जगत् का निर्माण करती है, किन्तु वह कान्ट से इस बात पर असहमत हैं कि जगत्-निर्माण की सामग्री बाहर अर्थात् इन्द्रिय संवेदनाओं से आती है। उन (हीगेल) का मत है कि जगत्-निर्माण की सामग्री स्वयं बुद्धि में ही होती है। बुद्धि-विकल्प या ज्ञान के आकार (concepts) बुद्धि के खोखले सांचे मात्र नहीं हैं। इन्द्रिय-संवेदनायें भी बुद्धि के ही क्षीण रूप हैं, क्योंकि उनमें भी ज्ञानत्व निहित है। पुनः, जिस प्रकार बुद्धि के ये नियम हमारे बौद्धिक जगत् के नियम हैं, उसी प्रकार ये बाह्य जगत् के भी नियम हैं। अर्थात् जो तर्कबुद्धिपरकता (rationality) हमारी बुद्धि के नियमों में दृष्ट होती है, वही तर्कबुद्धिपरकता वस्तु-जगत् की व्यवस्था तथा नियम-परायणता में भी दृष्ट होती है। इससे यह विदित होता है कि तर्क-

बुद्धिपरकता अथवा ज्ञान केवल हमारी बुद्धि का ही धर्म (स्वभाव) नहीं है वरन् प्रकृति (Nature) का भी धर्म है। अस्तु काण्ट के विरुद्ध हीगेल की यह घोषणा है कि प्रकृति अज्ञेय नहीं वरन् बुद्धिगम्य है।

2. निरपेक्ष विज्ञान

हीगेल कहते हैं कि निरपेक्ष या पूर्ण विज्ञान (Absolute Idea) ही विश्व की आधारभूत सत्ता अथवा मूल तत्व है। सम्पूर्ण विश्व इसी मूल तत्व की बाह्य अभिव्यक्ति है, परिणाम है। सृष्टि के समस्त चेतन अचेतन पदार्थ इसी के विविध रूप हैं। सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि धारणा या विचार हमारे मनस् में हैं और जड़ वस्तु मनस् से बाहर है, किन्तु वास्तविकता यह है कि धारणा और वस्तु दोनों ही निरपेक्ष विज्ञान के रूप हैं। विज्ञान नित्य है, शाश्वत है। यही ज्ञाता भी है। इसमें और ज्ञाता में परस्पर द्रव्य और गुण का सम्बन्ध नहीं है। जो विशुद्ध विज्ञान है वही विशुद्ध विज्ञाता या ज्ञाता भी है। इस (निरपेक्ष विज्ञान) का अस्तित्व स्वयं-सिद्ध है क्योंकि सिद्धि असिद्धि, खण्डन मण्डन आदि सबका आधार यही है।

3. विज्ञान मूर्त्त सामान्य है

हीगेल का मत है कि विज्ञान अमूर्त सामान्य (Abstract Universal) नहीं, प्रत्युत मूर्त सामान्य (Concrete Universal) है। यह एक पूर्ण रूपेण निर्विशेष (Unqualified) तथा अभेद-रूप (Undifferenced) सत्ता नहीं है, वरन् एक भेद-विशिष्ट अभेद-रूप सत्ता है। अर्थात् यह एक ऐसी सत्ता है जो संसार की अनेकताओं में निहित अभेद-रूप एकता (Unity-in-difference) है। हीगेल कहते हैं कि इस मूर्त-सामान्य विज्ञान में किसी भी वस्तु का निराकरण नहीं होता, प्रत्युत सभी का समावेश हो जाता है।

4. विज्ञान का विकास

निरपेक्ष विज्ञान प्रारम्भ में अमूर्त विज्ञान के रूप में रहता है। उस समय यह अपने आप में ही प्रतिष्ठित होता है और अपने इस रूप में यह शुद्ध अभेद-रूप विषयी होता है। इस शुद्ध विषयी अथवा अमूर्त विज्ञान को हीगेल ने 'स्व-स्थित विज्ञान' (Idea in itself) का नाम दिया है। अब क्योंकि शुद्ध विषयी अपने आप में अपूर्ण है, अतः उसे विषय की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता के फलस्वरूप शुद्ध विषयी का विकास होता है और वह स्वयं को संसार के रूप में अभिव्यक्त करता है। संसार या प्रकृति अमूर्त विज्ञान का ही बाह्य रूप या परिणति है। विकास-क्रम में सर्वप्रथम अमूर्त विज्ञान या सुप्त चैतन्य स्वयं को वनस्पति जगत् में अभिव्यक्त करता है और वहां यह प्राण-रूप हो जाता है। तदुपरान्त इस

विज्ञान से पशु जगत् का प्रादुर्भाव होता है, और उसमें यह अविकसित रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार विकास-प्रक्रिया चलती रहती है और अन्त में मानव-जगत् का उद्भव होता है। इस स्तर पर मनुष्य की आत्मा या मनस् के रूप में यही विज्ञान या चैतन्य स्वचेतन (Self-conscious) हो जाता है। विज्ञान की यह अवस्था न केवल अभेद-रूप होती है न केवल भेद-रूप, यह एक भेद-विशिष्ट अभेद-रूप स्थिति होती है। अभिप्राय यह है कि स्वचेतन अवस्था में यद्यपि विषयी और विषय में भेद उत्पन्न हो जाता है, तथापि मूल रूप से विज्ञान अभेद-रूप ही रहता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि यद्यपि इस स्थिति में वह स्वयं को विषय रूप में जानता है तथापि विषयी और विषय के आधार के रूप में इसकी एकता एवं अभेद-रूपता अखण्ड रहती है।

5. निषेध या विरोध का नियम

हीगेल कहते हैं कि यदि विकास-क्रिया पर गहराई से विचार किया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि इसका मूल कारण है 'निषेध या विरोध का नियम' (Law of Contradiction)। संसार की संपूर्ण गति, विकास, और जीवन का मूल यही है। हम यह भी कह सकते हैं कि समग्र विश्व में इसी का साम्राज्य छाया हुआ है। संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती है और किसी दूसरी वस्तु में परिणत हो जाती है। एक वस्तु का इस प्रकार दूसरी वस्तु में परिणत हो जाना ही निषेध या विरोध (Contradiction) है। उदाहरण के रूप में एक बीज अंकुरित होता है और तब विकसित होकर एक वृक्ष का रूप ग्रहण कर लेता है। बीज का यह परिवर्तन ही बीज का निषेध कहा जायगा। और यह स्पष्ट ही है कि इसी परिवर्तन या निषेध के द्वारा बीज का विकास सम्भव होता है।

6. द्वन्द्वात्मक विकास

विकास-क्रिया को हीगेल द्वन्द्वात्मक (Dialectical) प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि यह तो ठीक है कि निषेध द्वारा विकास-क्रम आगे बढ़ता है, परन्तु निषेध में ही इस कहानी की परिसमाप्ति नहीं कही जा जकती। प्रकृति निषेध पर विराम नहीं ले लेती, वरन् उस पर आधिपत्य प्राप्त कर लेना चाहती है। अर्थात् पहले एक प्रत्यय (Concept) 'विरोध के नियम' द्वारा दूसरे प्रत्यय को उत्पन्न करता है; और तब ये दोनों प्रत्यय तीसरे प्रत्यय में समन्वित हो जाते हैं[1]। पहले प्रत्यय को पक्ष (Thesis) कहते हैं, दूसरे को प्रतिपक्ष (Antithesis)

1. फ्रैंक थिली (Frank Thilly) इस संदर्भ में हीगेल का मत उपस्थित करते हुए कहते हैं, "To do a thing justice, we must tell the whole truth about it, predicate each of its contradictions, and show how they

और तीसरे को संपक्ष या संश्लेषण (Synthesis) के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के रूप में पारमिनाइड्स (Parmenides) ने प्रतिपादित किया कि सत्ता 'स्थाई' है, हिराक्लीटस (Heraclitus) ने कहा कि सत्ता 'अस्थाई' है और परमाणुवादियों (Atomists) ने दोनों मतों का समन्वय करते हुए घोषित किया कि सत्ता 'स्थाई और अस्थाई' दोनों है ; अर्थात् सत्ता का कुछ अंश स्थायी और कुछ अंश अस्थाई है । हीगेल का कथन है कि इस प्रकार पक्ष और प्रतिपक्ष का समन्वय संपक्ष में निरन्तर होता जाता है और द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectical process), जो परम सत्ता के विकास का अनुसरण करती है, उस समय तक सतत चलती रहती है जब तक कि समस्त विरोध चरम प्रत्यय (Ultimate Concept) अर्थात् पूर्णत्व में समन्वित एवं सुरक्षित नहीं हो जाते हैं। किन्तु यह स्मरणीय है कि कोई भी एक प्रत्यय, यहाँ तक कि सर्वोच्च प्रत्यय भी, पूर्ण सत्य का द्योतक नहीं कहा जा सकता । सभी प्रत्यय पूर्ण सत्य के अंश मात्र हैं, इन सब प्रत्ययों का व्यवस्थित एवं समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य के नाम से अंकित किया जा सकता है ।

7. निरपेक्ष सत्ता अवयवीय सत्ता है

हीगेल का मत है कि निरपेक्ष सत्ता या पूर्ण तत्व एक अवयवीय साकल्य (Organic whole) है । इसके विभिन्न अंगों में अवयवीय सम्बन्ध है । अवयवीय सम्बन्ध का अभिप्राय ऐसे संबंध से होता है जिसमें अवयव पूर्ण पर निर्भर करते हैं और पूर्ण अवयवों पर निर्भर करता है । इसमें अवयवी और अवयव अथवा अंगी और अंग इन दोनों का उत्कर्ष एवं अपकर्ष, विकास एवं ह्रास परस्पर आश्रित होते हैं। हीगेल कहते हैं कि यह निरपेक्ष सत्ता (Absolute), जिसकी बाह्य अभिव्यक्ति विश्व है, विभिन्न वस्तुएं तथा व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है, वरन् परस्पर अंतरंग रूप से संबन्धित अवयवों की एक सुव्यवस्थित समष्टि है, जिसके अवयवों में परिवर्तन आने से समष्टि में भी परिवर्तन हो जाता है ।

8. सृष्टि निरपेक्ष विज्ञान या ईश्वर की शाश्वत अभिव्यक्ति है

कई बार हीगेल निरपेक्ष विज्ञान या चैतन्य को ईश्वर के नाम से भी पुकारते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर और सृष्टि का एक शाश्वत सम्बन्ध है ; अर्थात्

---

are reconciled and preserved in articulated whole which we call the life of the thing." (अर्थात्, "किसी वस्तु के साथ न्याय करने के लिए उसके समग्र रूप को बताना आवश्यक है ; पहले उसके अन्तर्विरोधियों की ओर इंगित करना आवश्यक है और तब यह प्रदर्शित करना कि ये अन्तर्विरोधी एक संधियुक्त पूर्णता, जिसे हम वस्तु का जीवन कहते हैं, में कैसे समन्वित हो जाते और परिवर्तित रहते हैं"।) ।

सृष्टि ईश्वर की नित्य एवं शाश्वत अभिव्यक्ति है। ईश्वर सृष्टि रचना के बिना कभी रह ही नहीं सकता; जगत् के विकास के द्वारा ही वह अपने स्वरूप का साक्षात् करता है और इस प्रकार इतिहास के विभिन्न सोपानों (Stages) द्वारा धीरे-धीरे स्वचेतना (Self-consciousness) को प्राप्त होता है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि सृष्टि का विकास कोई कालिक-प्रक्रिया (Temporal process) नहीं, वरन् एक तार्किक प्रक्रिया (Logical process) है। ईश्वर सदा से वही है जो अपने विकसित रूप में प्रकट होता है। जगत् के अगणित पदार्थ सदा से बीजभूत रूप में (Potentially) उसमें विद्यमान रहते हैं; वे अकस्मात् शून्य से उद्भूत नहीं हो जाते। उनका केवल प्रकटन होता है और यह प्रकटन एक शाश्वत प्रक्रिया है।

समालोचना

(1) हीगेल के दर्शन का सर्वप्रथम दोष हमारी दृष्टि में यह प्रतीत होता है कि एक ओर वह अपने परतत्व को निरपेक्ष सत्ता (Absolute) के रूप में मानते हैं और दूसरी ओर साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि यह निरपेक्ष सत्ता सृष्टि की विकास-क्रिया द्वारा अपने स्वरूप का साक्षात्कार करती है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि निरपेक्ष सत्ता या ईश्वर का सृष्टि-विकास द्वारा अपने स्वरूप का साक्षात् करना क्या इस बात को सिद्ध नहीं करता कि ईश्वर को अपने स्वरूप की अनुभूति के लिये जगत्-रचना की अनिवार्य रूप से अपेक्षा है? और यदि ऐसी अपेक्षा या आवश्यकता ईश्वर को है, तब क्या ईश्वर ईश्वर या निरपेक्ष सत्ता रह जाता है?

(2) जगत् की परिवर्तनशीलता की व्याख्या भी हीगेल के मूर्त एकत्ववादी सिद्धान्त (Doctrine of Concrete Monism) में अत्यन्त कठिन हो जाती है। हीगेल सृष्टि को निरपेक्ष सत्ता की बाह्य अभिव्यक्ति कहते हैं, और साथ ही साथ यह भी निर्दिष्ट करते हैं कि यह अभिव्यक्ति उतनी ही सत्य है जितनी सत्य निरपेक्ष सत्ता है। सृष्टि-प्रक्रिया को सत्य मानने से उसमें होने वाले परिवर्तनों को भी सत्य ही मानना होता है। और तब यह भी कहना होता है कि सृष्टि के परिवर्तन निरपेक्ष सत्ता या ईश्वर के ही वास्तविक परिवर्तन हैं। इस प्रकार उन (हीगेल) के सिद्धान्त में निरपेक्ष या परम तत्व की परिवर्तनशीलता या विकारयुक्तता सिद्ध हो जाने पर क्या परम तत्व को परम तत्व की संज्ञा दी जा सकती है? हमारा विनम्र विचार है: कदापि नहीं।

(3) हीगेल निरपेक्ष विज्ञान को विषयी (Subject) प्रतिपादित करते हैं। उनका कथन है कि इस निरपेक्ष विज्ञान से बाह्य जगत् की उत्पत्ति होती है जो विषय (Object) रूप में इसके समक्ष आता है। यह समझ में नहीं आता कि विषय रूप जगत् की उत्पत्ति से पूर्व किस प्रकार निरपेक्ष विज्ञान विषयी हो सकता

है। विषयी और विषय परस्पर सापेक्ष होते हैं; एक की अनुपस्थिति में दूसरे का होना असम्भव है।

(4) एक और मुख्य दोष हीगेल के निरपेक्ष विज्ञानवाद का यह है कि वह केवल बुद्धि द्वारा ही सत्य की प्राप्ति का समर्थन करते हैं। कठिनाई यह है कि बुद्धि स्वभाव से भेदात्मक है और सत्य स्वभाव से अभेदात्मक। बुद्धि की सम्पूर्ण क्रियायें विषयी और विषय के भेद पर आधारित हैं ; इस भेद के अभाव में उसकी कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। ऐसी स्थिति में हीगेल का यह कहना सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है कि केवल बुद्धि अभेदात्मक सत्य को प्राप्त करने में सक्षम (competent) है। ब्रैड्ले (Bradley) ने हीगेल के इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े ही बलपूर्ण शब्दों में किया है। ब्रैड्ले का मत है कि सत्य की प्राप्ति बुद्धि द्वारा नहीं वरन् अनुभूति (Feeling) द्वारा होती है। अनुभूति से उनका अभिप्राय एक प्रकार के अव्यवहित प्रत्यक्ष (Immediate experience) से है जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति के सदृश विषयी और विषय का तादात्म्य (identity) हो जाता है। ब्रैड्ले कहते हैं कि इस अनुभूति द्वारा विषयी विषय से तादात्म्य स्थापित कर उसके वास्तविक स्वरूप का उपभोग करता है।

उपसंहार

ऊपर की पंक्तियों में हीगेल के दर्शन की विवेचना करने के पश्चात् हमने उसकी जो आलोचनायें उपस्थित की हैं उन (आलोचनाओं) से पाठकों के हृदय में हीगेल की महत्ता कम नहीं हो जानी चाहिए। वास्तविकता यह है कि विश्व के सर्वोत्कृष्ट दार्शनिकों में हीगेल का स्थान है। उन्होंने अपने विचारों से संसार के अनेक दार्शनिकों को प्रभावित किया है, यह बात दूसरी है कि यह प्रभाव सकारात्मक (positive) रूप में पड़ा हो या नकारात्मक (negative) रूप में। उनके व्यापक प्रभाव के फलस्वरूप ही यूरोप और एमेरिका में वर्तमान काल में अनेक नवीन महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ है।

अध्यात्मवाद और वस्तुस्वातंत्र्यवाद का सम्बन्ध

(Relation between Idealism and Realism)

हमने इससे पूर्व के अध्याय में वस्तुस्वातन्त्र्यवाद का विवेचन किया था और इस अध्याय में अध्यात्मवाद का विवेचन किया है। अब हम दर्शन शास्त्र के इन दो प्रमुख वादों के पारस्परिक सम्बन्ध को संक्षेप में निर्दिष्ट करेंगे, जिससे पाठकों

को इनकी समानताओं तथा असमानताओं का समुचित ज्ञान हो सके। हमारा विश्वास है कि इस तुलना से पाठकों के समक्ष इन दोनों वादों के दृष्टिकोण और भी अधिक स्पष्ट प्रकाश में आ जायेंगे। किन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि इस तुलना में जिन बातों की चर्चा की जायेगी वे सब सभी वर्गों के अध्यात्मवादी तथा वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिकों ने स्वीकार की हों ऐसा कदापि नहीं है; कुछ दार्शनिकों ने किन्हीं बातों का प्रतिपादन किया है तो दूसरे दार्शनिकों ने दूसरी बातों का ; हम यहाँ लगभग सभी प्रमुख विषयों पर विचार करेंगे।

(1) अध्यात्मवाद कहता है कि संसार की बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर आश्रित है। यदि हमें उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष न हो तो हम तर्क के आधार पर उनके अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकते। मनस् या आत्मा ही इस चराचर विश्व की आधारभूत सत्ता है जिसके द्वारा विश्व के समस्त पदार्थों की व्याख्या की जा सकती है ; इस (अर्थात् मनस्) का अस्तित्व स्वीकार किये बिना हम विश्व की किसी भी घटना या पदार्थ के मूल स्वरूप को समझ ही नहीं सकते। अध्यात्मवाद के एकदम विपरीत वस्तुस्वातन्त्र्यवाद यह प्रतिपादित करता है कि बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का हमारे ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् उनका होना न होना हमारे ज्ञान पर आश्रित कदापि नहीं है। हमारा मनस् जगत् के पदार्थों को जाने या न जाने, मनस् से सर्वथा स्वतन्त्र निश्चित रूप से उनका अस्तित्व है ही। उदाहरण के रूप में कुछ शताब्दियों पूर्व एशिया तथा यूरोप के लोगों को एमेरिका महाद्वीप का ज्ञान नहीं था, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय एमेरिका का अस्तित्व था ही नहीं और उसकी खोज हो जाने के पश्चात् ही वह अस्तित्व में आया है। वास्तविकता यह है कि एमेरिका का अस्तित्व तो पहले से ही था, केवल पूर्वकाल में उसका ज्ञात नहीं था, कुछ काल के पश्चात् उसका ज्ञान हो गया।

(2) अध्यात्मवाद प्रतिपादित करता है कि पदार्थों में दीखने वाले गुण (Qualities) वस्तुतः पदार्थ में विद्यमान नहीं हैं, हमारा मनस् ही पदार्थों में गुणों की कल्पना कर लेता है। इसके विरुद्ध वस्तुस्वातन्त्र्यवाद की मान्यता है कि गुण बाह्य पदार्थों में वास्तविक रूप से विद्यमान हैं, वे उन पदार्थों के ही अंग हैं; हमारा मनस् स्वयं उनकी कल्पना नहीं करता। अध्यात्मवादियों का कथन है कि बाह्य वस्तुएँ क्योंकि गुण-समूहों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं और गुण हमारी मानसिक कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं , अतः सिद्ध होता है कि बाह्य वस्तुएँ मनस् पर ही आधारित हैं, उनका स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं। दूसरी ओर वस्तुस्वातन्त्र्यवादियों का मत है कि गुण क्योंकि सत्य हैं कल्पना नहीं, अतः गुणों के संघातरूपी पदार्थ भी सत्य ही हैं कल्पना नहीं।

(3) वस्तुस्वातन्त्र्यवादियों का कथन है कि जब बाह्य वस्तुओं का हमारी ज्ञानेन्द्रियों से संपर्क होता है तब वे वस्तुएँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमारे मनस् में कुछ संवेदनायें उत्पन्न करती हैं। इन संवेदनाओं के द्वारा ही हमें वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। अतः, सिद्ध होता है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व है; क्योंकि यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न हो तो न ही उनकी संवेदनायें उत्पन्न हो सकती हैं और न ही उनका प्रत्यक्ष। अध्यात्मवादी विचारक इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि संवेदनाओं या संवित्तियों की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हो। स्वप्नावस्था में भी संवित्तियाँ होती हैं, किन्तु इससे वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

(4) अध्यात्मवादी दार्शनिकों के मतानुसार वस्तुएँ जैसी प्रतीत होती हैं वैसी नहीं है, क्योंकि हमें उनका केवल परोक्ष (indirect) ज्ञान होता है अपरोक्ष (direct) ज्ञान नहीं। इसके विपरीत वस्तुस्वातन्त्र्यवादी दार्शनिकों का कहना है कि वस्तुएँ जैसी दिखाई पड़ती हैं वे वस्तुतः वैसी ही हैं।

(5) अध्यात्मवाद का कहना है कि सभी लोगों को एक ही वस्तु दृष्ट नहीं होती। भिन्न भिन्न व्यक्ति उस वस्तु के स्थान पर भिन्न भिन्न वस्तुओं को देखते हैं, यह बात अवश्य है कि वे वस्तुएँ समान रूप की होती हैं। उदाहरण के रूप में जब एक भवन की ओर बहुत से व्यक्ति देखते हैं तब उसमें प्रत्येक व्यक्ति को उस भवन की केवल व्यक्तिगत धारणा का ही दर्शन होता है, जिससे निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को पृथक् पृथक् भवन का दर्शन होता है एक ही भवन का नहीं। यह बात अवश्य है कि इन भवनों में बहुत अधिक समानता रहती है जिससे लोगों को यह भ्रम होता है कि वे सब एक ही भवन को देख रहे हैं, यद्यपि यह वास्तविकता नहीं होती। इसके विरुद्ध वस्तुस्वातन्त्र्यवाद का मत है कि सभी व्यक्तियों को एक ही वस्तु दृष्ट होती है, भिन्न भिन्न व्यक्ति एक वस्तु के स्थान पर भिन्न भिन्न वस्तुओं को नहीं देखते। पुनः समान वस्तुओं का दीखना एक ही वस्तु का दीखना कदापि नहीं कहा जा सकता।

(6) अध्यात्मवाद आत्ममुखी प्रवणता (Egocentric Predicament) का समर्थक है। इसकी मान्यता है कि मनुष्य ही सम्पूर्ण विश्व का केन्द्र है। विश्व की सारी घटनायें मनुष्य को लक्षित करके ही घटित हो रही हैं अन्यथा नहीं। वस्तुस्वातन्त्र्यवाद इसका विरोध करता है। वह मनुष्य को इतना महत्व प्रदान नहीं करता। उसका कथन है कि मनुष्य को विश्व का केन्द्र मानना विश्व के समग्र रूप को न समझना है।

(7) अध्यात्मवादी विचारक विश्व की प्रयोजनवादी व्याख्या करते हैं।

उनका मत है कि विश्व में सभी स्तरों पर एक व्यवस्था और क्रम का दर्शन होता है। यह इस बात का द्योतक है कि प्रत्येक घटना एक विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए घटित हो रही है। हम देखते हैं कि विकास-क्रम में प्रत्येक पहिला स्तर आगे आने वाले स्तर की मानों तैय्यारी होता है, अर्थात् वह उस आगामी स्तर के लिए आवश्यक साधन होता है। जड़-तत्व से वनस्पति का विकास, वनस्पति से जीव की उत्पत्ति और जीव से चेतन का आविर्भाव, ये सभी बातें इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। इसके पूर्णतया विपरीत वस्तुस्वातन्त्र्यवादियों की विचारधारा है। ये विश्व की यान्त्रिक व्याख्या के पोषक हैं। इनका मत है कि संसार के घटना-क्रम में कोई प्रयोजन या उद्देश्य निहित नहीं है। संसार की सारी घटनायें उसी प्रकार घटित हो रही हैं जैसे किसी यन्त्र की क्रियायें प्रक्रियायें। जैसे यन्त्र की क्रियायें पूर्णतया नियंत्रित होती हैं वैसे ही जगत् का घटना-क्रम भी पूर्ण रूप से नियंत्रित है; दोनों में समान रूप से ही प्रयोजन का अभाव है।

(8) अध्यात्मवाद जीवन के उच्चतर मूल्यों (Higher values) की प्राप्ति पर बल देता है। उसके अनुसार मनुष्य जीवन का उद्देश्य निम्न मूल्यों (अर्थात् भौतिक मूल्यों) की प्राप्ति नहीं है, प्रत्युत उच्चतर मूल्यों (अर्थात् आध्यात्मिक मूल्यों) की प्राप्ति है। जीवन के निम्न या भौतिक मूल्य हैं : दैहिक, आर्थिक मूल्य आदि, और आध्यात्मिक मूल्य हैं : सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम्। अस्तु, वह (अध्यात्मवाद) सत्य, शिव और सुन्दर को ही जीवन की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियाँ प्रतिपादित करता है। इसके एकदम विपरीत वस्तुस्वातन्त्र्यवाद, भौतिकवाद के सदृश, केवल भौतिक मूल्यों की प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का लक्ष्य मानता है। उसके अनुसार मनुष्य जीवन की सफलता दैहिक, आर्थिक अथवा सामाजिक मूल्यों की प्राप्ति में ही निहित है, यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है और इसी में जीवन की इति श्री है।

उपसंहार

अध्यात्मवाद और वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध का जो विवेचन ऊपर किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि इन दोनों वादों में जगत् और जीवन के विभिन्न पक्षों के विषय में बहुत अधिक विरोध है। यद्यपि भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से दोनों का अपना अपना महत्व है, दोनों के अपने अपने दोष और गुण हैं; तथापि यदि सर्वांगीन दृष्टि से विचार किया जाय तो हमारा विनम्र मत है कि अध्यात्मवाद वस्तुस्वातन्त्र्यवाद से अधिक उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित है। विचारों की परिपक्वता, तर्क तथा युक्तियों की गरिमा और दार्शनिक दृष्टिकोण की व्यापकता की दृष्टि से पहिला दूसरे से अधिक श्रेष्ठ है। चिन्तन की उच्चता के साथ साथ अध्यात्मवाद की

सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह मानव जीवन के उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति पर बहुत बल देता है। संसार के असंख्य दुखों से घिरे हुए मानव को यह एक आशा की किरण प्रदान करता है और जीवन के वास्तविक उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने में उसका मार्ग-दर्शन करता है। यह मनुष्य में एक अविचल विश्वास उत्पन्न करता है कि वह जीवन के निम्न आदर्शों के त्याग और उच्च आदर्शों की प्राप्ति में पूर्ण सक्षम है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. प्रत्ययवाद के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त एवं समीक्षात्मक वर्णन कीजिए ।
   Give a brief and critical account of the different kinds of Idealism.
2. बर्कले द्वारा प्रतिपादित आत्मगत प्रत्ययवाद की विवेचना कीजिए ।
   Examine critically the Subjective Idealism of Berkeley.
3. आत्मगत प्रत्ययवाद क्या है ? उसका वस्तुगत प्रत्ययवाद से अन्तर बतलाइये ।
   What is Subjective Idealism ? Distinguish it from Objective Idealism.
4. निरपेक्ष विज्ञानवाद से आप क्या समझते हैं ? वह आत्मगत विज्ञानवाद से किस प्रकार भिन्न है ?
   What do you understand by Absolute Idealism ? Show how it is different from Subjective Idealism.
5. हीगेल के प्रत्ययवादी सिद्धान्त का विशद् वर्णन कीजिए ।
   Discuss thoroughly the Idealistic Theory of Hegel.
6. अध्यात्मवाद और वस्तुस्वातन्त्र्यवाद के मौलिक सिद्धान्तों की तुलना कीजिये ।
   Compare the basic stand-points of Idealism and Realism.

दशम अध्याय

आत्मा या मनस्

(Self or Mind)

दार्शनिकों में आत्मा के स्वरूप और उसके अस्तित्व के विषय में पर्याप्त मत-भेद देखने में आता है। कुछ दार्शनिकों ने यदि इसे 'द्रव्य' (substance) के रूप में समझा है तो दूसरों ने यह कहा है कि आत्मा विभिन्न संवेदनाओं या विचारों के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है, और कुछ अन्य विचारकों ने यह मत भी प्रकट किया है कि आत्मा अनेक मानसिक अवस्थाओं से परे उनकी स्थायी पृष्ठभूमि एवं आधार है। आत्मा सम्बन्धी इन अनेक विचार-धाराओं में हम यहाँ केवल तीन दार्शनिकों, डैकार्टे, ह्यूम और काण्ट के सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे, जिनका आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में विशेष महत्व है।

इस स्थान पर एक बात का स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है वह यह कि जहाँ भारतीय दर्शन में सर्वदा 'आत्मा' और मनस् को पृथक् पृथक् माना गया है वहाँ पाश्चात्य दर्शन में इन दोनों को एक ही समझा गया है। भारतीय दर्शन मनस् को सामान्यतया एक अन्त:-इन्द्रिय (Internal organ) के रूप में प्रतिपादित करता है और कहता है कि इस अन्त:-इन्द्रिय के द्वारा आत्मा सुख दु:ख का उपभोग करता है। इससे सर्वथा भिन्न, पाश्चात्य दर्शन की यह मान्यता है कि जो मनस् है वही आत्मा है; वह इन दोनों शब्दों ('मनस्' और 'आत्मा') को सदा ही पर्य्यायवाची अर्थों में प्रयोग करता है।

डैकार्टे का मत

(View of Descartes)

पाश्चात्य दर्शन के जनक रैने डैकार्टे ने आधुनिक युग में प्लैटो तथा अरस्तू के आत्म-द्रव्य सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया है। उन्हों (डैकार्टे) ने आत्मा को एक

आध्यात्मिक द्रव्य (Spiritual substance) के रूप में माना है और यह कहा है कि इसका स्वाभाविक गुण (essential attribute) चिन्तन अथवा चेतना है। उनके अनुसार आत्मा या मनस् कभी चेतना के बिना नहीं रह सकता और न ही चेतना कभी आत्मा या मनस् के बिना रह सकती है। परन्तु इससे हमें उनके सिद्धान्त में चेतना को आत्मा का स्वरूप नहीं समझ लेना चाहिए। चेतना (जैसा कि ऊपर बताया गया है) आत्मा का स्वाभाविक गुण अवश्य है किन्तु उसका स्वरूप नहीं।

1. डैकाट का द्वितत्ववाद

डैकार्टे द्वितत्ववाद के महान् प्रतिपादकों की श्रेणी में हैं। वह पुद्गल तथा मनस् अथवा आत्मा को इस विश्व की दो आधारभूत सत्तायें मानते हैं। उनके अनुसार यही दो सत्तायें विश्व के मूल द्रव्य (fundamental substances) हैं जिनसे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। परन्तु इनके गुण एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। पुद्गल प्रसारित, निर्जीव, विभाज्य तथा अचेतन है; और मनस् अप्रसारित, क्रियाशील, अविभाज्य तथा चेतन है। पुद्गल का कार्य यांत्रिक नियमों के अधीन चलता है; परन्तु मनस् के कार्य सप्रयोजन होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि डैकार्टे के द्वितत्ववाद के अन्तर्गत ही उनका आत्मा का सिद्धान्त भी निहित है।

2. आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण

डैकार्टे अपने दर्शन का प्रारम्भ सन्देह से करते हैं। वह संसार की सभी वस्तुओं, मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को सन्देह की दृष्टि से अवलोकन करते हैं, और उस समय तक किसी को सत्य स्वीकार नहीं करते जब तक कि वह ठोस बौद्धिक प्रमाणों पर आधारित न हो। उनकी इस व्यापक सन्देह-प्रक्रिया रूपी खोज में उन्हें सर्व प्रथम इस सत्य के दर्शन होते हैं कि 'सन्देह का अस्तित्व अवश्य है'। सन्देह एक प्रकार की चिन्तन की प्रक्रिया है। अस्तु जब सन्देह का अस्तित्व है, तो चिन्तन का अस्तित्व भी अवश्य है। और यदि सन्देह अथवा चिन्तन का अस्तत्व है, तो सन्देह अथवा चिन्तन करने वाले का भी अस्तित्व है। इस सन्देहकर्ता या चिन्तनकर्ता का अस्तित्व स्वयं सन्देह क्रिया से ही सिद्ध हो जाता है ; और चिन्तनकर्ता मनस् या आत्मा का ही तो दूसरा नाम है। अस्तु, डैकार्टे निश्चित करते हैं कि हम विश्व की अन्य सभी वस्तुओं में सन्देह कर सकते हैं परन्तु आत्मा के विषय में सन्देह नहीं कर सकते, क्योंकि सन्देह स्वयं आत्मा (या सन्देह-कर्ता) के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है "Cogito ergo sum" ("चिन्तये अतोऽस्मि") अर्थात् "मैं विचार करता हूँ (या सन्देह करता हूँ), अतः मैं हूँ"।

इस स्थान पर हमें यह स्मरण रखना होगा कि डैकार्टे की यह उक्ति "मैं विचार करता हूँ अतः मैं हूँ" कोई निम्नलिखित प्रकार का न्याय-वाक्य (Syllogism) नहीं है : "सब विचार करने वाले प्राणियों का अस्तित्व है ; मैं एक विचार करने वाला प्राणी हूँ ; अतः मेरा अस्तित्व है"। इस प्रकार के न्याय-वाक्य में आत्माश्रय (Petitio principii) का दोष है, क्योंकि यहाँ साध्य-आधारवाक्य (Major Premise) की सत्यता में ही निष्कर्ष की सत्यता निहित है। वास्तविकता यह है कि "मैं विचार करता हूं," यह एक विश्लेषणात्मक तर्क-वाक्य (Analytical proposition) है। इस वाक्य में डैकार्टे का अभिप्राय यह है कि हमारी विचार प्रक्रिया में ही हमारे आत्मा का अस्तित्व निहित है। क्योंकि विचार-प्रक्रिया या चेतना ही आत्मा का सार-तत्व है और आत्मा चेतना विहीन कभी नहीं होता, अतः विचार प्रक्रिया से आत्मा के अस्तित्व का सहज-ज्ञान (intuition) हो जाता है। इस सन्दर्भ में वीट्श (Veitch) ठीक ही कहते हैं कि "The reality of the 'I' or 'Ego' of Descartes is imseperably bound up with the fact of the definite act of consciousness." (अर्थात् "डैकार्टे के 'मैं' अथवा 'अहं' की सत्ता चेतना की निश्चित क्रिया के तथ्य के साथ अपृथक रूप से सम्बद्ध है।"

3. आत्मा का स्वरूप

आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के पश्चात् डैकार्ट उसके स्वरूप का निर्णय करने के लिए आगे बढ़ते हैं। उनका कथन है कि आत्मा का क्या स्वरूप है इसका संकेत आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण में ही अन्तर्निहित है। आत्मा की सत्ता चेतना की क्रिया के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध (related) होने के कारण यह स्पष्ट ही है कि आत्मा का मौलिक गुण (जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है) चेतना है। आत्मा के स्वरूप के विषय में वह आगे बताते हैं कि यह एक ऐसा द्रव्य है जो अप्रसारित, अभौतिक (non-physical), अविभाज्य, सक्रिय, सरल (simple) शाश्वत तथा स्वतन्त्र है। यह यांत्रिक नियमों के अधीन नहीं है ; इसके कार्य सोद्देश्य (pusposive) होते हैं। यह देश और काल से भी परे है। जानना, भावना होना तथा इच्छा या संकल्प करना इसकी मौलिक क्रियायें हैं।

4. आत्मा का आधार

आत्मा का क्या आधार है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डैकार्टे कहते हैं कि यद्यपि आत्मा अप्रसारित, अभौतिक, सरल एवं स्वतन्त्र है, तथापि उसका एक मुख्य आधार है, जो पीनियल ग्रन्थि (Pineal gland) के नाम से जाना जाता है। इस प्रसंग में उनके अपने शब्द ये हैं : "Let us then conceive here

that the soul has its principal seat in the little gland which exists in the middle of the brain, from whence it radiates forth through all the remainder of the body." (अर्थात् "तब हमें यह समझना चाहिए कि आत्मा का मुख्य आधार वह छोटी ग्रन्थि है जो मस्तिष्क के मध्य में विद्यमान है, जहाँ से वह सम्पूर्ण शेष शरीर में (प्रकाशित) होती है"।)। आत्मा का आधार पीनियल ग्रन्थि में बताकर डैकार्टे ने मनस् और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की चिरकालीन समस्या का भी समाधान करने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि यद्यपि मनस् और शरीर स्वभाव में एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं; तथापि पीनियल ग्रन्थि के द्वारा दोनों में परस्पर क्रियायें प्रतिक्रियायें हुआ करती हैं। पीनियल ग्रन्थि में यदि मनस् या आत्मा का आधार न होता, तो एकदम विपरीत स्वभाव वाले दो द्रव्यों, मनस् और शरीर, में परस्पर सम्बन्ध होना कदापि सम्भव नहीं था।

समालोचना

(1) जब हम डैकार्टे के आत्मा के सिद्धान्त का गम्भीरतापूर्वक अवलोकन करते हैं, तो हम यह तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं कि जो प्रमाण उन्होंने आत्मा के अस्तित्व के विषय में दिया है वह वस्तुतः अकाट्य है। आचार्य शंकर और काण्ट जैसे महान् दार्शनिकों ने भी प्रायः इसी प्रकार आत्म-सिद्धि की है। परन्तु आत्मा के स्वरूप के विषय में डैकार्टे ने जो तर्क दिया है वह दोषयुक्त है। 'मैं विचार करता हूँ'– इससे यह निष्कर्ष तो अवश्य निकलता है कि 'मैं हूँ', परन्तु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता (जैसा कि डैकार्टे ने प्रयत्न किया है) कि 'मैं द्रव्य हूँ'। वास्तविकता यह है कि डैकार्टे ने आत्मा को द्रव्य बताकर भारी भूल की है क्योंकि ऐसा मानने में उनके पास कोई ठोस तर्क ही नहीं है।

(2) अनुभववादी दार्शनिक डैविड ह्यूम ने भी डैकार्टे के आत्म-द्रव्य सिद्धान्त (Soul–substance theory) की कड़ी आलोचना की है। ह्यूम का कथन है कि जब हम अन्तर्दर्शन द्वारा आत्मनिरीक्षण करने का प्रयत्न करते हैं तो हमें केवल किसी विचार भाव, या संकल्प विशेष की अनुभूति होती है। इसके अतिरिक्त हमें किसी भी ऐसे द्रव्य की अनुभूति नहीं होती जिसे आत्मा की संज्ञा दी जाती है। उनके अनुसार, अनुभव से किसी भी अभौतिक, अविभाज्य तथा शाश्वत आत्म-द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध ही नहीं होता; अतः ऐसे तत्व में विश्वास रखना पूर्णतया असंगत है।

(3) आत्म-द्रव्य के सिद्धान्त के विषय में जर्मन दार्शनिक काण्ट की बड़ी महत्वपूर्ण आलोचना है। काण्ट कहते हैं कि आत्मा सदैव ज्ञाता के रूप में विद्यमान रहता है, वह ज्ञेय कभी नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होने

पर अन्य पदार्थों की भाँति वह भी एक ज्ञेय पदार्थ हो जायेगा, और जो ज्ञेय है वह ज्ञाता (अर्थात् वास्तविक आत्मा) कभी नहीं हो सकता। आत्मा को द्रव्य मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि इस सिद्धांत में आत्मा को अन्य पदार्थों के सदृश एक पदार्थ मान लेते हैं। परन्तु जो ज्ञान का विषय है अर्थात् ज्ञेय है वह ज्ञाता कैसे हो सकता है ? अत: आत्मा को अन्य पदार्थों के समान एक पदार्थ मानना (अर्थात् द्रव्य मानना) कदापि उपयुक्त नहीं है।

(4) हमने ऊपर बताया है कि डैकार्टे आत्मा या मनस् को जड़-तत्व से सर्वथा भिन्न एवं विपरीत स्वभाव वाला मानते हैं। इसके फलस्वरूप उनके सम्मुख आत्मा और शरीर के पारस्परिक सम्बन्ध की वही पुरातन समस्या उठ खड़ी होती है जो उनके सभी पूर्ववर्ती द्वैतवादी दार्शनिकों के लिए एक सरदर्द बनी रही थी। अन्य द्वैतवादियों के सदृश उनके पास भी इस समस्या का कोई उचित समाधान नहीं है। यदि आत्मा और शरीर (जो जड़-तत्व का अंश है) स्वभाव में एक दूसरे के पूर्णतया विपरीत हैं तो इनमें परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया का होना कदापि सम्भव नहीं है, जिसका हम लोगों को नित्य निरन्तर अनुभव हुआ करता है।

(5) डैकार्टे का यह सिद्धान्त कि आत्मा का मुख्य आधार पीनियल ग्रन्थि है जो मस्तिष्क के मध्य में स्थित है उनके बताये हुए आत्मा के गुणों से मेल नहीं खाता। एक ओर वह आत्मा को अभौतिक, अप्रसारित एवं स्वतन्त्र मानते हैं और दूसरी ओर पीनियल ग्रन्थि उसका आवास बताते हैं। यह समझ में नहीं आता कि अभौतिक, अप्रसारित एवं स्वतन्त्र आत्मा किस प्रकार पीनियल ग्रंथि में स्थित रह सकता है। अपने सिद्धान्त के इस (self-contradiction) को एक स्थान पर डैकार्टे स्वयं अनुभव करते हैं और कहते हैं: "The soul is really joined to the whole body, and we cannot, properly speaking, say that it exists in any one of its parts to the exclusion of others, because it is one and in the same manner indivisible." (अर्थात् "आत्मा वस्तुत: सम्पूर्ण शरीर से संयुक्त है और हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि यह अन्य भागों को छोड़कर किसी एक ही भाग में विद्यमान रहती है, क्योंकि यह एक है और उसी प्रकार अविभाज्य भी"।)।

ह्यूम का मत
(View of Hume)

हम ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी एक आगामी अध्याय में देखेंगे कि ब्रिटिश अनुभववादी परम्परा में ह्यूम ने अनुभववाद को उसकी चरम सीमा पर पहुँचा

दिया था। वह विशुद्ध अनुभववादी थे और किसी भी ऐसी वस्तु के अस्तित्व को मानने को प्रस्तुत नहीं थे जिसका इन्द्रियानुभव न हो सके। उनका मत है कि इन्द्रियों के प्रत्यक्ष से परे अमूर्त तत्वों के अस्तित्व में आस्था रखना हमारे अन्ध विश्वास का परिचायक है। आत्मा के अस्तित्व के विषय में भी वह यही घोषित करते हैं कि उसका क्योंकि हमें अनुभव नहीं होता, अतः उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करने का हमारा कोई अधिकार नहीं है।

1. बर्कले पर पक्षपात का आरोप

ह्यूम के पूर्ववर्ती आइरिश दार्शनिक बर्कले ने अनुभववाद के आधार पर जड़-द्रव्य या जड़तत्व के अस्तित्व का खण्डन किया था। उनका इस सम्बन्ध में यह तर्क था कि सामान्य लोगों की यह धारणा रहती है कि इन्द्रियों के द्वारा हम बाह्य वस्तुओं के जो गुण देखते हैं उनका कोई न कोई आधार अवश्य होना चाहिए। इस आधार का वे लोग द्रव्य नाम दे देते हैं, यद्यपि उन्हें इसका कोई इन्द्रियानुभव नहीं होता। इसी सामान्य धारणा के आधार पर लॉक ने बाह्य जड़ वस्तुओं के अस्तित्व का प्रतिपादन किया था। बर्कले ने जनसामान्य एवं लॉक के इस विचार का खण्डन किया। उन्होंने कहा कि हमें केवल प्राथमिक एवं गौण गुणों का प्रत्यक्ष होता है, उनके किसी आधार का अनुभव ही नहीं होता ; अतः इस आधार (अर्थात् जड़-तत्व) का अस्तित्व मानना युक्तिसंगत नहीं है। डैविड ह्यूम ने बर्कले के इस विचार का पूर्ण समर्थन किया ; परन्तु साथ ही साथ उन्होंने बर्कले पर पक्षपात का आरोप लगाया। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार हमें गुणों के आधार-स्वरूप किसी जड़द्रव्य का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार हमें अपने अन्दर आत्म-द्रव्य का भी कोई अनुभव नहीं होता। अतः बर्कले का अनुभव के आधार पर जड़-द्रव्य के अस्तित्व को न मानना और उसी अनुभव के आधार पर आत्म-द्रव्य को मानना उनके भारी पक्षपात एवं अन्धविश्वास का परिचायक है।

2. अनुभव के आधार पर आत्म-तत्व के अस्तित्व का खण्डन

यद्यपि बर्कले अनुभववादी थे तो भी उन्होंने आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है ; क्योंकि उनका मत है कि हमें आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति होती है। ह्यूम बर्कले के इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं, "कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो यह कल्पना करते हैं कि हमें अपने आत्म-तत्व की प्रतिक्षण अनुभूति होती रहती है। वे दार्शनिक आत्मा की पूर्ण सरलता (Simplicity) तथा कूटस्थता (Identity) में विश्वास रखते हैं। ....जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, जब मैं आत्मा को देखने के लिए अपने अन्दर प्रवेश करता हूँ (अर्थात् अपनी मनोवृत्तियों का निरीक्षण करता हूँ) तब मैं किसी न किसी विशेष संवेदन या विज्ञान से टकरा कर रह जाता

हूं, चाहें वह संवेदन उष्णता का हो या शीत का, प्रकाश का हो या छाया का, प्रेम का हो या घृणा का, दुख का हो या सुख का, या किसी और प्रकार का। बिना किसी संवेदन या विज्ञान के मैं कभी भी स्वयं को नहीं पकड़ पाता और न ही संवेदन या विज्ञान के अतिरिक्त मुझे किसी अन्य वस्तु की अनुभूति होती है। जब ये अनुभूतियाँ मुझमें नहीं रहतीं, जैसे गाढ़ निद्रा में, तब मुझे अपने आत्मा का कोई अनुभव नहीं होता और उस समय वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि मेरा अस्तित्व है ही नहीं। यदि मृत्यु मेरी इन अनुभूतियों को सदा के लिए मिटा दे, तो मुझे पूर्ण असत् (non-entity) बनाने के लिए और किसी बात की आवश्यकता न होगी।"[1] वह (ह्यूम) पुनः घोषित करते हैं "यदि किसी अन्य व्यक्ति को गम्भीर और निष्पक्ष रूप से विचार करने पर भी अपने आत्मा का उससे भिन्न अनुभव होता है तो मैं स्वीकार करता हूं कि मैं उससे तर्क नहीं कर सकता। अपने विषय में मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मुझमें कोई आत्म-तत्व नहीं है। आत्मा का अस्तित्व मानने वाले कुछ दार्शनिकों को छोड़कर और सब लोगों के लिए मैं यह कहने का साहस कर सकता हूं कि वे लोग उन विभिन्न संवेदनों के पुञ्ज के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं जो अकल्पनीय बेग से एक दूसरे के पीछे आते रहते हैं और जिनके परिवर्तन की धारा निरन्तर प्रवाहित रहती है[2]"।

3. विभिन्न संवेदनाओं का पुञ्ज ही आत्मा है

इस प्रकार हम देखते हैं कि, ह्यूम के अनुसार, आत्मा को सरल एवं कूटस्थ तत्व के रूप में प्रमाणित नहीं किया जा सकता। आत्मा एक नहीं वरन् विभिन्न मानसिक क्रियाओं का एक समूह मात्र है: वह क्षणिक संवेदनाओं या विज्ञानों के प्रवाह के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इस विषय में उन के अपने शब्द हैं — "What we call a 'mind' is nothing but a heap or collection of different perceptions united together by certain relations, and supposed, though falsely, to be endowed with a perfect simplicity and identity." (अर्थात् "जिसे हम 'मनस्' कहते हैं वह विभिन्न प्रत्यक्षों की राशि या समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो कतिपय सम्बन्धों के द्वारा एक साथ संयुक्त कर दिए गए हैं और जो, यद्यपि भ्रामक रूप से, पूर्ण सरलता एवं तदात्मता से सम्पन्न मान लिए गए हैं।")। ('Treatise of Human Nature' by David Hume.')। दूसरे स्थान पर इसी पुस्तक में वह (ह्यूम) कहते हैं, "Men

1. "Treatise of Human Nature," Book I.
2. "Treatise of Human Nature," Book I.

are nothing but a bundle or collection of different perceptions, which succeed each other with inconceivable rapidity, and are in a perpetual flux and movement." (अर्थात् "मनुष्य विभिन्न प्रत्यक्षों की गठरी या समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, जो अचिन्त्य द्रुतगति से एक के अनन्तर एक आते जाते हैं और जो सतत् प्रवाह एवं गति की स्थिति में रहते हैं।") ।

डैविड ह्यूम के सम्मुख यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है — भिन्न भिन्न संवेदनों या विज्ञानों को एक साथ बांधने का कार्य कौन करता है ? उत्तर में वह कहते हैं कि साहचर्य्य के नियमों (Laws of Association) के द्वारा यह कार्य किया जाता है। दूसरा प्रश्न उनके सामने यह आता है कि विभिन्न संवित्तियों का ज्ञाता कौन है ? उत्तर में वह कहते हैं कि संवित्ति या विज्ञान की किसी अन्य अनुभवकर्त्ता की आवश्यकता ही नहीं है, वह स्वयं ही अपना अनुभव करता है। साथ ही एक और महत्वपूर्ण प्रश्न पर डैविड ह्यूम को विचार करना होता है : जब आत्मा परिवर्तनशील संवित्तियों का पुञ्ज मात्र है तो हमें उसकी एकता का भ्रम क्यों होता है ? इसके उत्तर में वह कहते हैं कि किसी प्रकार के तीव्र और अनवच्छिन्न प्रवाह में एकता एवं नित्यता का भ्रम स्वाभाविक है। इस तथ्य को नदी या सिनेमा के चित्रपट के उदाहरणों से भली प्रकार समझा जा सकता है। जिसे हम नदी करतें हैं वह केवल भिन्न-भिन्न जल कणों का समूह मात्र है जो अत्यन्त तीव्र गति के साथ अनवच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रहे हैं और हममें नदी की एकता एवं नित्यता का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। वास्तविकता यह है कि एक नदी किन्हीं भी दो क्षणों में ठीक एक ही नदी नहीं होती, क्योंकि उसके जलकण तो प्रतिक्षण परिवर्तित (अर्थात् प्रवाहित) होते रहते हैं। इसी कारण तो यूनानी दार्शनिक हिराक्लीट्स (Heraclitus) ने कहा था, "No one can step in to a river twice" (अर्थात् "कोई भी व्यक्ति एक ही नदी में दो बार पग नहीं रख सकता") । इसी प्रकार सिनेमा के चित्रपट पर जब हमें एक स्थाई पात्र का आभास होता है तो वह केवल एक ही पात्रके अनेक समान (Similar) चित्रों का समूह मात्र होता है। ये समान चित्र बड़े वेग तथा अटूट अनुक्रम के साथ हमारे सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं और हममें एक स्थाई पात्र का भ्रम उत्पन्न कर देते हैं।

4. ह्यूम के आत्मा के सिद्धांत से कुछ अन्य आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्तों की तुलना

डैविड ह्यूम के आत्मा के सिद्धान्त से बौद्धों के आत्मा के सिद्धान्त का बहुत अधिक सादृश्य है। ह्यूम के समान बौद्ध दार्शनिकों ने भी आत्मा को क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली विज्ञप्तियों का समूह मात्र माना है। वे भी आत्मा को सरल, कूटस्थ एवं एकरस सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते। आधुनिक पश्चिमी दर्शन

में जे० एस० मिल तथा विलियम जेम्स के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त पर्याप्त मात्रा में ह्‌यूम के सिद्धान्त के निकट आते हैं, परन्तु यह ज्ञातव्य है कि कुछ अंशों में उनका ह्‌यूम से मतभेद भी है। मिल का कथन है कि आत्मा संवित्तियों तथा आन्तरिक भावों (internal feelings) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह मानसिक अवस्थाओं का क्रम (series of mental states) मात्र है जिसकी एक मानसिक अवस्था दूसरो मानसिक अवस्था की ज्ञाता है। विलियम जेम्स कहते हैं कि आत्मा या मनस् 'चेतना का प्रवाह' (stream of consciousness) है। इससे उनका अर्थ यह है कि आत्मा जो चेतना रूप है विविक्त (distinct) एवं असम्बद्ध मानसिक अवस्थाओं का क्रम होने के स्थान पर एक अविच्छिन्न प्रवाह है; यह पृथक् इकाइयों में विभक्त नहीं होता जैसे कि ह्‌यूम के आत्मा के प्रत्यय (concept) से प्रकट होता है। ह्‌यूम संवित्तियों तथा विज्ञानों को (जैसा कि हमने ऊपर बताया है) विविक्त तथा असम्बद्ध मानते हैं जो साहचर्य्य के नियमों के अनुसार एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। परन्तु, जेम्स के मतानुसार ये (विभिन्न संवित्तियाँ तथा विज्ञान) एक दूसरे में प्रवाहमान होकर एक अजस्र, 'चेतना का प्रवाह' बनाते हैं। पुनः, जेम्स का कथन है कि हमारे आने जाने वाले 'विचार' ही 'विचारक हैं। "The passing thought is the only thinker," (William Jamses)। इन विचारों के अतिरिक्त कोई दूसरा विचारक है ही नहीं।

आलोचना

(1) डैविड ह्यूम के सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह अमूर्त्त अनुभूतियों का मूर्तिकरण कर देते हैं। वह विचारों और अनुभूतियों के स्वतंत्र अस्तित्व की कल्पना करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रत्येक संवित्ति या मानसिक क्रिया किसी न किसी आत्मा या मनस् की संबित्ति या क्रिया अवश्य होती है; आत्मा या मनस् से पृथक् उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। एक ऐसी अनुभूति जो न आपकी हो, न मेरी हो और न किसी और की हो कोरी कल्पना ही है जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं। जेम्स का भी यह मत कि विचार ही स्वयं विचारक है सर्वथा असमीचीन है क्योंकि यह हमारे अनुभव के एकदम विरुद्ध है।

(2) ह्यूम के सिद्धान्त में आत्म-चेतना (self–consciousness) के तथ्य की व्याख्या भी नहीं की जा सकती, जो हमारे आत्मा या मनस् का मौलिक गुण है। उनके मतानुसार आत्मा पृथक् पृथक् संवित्तियों का समुदाय अथवा क्रम है जिसमें संवित्तियाँ आगे और पीछे रहती हैं। ऐसी स्थिति में एक संवित्ति को दूसरी संवित्ति का ज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि अगली संवित्ति के उदय होने से पूर्व ही पहली संवित्ति लूप्त हो जाती है। पुनः संवित्तियों के क्रम का अनुभव, इस मत में, कैसे

सम्भव है ? क्रम या समुदाय का अनुभव क्षण क्षण विलीन हो जाने वाली संवित्तियां कैसे कर सकती हैं ? इस प्रकार का अनुभव तो केवल एक स्थाई आत्मा ही कर सकता है ।

(3) स्मृति की व्याख्या भी इस सिद्धान्त में नहीं की जा सकती । जब कि आत्मा क्षण-क्षण परिवर्तित हो जाने वाली संवित्तियों का क्रम मात्र है तो एक वर्तमान संवित्ति को भूतकाल की अन्य संवित्तियों का स्मरण कैसे हो सकता है? भूतकाल की संवित्तियाँ जिस समय घटित हुई थीं उस समय वर्तमान संवित्ति का अस्तित्व ही नहीं था; तब वर्तमान संवित्ति उन अतीत की बीती हुई संवित्तियों का स्मरण ही कैसे कर सकती है ?

(4) पुनः इस सिद्धान्त में वैय्यक्तिक तादात्म्य (Personal Identity) की व्याख्या करना भी सम्भव नहीं है । संसार में प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह जो अब से आठ या दस वर्ष पूर्व था वही आज भी है, भले ही उसके शरीर में कुछ परिवर्तन हो गये हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के वैय्यक्तिक तादात्म्य का अनुभव एक स्थाई आत्मा में ही हो सकता है क्षण-क्षण परिवर्तित हो जाने वाली संवित्तियों या विज्ञानों में कदापि नहीं ।

(5) हमने ऊपर देखा है कि डैविड ह्यूम ने साहचर्य्य के नियमों द्वारा पृथक् एवं स्वतंत्र अनुभूतियों के सम्बद्ध हो जाने का प्रतिपादन किया है। परन्तु विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि स्थाई आत्मा के अभाव में साहचर्य्य के नियमों का कार्य करना ही सम्भव नहीं है । उदाहरण के रूप में 'समानता के नियम' (Law of Similarity) को ही ले लीजिये । इस नियम के अनुसार जब हम किसी व्यक्ति का चित्र देखते हैं तो हमें अपने उस पूर्व अनुभव का स्मरण हो आता है जब हमने उस व्यक्ति को साक्षात देखा था । इस प्रकार चित्र देखने की अनुभूति उस व्यक्ति को साक्षात् देखने की अनुभूति सें सम्बद्ध हो जाती है । अब यह स्पष्ट ही है कि उक्त दोनों अनुभूतियों में सम्बन्ध तभी हो सकता है जब कि इनसे स्वतंत्र एक स्थाई आत्मा हो जो इनकी तुलना कर सके ।

(6) मनोवैज्ञनिक दृष्टि से भी ह्यूम का सिद्धान्त दोषपूर्ण है क्योंकि इसके आधार पर ज्ञान की प्रक्रिया सम्भव ही नहीं है । क्षणिक संवेदनायें स्वयं में अर्थहीन होती हैं; प्रत्यक्षीकरण द्वारा इन्हें अर्थ प्राप्त होता है । प्रत्यक्षीकरण की जटिल प्रक्रिया वर्त्तमान संवेदनाओं तथा पूर्व अनुभव के सामञ्जस्य पर आधारित है । इसमें संवेदनाओं का सदृशीकरण (assimilation), विवेकीकरण (discrimination) तथा संप्रत्यक्षण (apperception) आदि होता है । प्रत्यक्षीकरण के पश्चात् विभिन्न

प्रत्यक्षों में सम्बन्ध स्थापित करना होता है और तब ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ये सब जटिल प्रक्रियायें स्थाई आत्मा के अभाव में कदापि संभव नहीं हैं।

(7) काण्ट ने ह्यूम के इन्द्रियानुभवाश्रित आत्मा के सिद्धान्त में ज्ञानमीमांसा संबंधी इस दोष की ओर ध्यान दिलाया है कि इसमें ज्ञाता आत्मा को ज्ञेय के रूप में जानने का प्रयत्न किया गया है। ह्यूम का यह कथन कि जब वह अन्तर्दर्शन द्वारा अपने अन्तराल में झाँक कर आत्मा को देखना चाहते हैं तो उन्हें आत्मा का कोई अनुभव नहीं होता, पूर्णतया ठीक है। परन्तु इससे उनका यह निष्कर्ष निकालना कि आत्मा है ही नहीं कदापि युक्तियुक्त नहीं। उन्हें केवल इतना ही कहना चाहिए था कि आत्मा अनुभव का विषय नहीं बन सकता। वास्तविकता यह है कि ज्ञान की प्रत्येक क्रिया से ज्ञाता का अस्तित्व सिद्ध होता है। ह्यूम जब यह कहते हैं कि वह अपने अन्दर क्षणिक संवित्तियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाते, तब वह यह कैसे भूल जाते हैं कि क्षणिक संवित्तियों के ज्ञान से ही उनका ज्ञाता स्वयं सिद्ध हो जाता है। यह ज्ञाता ही तो आत्मा है जो हमारे सम्पूर्ण अनुभव में सर्वदा विषयी रूप में विद्यमान रहता है जिसे विषय रूप में कभी नहीं देखा जा सकता।

काण्ट का मत
(View of Kant)

जर्मन दार्शनिक काण्ट का आत्मा-विषयक सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में अपनी एक विशेष महत्ता रखता है। ज्ञान-प्रक्रिया की विशद समीक्षा कर आत्मा के अस्तित्व और उसके स्वरूप के विषय में जो मत उन्होंने उपस्थित किया है दर्शन के पाठकों के लिये वह एक अत्यधिक मूल्यवान निधि है। आत्मा के प्रत्यय का ह्यूम के संशयवाद से उद्धार कर उन्होंने दर्शनशास्त्र की अतुलनीय सेवा की है।

1. ज्ञान प्रक्रिया के विश्लेषर्ण द्वारा आत्मा की सिद्धि

ज्ञान-प्रक्रिया के विश्लेषण में काण्ट ने यह देखा कि हमें बाह्य वस्तुओं की जो संवेदनायें होती हैं उन पर सर्व-प्रथम हमारे मनस् की संवेदन-शक्ति देश और काल के आकार या रूप लागू करती है और उन्हें इस प्रकार दैशिक एवं कालिक व्यवस्था में बाँधकर सामान्य अनुभव की वस्तुओं का रूप प्रदान करती है। परन्तु काण्ट विचार करते हैं कि देश और काल की व्यवस्था में बंधी हुई संवेदनायें अर्थात् प्रत्यक्ष (percepts) अपने पृथक् रूप में ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकते। ज्ञानोदय के लिये विभिन्न प्रत्यक्षों में सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है। अतः उनके समक्ष प्रश्न उपस्थित होता है कि विभिन्न प्रत्यक्षों में सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है और कौन करता है ? वह बताते हैं कि मनस् की बोध-शक्ति के द्वारा विभिन्न प्रकारों या पद्धतियों से यह कार्य सम्पन्न होता है। इन प्रकारों या पद्धतियों को वह कोटियों (categories) का नाम देते हैं। इस प्रकार वह (काण्ट) इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब तक

एक स्थाई मनस् या आत्मा (जो अपनी संवेदन-शक्ति और बोध-शक्ति द्वारा कार्य करता है) के अस्तित्व को न माना जाय, तब तक ज्ञान का होना सम्भव नहीं है।

इसी प्रसंग में काण्ट एक और तथ्य पर बल देते हैं। डेविड ह्यूम का सन्दर्भ देते हुए वह कहते हैं कि उन्हों(ह्यूम)ने विभिन्न संवेदनों तथा विज्ञानों को साहचर्य्य के नियमों द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होने का प्रतिपादन किया है। परन्तु यह असमीचीन (improper) है। ज्ञान में जो क्रम तथा समन्वय दृष्टि-गोचर होता है उसका कारण साहचर्य्य के नियम नहीं हो सकते; उसका कारण एक स्थाई आत्मा ही हो सकता है। आत्मा के अभाव में साहचर्य्य के नियम ही कार्य नहीं कर सकते।

2. आत्मा स्वरूप से ज्ञाता मात्र है

काण्ट ह्यूम के आत्मा के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ह्यूम की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्होंने आत्मा को ज्ञेय या विषय (object) के रूप में जानने का प्रयत्न किया था, जबकी वस्तुतः आत्मा ज्ञाता मात्र या विषयी (subject) मात्र है। ह्यूम का यह कथन कि अन्तर्दर्शन द्वारा विश्लेषण करने पर उन्हें आत्मा का कोई अनुभव नहीं होता पूर्णतया ठीक है। परन्तु इससे उनका यह निष्कर्ष निकालना कि आत्मा है ही नहीं युक्तियुक्त नहीं है। उन्हें केवल इतना ही कहने का अधिकार था कि आत्मा अनुभव का विषय नहीं बन सकता। वास्तविकता यह है कि आत्मा स्वयंसिद्ध सत्ता है क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक क्रिया से ज्ञाता (अर्थात् आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध होता है। ह्यूम को जब अपने अन्तराल में झाँकने से क्षणिक संवेदनाओं के अतिरिक्त कुछ दृष्ट नहीं होता, तो वह यह भूल जाते हैं कि क्षणिक संवेदनाओं के ज्ञान से ही उनके ज्ञाता की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है। आत्मा वस्तुतः सर्वदा हमारे सम्पूर्ण अनुभव के विषयी या ज्ञाता रूप में विद्यमान रहता है, वह विषय या ज्ञेय के रूप में कभी नहीं देखा जा सकता।

3. आत्मा द्रव्य नहीं है

काण्ट डैकार्टे के आत्म-द्रव्य के सिद्धान्त का भी निराकरण करते हैं। आत्मा के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए डैकार्टे ने कहा है "मैं विचार करता हूँ, अतः मेरा अस्तित्व है"। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकला कि "मैं एक द्रव्य अर्थात् विचार-कर्ता द्रव्य के रूप में अस्तित्वमान् हूँ"। काण्ट इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि डैकार्टे के इस तर्क में 'तर्काभास का दोष' (Fallacy of parallogism) है। "मैं विचार करता हूँ" का अभिप्राय यह है कि 'मैं अपनी विचार-प्रक्रिया का तार्किक कर्ता (logical subject) हूँ'। परन्तु इससे डैकार्टे को यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार नहीं है कि मैं एक विचारकर्ता द्रव्य हूँ, या मैं एक तात्विक-कर्ता (Metaphysical subject) हूँ; क्योंकि एक 'तात्विक कर्ता' 'तर्किक कर्ता' से पूर्णतया भिन्न होता है।

4. विशुद्ध आत्मा और व्यावहारिक आत्मा में अन्तर

काण्ट विशुद्ध आत्मा और व्यावहारिक आत्मा में अन्तर करते हैं। विशुद्ध आत्मा से उनका अभिप्राय उस अनुभवातीत आत्मा (Transcendental self) या ज्ञाता से है जो मानसिक घटनाओं के पीछे या परे है। वह एक एकता का अमूर्त तत्व (Abstract Principle of Unity) है जो अज्ञात एवं अज्ञेय है ; क्योंकि अन्य वस्तुओं के समान उसका विषय रूप में ज्ञान नहीं हो सकता। वह मानसिक अवस्थाओं की स्थाई पृष्ठभूमि एवं आधार अवश्य है ; परन्तु मानसिक अवस्थायें उसकी अभिव्यक्ति नहीं, वरन् उसकी प्रपञ्चात्मक प्रतीति (Phenomenal Appearance) हैं। काण्ट कहते हैं कि विशुद्ध आत्मा हमारी क्षणिक एवं पृथक् पृथक् अनुभूतियों को सम्बद्ध कर उन्हें नियमित रूप देता है और "मेरी अनुभूतियां" की संज्ञा प्रदान करता है। इसी कारण वह इसे "अनुभवातीत संश्लेषात्मक संप्रत्क्षण की एकता" (Transcendental Synthetic Unity of Apperception) का नाम देते हैं। व्यावहारिक आत्मा के विषय में उन (काण्ट) का मत है कि वह हमारे अनुभव का विषय है। उनके अनुसार यह वही-आत्मा है जो डैविड ह्यूम के द्वारा संवेदनों तथा विज्ञानों का पुञ्ज कहा गया है। विचार (Knowing), भावना (Feeling) तथा इच्छा (Willing) इसकी प्रमुख मानसिक अवस्थायें हैं और यह व्यक्तिगत, परिवर्तनशील तथा अनित्य है।

5. आत्मा इन्द्रियानुभव तथा बुद्धि-विकल्पों से परे है

आत्मा (अर्थात् विशुद्ध आत्मा)[1] के स्वरूप की विवेचना करते हुए काण्ट आगे बताते हैं कि वह इन्द्रियानुभव और बुद्धि के विकल्पों दोनों से ही परे है। वह वस्तुतः दोनों का ही आधार है। उसी के कारण हमें इन्द्रियानुभव हो पाता है और उसी की शक्ति से बुद्धि अपने विकल्पों द्वारा संसार की अनेक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान करती है।

6. आत्मा ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी अतीत है

काण्ट कहते हैं कि विशुद्ध आत्मा ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी से परे है। यह पूर्णतया निरपेक्ष है ; ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी इस पर आधारित है, यह उस (त्रिपुटी) पर नहीं। यह ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का भी साक्षी है और सार्वभौम एवं अनिवार्य है।

1—काण्ट ने जहाँ भी केवल 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया है उससे अभिप्राय 'विशुद्ध आत्मा' से ही है 'व्यावहारिक आत्मा' से कभी नहीं।

7. काण्ट क आत्मा के सिद्धान्त से शंकर के आत्मा-सम्बन्धी सिद्धान्त की तुलना

काण्ट के आत्मा के सिद्धान्त के साथ भारतीय दर्शन में आचार्य शंकर का आत्मा का सिद्धान्त बहुत कुछ समानता रखता है । काण्ट के सदृश शंकर भी आत्मा को ज्ञान का विषय नहीं मानते । उनका भी यही मत है कि आत्मा सर्वदा दृष्टा (Seer) या साक्षी (Witness) के रूप में विद्यमान रहता है और वह ज्ञाता ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी से सर्वथा परे है। सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) अवस्था[1] के उदाहरण से यह बात अच्छी प्रकार से समझ में आ सकती है। सभी का यह अनुभव है कि सुषुप्ति अवस्था में कोई भी ज्ञेय पदार्थ नहीं रहता, और इसीलिए उस समय (सामान्य) ज्ञाता की उपस्थिति का भी कोई भान नहीं होता। परन्तु शंकर कहते हैं कि उस अवस्था में भी विशुद्ध आत्मा, विशुद्ध एवं निरपेक्ष ज्ञाता के रूप में, विद्यमान रहता है, जो उस समय (सामान्य) ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी की अनुपस्थिति का साक्षी होता है। यही कारण है कि सुषुप्ति के पश्चात् अगले दिन प्रात: उठकर मनुष्य यह कहता है कि 'मैं आज ऐसा सुखपूर्वक सोया कि मुझे कुछ खबर न रही और मैंने कुछ भी नहीं देखा।' परन्तु हमें यहाँ स्मरण रखना होगा कि इस सम्बन्ध में दोनों दार्शनिकों में एक महत्वपूर्ण अन्तर भी है। जहाँ शंकर विशुद्ध आत्मा का परम तत्व 'ब्रह्म' के साथ पूर्ण तादात्म्य (Complete identity) स्थापित करते हैं काण्ट इस प्रकार की कोई बात नहीं कहते।

समालोचना

(1) काण्ट के आत्मा के सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा गया है कि इस सिद्धान्त में आत्मा को पूर्णरूप से अमूर्त (Abstract) प्रतिपादित किया गया है जो सर्वथा अयुक्त है। आलोचकों ने कहा है कि ऐसा आत्मा जो न ज्ञाता है और न ही कर्त्ता एवं भोक्ता, और न ही जिसका कोई रूप है, हमारी बुद्धि की पहुँच से बाहर है ; वह तो वस्तुत: शून्य (non-entity) ही है। प्राय: इसी प्रकार की आलोचना शंकर के आत्मा के सिद्धान्त के विरुद्ध भी की गई है। हमारा विनम्र मत है कि काण्ट एवं शंकर, दोनों दार्शनिकों, के विरुद्ध इस प्रकार की आलोचना पूर्णतया असंगत है। जब ये दार्शनिक आत्मा के ज्ञातृत्व (ज्ञातापन), कर्त्तत्व (कर्त्तापन) तथा भोक्तृत्व (भोक्तापन) का निराकरण करते हैं, इससे उनका अभिप्राय केवल इतना ही है कि आत्मा हमारी सामान्य ज्ञान-प्रक्रिया की ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी से सर्वथा परे है और इसीलिए उसे हम कर्त्ता तथा भोक्ता भी नहीं कह सकते हैं। जिन आलोचकों ने ऐसे आत्मा को शून्य कहने का दुःसाहस

1—निद्रा की ऐसी अवस्था जिसमें स्वप्नों का नितान्त अभाव रहता है।

किया है उनकी तीव्र आलोचना करते हुए शंकर अपने बृहदारण्यकउपनिषद् भाष्य में कहते हैं : "दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यं हि परमार्थ सद् अद्वयं ब्रह्म मन्दबुद्धिनाम् असदिव प्रतिभाति" । [अर्थात् दिक् (Direction), देश (Space), गुण, गति, फल आदि भेदों से रहित जो पारमार्थिक सत्य अद्वैत ब्रह्म है वह केवल मन्दबुद्धि मनुष्यों को ही असत् या शून्य (non-entity) के सदृश प्रतीत होता है"[1]] ।

(2) आत्मा को काण्ट ने अज्ञात तथा अज्ञेय बताया है। इस विषय में आलोचकों का यह कहना है कि जब हम आत्मा की क्रियाओं को जानते हैं तो आत्मा को अज्ञात एवं अज्ञेय कैसे कहा जा सकता है ? हमारी दृष्टि से काण्ट की यह आलोचना भी युक्तिसंगत नहीं है। जब काण्ट आत्मा को अज्ञात एवं अज्ञेय कहते हैं इससे उनका अर्थ केवल इतना ही है कि अन्य सामान्य पदार्थों के समान आत्मा ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। वह हमारी सम्पूर्ण मानसिक अवस्थाओं में सर्वदा ज्ञाता के रूप में विद्यमान रहता है। वह एक स्वत: सिद्ध सत्ता है जो अपने मूल स्वरूप में ही ज्ञाता है।

(3) हीगेल ने काण्ट के आत्मा के सिद्धान्त में आपत्ति उठाते हुए यह कहा है कि आत्मा को उसके विचारों तथा क्रियाओं से पृथक् नहीं किया जा सकता जैसा कि काण्ट ने करने का प्रयत्न किया है। हीगेल का मत है कि आत्मा एक अमूर्त एकता (Abstract Unity) नहीं, वरन् उसका एक साकार एवं विशिष्ट रूप है और उसकी विचारों, भावनाओं तथा इच्छाओं में अभिव्यक्ति होती है। हमारे विचार से हीगेल का आत्मा को साकार कहना और मानसिक क्रियाओं को उसकी अभिव्यक्ति बताना अनचित है। आत्मा तो मानसिक क्रियाओं का एक स्थाई एवं नित्य दृष्टा है ; वे (मानसिक क्रियायें) उसकी अभिव्यक्ति कदापि नहीं कही जा सकतीं ।

(4) एक और दोष हीगल ने काण्ट के मत में यह बताया है कि काण्ट ने आत्मा को एक विशुद्ध एकता कहा है जो सर्वथा असमीचीन है। हीगेल का कथन है कि आत्मा भेदाभेद स्वरूप है ; वह एक ऐसी एकता है जो अनेकता में व्याप्त है। अनेकता से ही एकता सार्थक होती है, अनेकता के बिना एकता का कोई अर्थ ही नहीं है। जेम्स वार्ड कहतें हैं कि काण्ट का अमूर्त आत्मा किसी अक्षर के ऊपर एक विन्दु के सदृश है जिसका अक्षर से पृथक् कोई अर्थ ही नहीं है। इस सम्बन्ध में हम यह कहना चाहेंगे कि काण्ट के विरुद्ध हीगेल और जेम्स वार्ड दोनों की आलोच-

1. हमें स्मरण रखना चाहिये कि शांकर दर्शन में (जैसा कि हमने ऊपर इंगित भी किया है) आत्मा की ब्रह्म के साथ पूर्ण तदात्मता (Complete identity) है ।

नायें दोषपूर्ण हैं। वास्तविकता यह है कि एकता से अनेकता सार्थक होती है, अनेकता से एकता नहीं ; एकता के अभाव में तो अनेकता की कल्पना भी करना असम्भव है। अस्तु काण्ट ने ठीक ही आत्मा को विशुद्ध एकता कहा है और उसे भेदाभद स्वरूप नहीं बताया है।

(5) कुछ दार्शनिकों (जिनमें हीगेल भी सम्मिलित हैं) ने यह कहा है कि काण्ट ने जो विशुद्ध आत्मा और व्यावहारिक आत्मा में द्वैत स्थापित कर दिया है वह सर्वथा अनुचित है। हीगेल के मतानुसार काण्ट का यह द्वैत मूर्त सत् (Concrete Reality) के अमूर्त्तीकरण (Abstraction) का परिणाम है। वास्तविकता यह है कि विशुद्ध आत्मा और व्यावहारिक आत्मा एक ही निरपेक्ष आध्यात्मिक सत्ता के दो पहलू हैं। भिन्न भिन्न स्थितियों में वही सत्ता भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है।

आत्मा की अमरता
(Immortality of the Soul)

आत्मा सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों की विवेचना करने के पश्चात् अब हम आत्मा की अमरता पर विचार करेंगे। सदा से हमारे जीवन का यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न रहा है कि मृत्यु के पश्चात् क्या हमारे जीवन की कहानी पूर्णतया समाप्त हो जाती है अथवा शरीर विगठन (Disintegration of body) के अनन्तर भी इसका विवरण अविच्छिन्न रूप से शाश्वत काल तक चलता रहता है ? दूसरे शब्दों में : मरणोत्तर क्या आत्मा नाम की कोई वस्तु अवशिष्ट रह जाती है अथवा नहीं ? क्या आत्मा अमर है या विनाशशील ? भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर भिन्न भिन्न रूप में दिया है। भौतिकवादियों का मत है कि देह से भिन्न आत्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। आत्मा या चैतन्य देह का धर्म है जो विकास-क्रम की अन्तिम जटिल अवस्था है। देह कई प्रकार के भौतिक उपादानों से मिश्रित एक पदार्थ है। इन भौतिक उपादानों का विगठन ही मृत्यु कहलाती है। देह के विनाश के साथ ही देह के धर्म आत्मा या चैतन्य का भी नाश हो जाता है, क्योंकि धर्मी के नष्ट हो जाने पर धर्म का नाश हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। इस प्रकार इन (भौतिकवादियों) के विचारानुसार आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व हमारी कल्पना मात्र है ; और आत्मा की अमरता का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। भौतिकवादियों के विरुद्ध दूसरे दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा देह का धर्म नहीं, वरन् उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। देह के नाश हो जाने पर उस (आत्मा) का नाश नहीं होता ; वह एक अमर सत्ता है, अमर तत्त्व

है। इन दार्शनिकों ने अपने पक्ष में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। ये इस प्रकार हैं :

1. तत्वज्ञान सम्बन्धी तर्क (Metaphysical Argument)

यूनान के महान् दार्शनिक प्लैटो तथा फ्रैन्च दार्शनिक डैकार्ट आत्मा को एक सरल आध्यात्मिक द्रव्य (Simple spiritual substance) मानते हैं। उनका कथन है क्योंकि आत्मा सरल है, इसलिए उसके नाश होने का प्रश्न ही नहीं होता। नाश का अर्थ है एक प्रकार का विगठन, और विगठन होता है उन्हीं वस्तुओं का जो मिश्रित या संगठित हो। सरल वस्तुओं के विगठन की बात ही नितान्त असंगत एवं अयुक्त है।

2. नैतिक तर्क (Moral Argument)

काण्ट का कथन है कि संसार में नैतिक आदर्शों की सत्यता के लिये आत्मा की अमरता को स्वीकार करना परम आवश्यक है। यदि कोई यह स्वीकार नहीं करता तो नैतिकता की सम्भावना को ही समाप्त कर देता है। काण्ट अपने इस कथन की पुष्टि दो प्रकार से करते हैं :

(क) नैतिकता का अर्थ है इन्द्रियों का बुद्धि के नियंत्रण में कार्य करना। नैतिक प्रगति हम तभी कर सकते हैं जबकि हम बुद्धि के नियमों का पालन उत्तरोत्तर अधिक से अधिक करते चले जायें। अब क्योंकि यह एक ऐसा महान् आदर्श है जिसकी पूर्ण रूप से प्राप्ति हमारे इस जीवन में असम्भव है ; अतः यदि नैतिकता का कोई अर्थ है और नैतिक आदर्श कोई अप्राप्य आदर्श नहीं है तो आत्मा का अमरत्व एक निश्चित तथ्य है। इस प्रसंग में उन (काण्ट) के अपने शब्द हैं, "अब, यह असीम प्रगति तभी सम्भव है जबकि हम यह मान लें कि एक विवेकशील प्राणी का अस्तित्व असीम होता है और वह अपना व्यक्तित्व शाश्वतकाल के लिए बनाये रखता है। आत्मा की अमरता से हमारा यही तो तात्पर्य्य है। अस्तु, परम शुभ (की प्राप्ति) तभी व्यावहारिक रूप से सम्भव है जबकि हम आत्मा की अमरता को मान लें।"[1]

(ख) न्याय यह कहता है कि हम जैसा भी कर्म करते हैं उसका वैसा ही

---

1. Now, this infinite progress is possible only if we presuppose that the existance of a rational being is prolonged to infinity, and that he retains his personality for all time. This is what we mean by immortality of the soul The highest good is, therefore, practically possible only if we presuppose the immortality of the soul." (Kant).

फल भी हमें मिलना चाहिए। यदि हम पुण्य कर्म करते हैं तो हमें उसका पुरस्कार मिलना चाहिए और यदि हम पाप कर्म करते हैं तो उस के लिये हमको दण्ड मिलना भी आवश्यक है'। परन्तु संसार में अधिकतर देखा यह जाता है कि पुण्यवान् लोग दुखी हैं और पापी लोग सुखी। पुण्य कर्म या शुभ कर्म करने वाले लोग अनेक प्रकार के कष्ट भोगते हैं और पाप कर्म या अशुभ कर्म करने वालों को अनेक प्रकार की सुख सुविधायें प्राप्त रहती हैं। काण्ट कहते हैं कि यह स्थिति सर्वथा न्यायविरुद्ध है। इससे निश्चित रूप से यह संकेत मिलता है कि मनुष्य का यह जीवन ही उसका अन्तिम जीवन नहीं है। इससे आगे भी उसका जीवन है जो शाश्वत और नित्य है। यदि इस जीवन में न सही, उस आगामी जीवन में अवश्य ही आत्मा को उसके अपने कर्मों का फल प्राप्त होगा। उन (काण्ट) के अपने शब्दों में, "अस्तु, एक आदर्श-विश्व का सर्वोत्तम शुभ इसी में है कि एक ही व्यक्ति में सद्गुण और आनन्द का संयोग हो, अर्थात् नैतिकता के यथार्थ अनुपात में आनन्द की उपलब्धि हो"।[2]

3. आदर्शत्रय सम्बन्धी तर्क (Argument from the three highest Ideals)

मानव जीवन के तीन सर्वोच्च आदर्श हैं — सत्यम् (Truth), शिवम् (Good) एवं सुन्दरम् (Beauty)। ये तीनों आदर्श अनन्त हैं। इन आदर्शों की प्राप्ति का एक स्वाभाविक आग्रह सभी मनुष्यों में देखने में आता है। परन्तु इस सान्त मानव जीवन में इन अनन्त सर्वोच्च आदर्शों की प्राप्ति असम्भव है। अत: हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि आत्मा अमर है, क्योंकि यदि यह स्वीकार नहीं करते तो उक्त आदर्शों की प्राप्ति का हमारा स्वाभाविक आग्रह ही निराधार हो जाता है।

4. शक्ति-संरक्षण के नियम से तर्क (Argument from the Law of Conservation of Energy)

शक्ति संरक्षण के नियम के अनुसार 'शक्ति' ('Energy') का रूपान्तर मात्र होता है, उसका विनाश कभी नहीं होता। अब यदि आत्म-शक्ति (अर्थात् आत्मा) भी शक्ति की नित्यता के सिद्धान्त के अन्तर्गत है तो आत्मा के नाश की भी संभावना नहीं है। और यदि यह सिद्धान्त केवल भौतिक शक्ति की परिधि तक ही लागू होता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि आत्म-शक्ति या आत्मा भौतिक शक्ति और उसके नियमों से पूर्ण स्वतन्त्र है। इस स्थिति में भी भौतिक शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश होना आवश्यक नहीं है।

1. भारतीय दर्शन से तुलना कीजिए : "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"।
2. "The highest good of a possible world must, therefore, consist in the union of virtue and happiness in the same person, that is, in happiness exactly proportioned to morality." (Kant).

5. ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी तर्क (Epistemological Argument)

आत्मा ज्ञाता के रूप में सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है। अब क्योंकि ज्ञान शाश्वत तथा देशकालातीत है अतः इसका आधार आत्मा भी शाश्वत तथा देश-कालातीत ही होना चाहिये। प्लैटो इस तर्क को दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि यद्यपि आत्मा शाश्वत ज्ञान का आधार है, तथापि वह (अर्थात् आत्मा) इस शाश्वत ज्ञान को अनुभव द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि सभी अनुभव देशकाल की सीमाओं से आच्छादित होने के कारण सीमित होता है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि शाश्वत ज्ञान को आत्मा अपने अन्दर से ही प्राप्त करता है, अर्थात् आत्मा में ही सम्पूर्ण ज्ञान निहित है। अब जबकि आत्मा अपने में ही निहित ज्ञान को प्राप्त करता है, इसका अभिप्राय यह है कि वह पहले से ही जाने हुये ज्ञान का स्मरण करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारे इस जन्म से पूर्व भी आत्मा अस्तित्वमान् था ; और जिसका अस्तित्व इस जन्म से पूर्व था उसके विषय में यह अनुमान असंगत नहीं है कि इस जन्म के आगे भी उसका अस्तित्व रहेगा।

6. आध्यात्मिक गवेषणा सम्बन्धी तर्क (Argument from Psychic Research)

वर्तमान काल में प्रायः सभी उन्नत देशों में आत्मा की अमरता के विषय में अनेक खोजें की जा रही हैं। ये खोजें 'आध्यात्मिक गवेषणा' ('Psychic Research') के अन्तर्गत आती हैं। सन् 1882 में इंगलैण्ड में एक संस्था 'British Society of Psychic Research' की स्थापना हुई थी। इसका उद्देश्य आत्मा के अमरत्व के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना है। इसकी एक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है जिसमें समय समय पर आध्यात्मिक गवेषणा सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण समाचार निकलते रहते हैं। गत कतिपय वर्षों में विख्यात एमेरिकी परा-मनोवैज्ञानिक आयन स्टिवेन्सन (Ian Stevenson)[1] ने कुछ अन्य परा-मनोवैज्ञानिकों के सहयोग से संसार के विभिन्न देशों में पुनर्जन्म का हाल बताने वाले अनेक व्यक्तियों के विवरण एकत्रित किये हैं। इस प्रकार इन वैज्ञानिकों ने यह जानने की भरसक चेष्टा की है कि पुनर्जन्म वस्तुतः होता है या नहीं। इनके परिश्रम के फलस्वरूप निम्नांकित कुछ ऐसी विशिष्ट बातें ज्ञात हुयीं हैं जो हमें पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिये बाध्य करती हैं :

(क) समाचार पत्रों में बहुत बार भारत ही नहीं वरन् संसार के विभिन्न देशों में होने वाली अनेक घटनाओं के इस प्रकार के समाचार छपते रहते हैं कि

1. देखिये उनकी पुस्तक 'Twenty Cases Suggestive of Reincarnation.'

छोटे-छोटे बालकों ने अपने पूर्व-जन्म की कथायें सुनायीं जो परीक्षा करने पर पूर्णतया सत्य निकलीं ।

(ख) एक व्यक्ति को माध्यम (medium) बनाकर उसके द्वारा परलोकगत अनेक आत्माओं से वार्ता की गई है और की जा सकती है ।

(ग) कुछ ऐसे बालकों के उदाहरण मिले हैं जो बहुत छोटी आयु में ही दर्शन, धर्म, गणित, संगीत, इतिहास आदि अनेक विषयों के असाधारण पण्डित थे । प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या कोई मनुष्य इतनी अल्प आयु में ऐसी अद्भुत विद्वत्ता प्राप्त कर सकता है ? जगत् का सामान्य अनुभव कहता है — नहीं । पुनः, जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि इन बालकों को इस जन्म में ऐसे शिक्षण का कोई अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ । इस सबसे यह सिद्ध होता है कि इन्होंने अपने पूर्व जन्मों में उन उन विद्याओं का अभ्यास किया था, जिसके फलस्वरूप वे इस जन्म में उन संस्कारों को लेकर उत्पन्न हुए और प्रारम्भ से ही उन विद्याओं में प्रवीण हो गये ।

7. मूल प्रवृत्तियों पर आधारित तर्क (Argument from Instincts)

मनुष्यों तथा अन्य सभी जीवधारियों में शिशु जन्म लेते ही अपने सभी स्वाभाविक कार्य स्वतः करने लगते हैं । उदाहरण के रूप में सभी शिशु जन्म से ही भूख लगने पर अपनी माता का दुग्ध पान करना आरम्भ कर देते हैं । मुर्गी के बच्चे प्रारम्भ से ही खाद्य सामग्री की खोज में बार बार अपनी चोंच मारते हैं । प्रश्न उठता है कि इन सबको यह ज्ञान कहाँ से उपलब्ध होता है कि कुछ खाने से क्षुधा का कष्ट निवारण हो जाता है और अमुक व्यवहार से खाद्य सामग्री प्राप्त हो जाती है ? उन्हें यह सब कौन सिखाता है ? भारतीय दर्शन कहता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त इसकी समुचित व्याख्या कर सकता है । इस सिद्धान्त के अनुसार इन शिशुओं ने अपने पूर्व जन्मों में अनुभव से यह जाना है कि क्षुधा शान्त करने का क्या उपाय है । पूर्व जन्म के वे संस्कार ही इन्हें जन्म से उस प्रकार का व्यवहार करने के लिये उत्प्रेरित कर देते हैं । नवजात शिशुओं के अन्य मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहारों का निरीक्षण करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है । जैसे कि शिशु जन्म से ही भिन्न भिन्न अवसरों पर हर्ष, शोक, भय, रोष आदि प्रकट करते हैं । उनकी ये सब क्रियायें स्पष्ट रूप से उनके पूर्व संस्कारों से ही अद्भूत प्रतीत होती हैं ।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. डैकार्टे के अनुसार आत्म-तत्व का परिचय दीजिये। ऐसा आत्मा शरीर से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकता है ?
   Give an idea of the 'Self' according to Descartes. How can such a 'Self' be related to the body ?
2. डैकार्टे का आत्मा के सम्बन्ध में क्या मत है ? आप इससे कहाँ तक सहमत हैं ?
   What is Descarte's conception of Self ? How far do you agree with it ?
3. ह्यूम कैसे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि आत्मन् एक प्रत्ययों की समष्टि है ? ह्यूम के मत का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।
   How does Hume come to the conclusion that Self is a bundle of perceptions ? Examine Hume's view critically.
4. आत्मा के सम्बन्ध में डेकार्टे, ह्यूम और काण्ट के विचार प्रकट कीजिये ।
   State the view of Descartes, Hume and Kant concerning the nature of Self.
5. काण्ट की आत्मा की अवधारणा की विवेचना कीजिये।
   Discuss Kant's conception of Self.
6. 'अनुभवाधारित' तथा 'तात्विक आत्मा' से आप क्या समझते हैं ? आत्मा के सम्बन्ध में, आपकी राय में कौन सा मत ठीक है ?
   What do you understand by Empirical Self and Noumenal Self ? What, in your opinion, is the right view about Self ?
7. आत्मा की अमरता के सिद्धान्त की पुष्टि कीजिये।
   Give arguments for the immortality of the soul.

एकादश अध्याय

मनस् और शरीर का सम्बन्ध

(Relation between Mind and Body)

जीवन की घटनाओं पर सामान्य दृष्टि से विचार करने पर असन्दिग्ध रूप से यह दृष्ट होता है कि शरीरिक और मानसिक क्रियाओं का पारस्परिक बड़ा गहरा सम्बन्ध है। चलने फिरने, उठने बैठने, खाने पीने आदि की जितनी भी शारीरिक क्रियायें मनुष्य करता है उनकी पृष्ठभूमि में सर्वदा ही उसकी इच्छायें और संकल्प (Volitions) रहा करते हैं, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उन्हें उत्प्रेरित करते हैं और उनका नियन्त्रण करते हैं। सुख-दुख, स्नेह-घृणा तथा क्रोध आदि के जो भाव और उद्वेग (Emotions) उस (मनुष्य) में होते हैं वे सभी उसके संवहनी-प्ररक तंत्र (Vasomotor system) की क्रियाओं में भारी परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं। चिन्तायें और मानसिक क्षोभ उसके शारीरिक यन्त्र की दक्षता (efficiency) को कम कर देते हैं और उसे जर्जरीभूत बना देते हैं। दूसरी ओर यह भी देखने में आता है कि सिर पर लगा हुआ एक भारी आघात मनुष्य को कुछ समय के लिये अचेत कर देता है और क्लोरोफॉर्म (Chloroform) का प्रयोग सामयिक रूप से उसकी संवेदनशीलता को नष्ट कर देता है। साधारण रूप से भी हम यह जानते हैं कि यदि शरीर स्वस्थ एवं निरोग है तो मस्तिष्क भी बड़ी प्रखरता से कार्य करता है, किन्तु यदि शरीर रुग्णावस्था (State of illness) में है या बहुत अधिक थका हुआ है तो उसकी प्रखरता मन्द हो जाती है। शारीरिक तथा मानसिक घटनाओं के इस अत्यन्त निकट सम्बन्ध से प्रभावित होकर दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध की समुचित व्यांख्या करने के हेतु भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिन्हें हम निम्न पंक्तियों में उल्लिखित करेंगे।

1. अन्तर्क्रियावाद (Interactionism)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक फ्रान्सीसी दार्शनिक डैकार्ट थे। हम जानते हैं

कि डैकार्टे मूलरूप से द्वैतवादी विचारक थे ।[1] उनके मतानुसार पुद्गल (Matter) और मनस् इस सृष्टि के दो विरुद्धधर्मी मूलतत्व हैं । जबकि पुद्गल प्रसारित और अचेतन तत्व है, उसके एकदम विपरीत मनस् अप्रसारित तथा चेतन तत्व है। पुद्गल (जिसके अन्तंगत शरीर भी है) यान्त्रिक नियमों के अधीन है, परन्तु मनस् सप्रयोजन कार्य करता है । इस प्रकार दोनों में कोई भी समानता नहीं है । डैकार्टे के सम्मुख प्रश्न उपस्थित होता है कि दो विरोधी तत्वों में सम्बन्ध की व्याख्या कैसे की जाय ? वह उत्तर देते हैं कि यह सम्बन्ध मस्तिष्क (Brain) के मध्य विद्यमान पीनियल नामक ग्रन्थि के द्वारा स्थापित होता है । यह ग्रन्थि ही मनस् की आधार-स्थली (Seat) है ; इसके द्वारा ही शरीर और मनस् एक दूसरे पर क्रिया प्रति-क्रिया करते हैं । डैकार्टे कहते हैं कि शरीर मनस् पर संवेदनाओं (Sensations) के रूप में कार्य करता है, और मनस् शरीर पर संकल्पों (Volitions) के रूप में कार्य करता है । इस प्रकार शरीर और मनस् के अन्तर्क्रिया (Inter-action) करने के सिद्धान्त को ही अन्तर्क्रियावाद (Interactionism) की संज्ञा दी गई है ।

आलोचना

(1) इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि शरीर और मनस् जो विरुद्धधर्मी द्रव्य (Substances) हैं उनमें परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया कैसे संभव हो सकती है ? कारण यह है कि पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया के लिए गुणात्मक सादृश्य (Qualitative likeness) होना आवश्यक है जिसका शरीर और मनस् में नितान्त अभाव है ।

(2) दूसरी कठिनाई यहाँ यह है कि मनस् जो एक अप्रसारित एवं निरा-कार तत्व है वह मस्तिष्क (जो एक भौतिक पदार्थ है) के एक विशेष स्थल पर कैसे रह सकता है ?

(3) तीसरे, अन्तर्किया का सिद्धान्त विज्ञान के 'शक्ति संरक्षण के नियम' के भी विरुद्ध है । इस सिद्धान्त के अनुसार संवेदनों में वल्कुटीय कंपन (Cortical-vibration) के रूप में जो शारीरिक शक्ति है वह ही मानसिक शक्ति के रूप में परिणत (Changed) हो जाती है, और संकल्पों की मानसिक शक्ति ही अंग संच-लन के रूप में भौतिक शक्ति के रूप में परिणित हो जाती है। इस प्रकार पहली दशा में भौतिक शक्ति का ह्रास होता है और दूसरी दशा में भौतिक शक्ति की अभिवृद्धि होती है । 'शक्ति संरक्षण का नियम' इस सबका खण्डन करता है । इसके अनुसार एक प्रकार की भौतिक शक्ति दूसरे प्रकार की भौतिक शक्ति में अवश्य परिवर्तित हो सकती है, परन्तु न तो भौतिक शक्ति मानसिक शक्ति के रूप में

1. देखिये 'बहुतत्ववाद द्वितत्ववाद और एकतत्ववाद' अध्याय में 'द्वितत्ववाद' ।

परिवर्तित हो सकती है और न ही मानसिक शक्ति भौतिक शक्ति के रूप में। कारण यह है कि उस स्थिति में विश्व में 'भौतिक शक्ति' का कुल परिमाण (Total quantity) एक न रहकर न्यून या अधिक होता रहेगा जो सर्वथा अयुक्त एवं अवैज्ञानिक है।

2. यथावसरवाद (Occasionalism)

डैकार्ट के अन्तर्क्रियावाद की कठिनाइयों का अनुभव करके उनके अनुयायियों ग्यूलिनैक्स (Geulinex) तथा मेलब्रान्श (Malebranche) ने यथावसरवाद के सिद्धान्त की स्थापना की। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर और मनस् विरुद्ध-धर्मी होने के कारण एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया नहीं कर सकते; किन्तु फिर भी दोनों में संवादिता (Correspondence) है; और इस संवादिता का कारण ईश्वर है। ईश्वर किसी एक में परिवर्तन होने पर दूसरे में भी उसी प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। जैसे कि जब शरीर में कुछ परिवर्तन होते हैं तब ईश्वर उन्हीं के अनुरूप मनस् में संवित्तियाँ (Sensations) उत्पन्न कर देता है; और जब मनस् में इच्छायें तथा संकल्प उत्पन्न होते हैं तब ईश्वर उन्हीं के संवाद (Correspondence) में शरीर में गति (Movement) उत्पन्न कर देता है।

आलोचना

आलोचकों का कहना है कि वैज्ञानिक व्याख्या की दृष्टि से शरीर और मनस् के सम्बन्ध का यह सिद्धान्त सर्वथा असमीचीन है। प्रति क्षण एक में परि-वर्तन होने के समय दूसरे में भी परिवर्तन लाने के हेतु हर समय ईश्वर की ओर इंगित करना बहुत असंगत सा प्रतीत होता है। इसके अनुसार तो ईश्वर एक यन्त्र मात्र ('Deus ex machina') बन कर रह जाता है जो पूर्णतया अदार्श-निक है।

3. समानान्तरवाद (Parallelism)

डच दार्शनिक स्पिनोजा ने भी ग्यूलिनैक्स और मेलब्रान्श के सदृश डैकार्ट के अन्तर्क्रियावाद में कुछ महती त्रुटियों का दर्शन किया। उन्होंने भी इस बात पर बल दिया कि यदि शरीर और मनस् दो मूलतः भिन्न तत्व हैं तो उनमें अन्तर्क्रिया होना सम्भव ही नहीं हो सकता। अस्तु उन्होंने समानान्तरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार पुद्गल (जिसमें शरीर भी सम्मिलित है) और मनस् दो भिन्न भिन्न स्वतन्त्र तत्व या द्रव्य नहीं हैं वरन् एक ही मूल तत्व या द्रव्य के दो समानान्तर गुण (Attributes) हैं। यों कहा जा सकता है कि पुद्गल तथा मनस् एक ही चरम द्रव्य (Ultimate Substance) या ईश्वर

के आभ्यान्तरिक तथा बाह्य दो पक्ष हैं। यह चरम द्रव्य स्वयं में न भौतिक है न मानसिक ; किन्तु यह समानान्तर रूप से भौतिक और मानसिक घटनाओं में प्रतीत होता है। भौतिक घटनायें पुद्गल या प्रसार (Extension) के गुण के अर्न्तगत हैं और मानसिक घटनायें मनस् या विचार (Thought) के गुण के अन्तर्गत हैं। इस विश्व में प्रसार की प्रत्येक इकाई की समानान्तरता में चेतना की भी इकाई है और उसी प्रकार प्रत्येक चेतना की इकाई की समानान्तरता में प्रसार की भी इकाई है। शरीर के प्रत्येक परिवर्तन के अनुरूप मानसिक परिवर्तन होता है और प्रत्येक मानसिक परिवर्तन के अनुरूप शारीरिक परिवर्तन होता है। स्पिनोजा का कथन है कि "Thinking substance and extended substance are one and the same thing, comprehended now through this and now through that attribute." (अर्थात् "चिन्तनशील द्रव्य और प्रसारित द्रव्य दोनों एक ही वस्तु हैं, जो कभी एक गुणके रूप में और कभी दूसरे गुण के रूप में समझी जाती हैं।") इस प्रकार उनके मतानुसार शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में पूर्ण संवादिता (correspondence) है।

स्पिनोजा के समानान्तरवाद को अनेक आधुनिक विचारकों ने परिवर्तित रूपों में प्रतिपादित किया है जिनका हम यहाँ बहुत संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं :

(क) हर्बर्ट स्पैन्सर का समानान्तरवाद (Parallelism of Herbert Spencer)

एमेरिकन दार्शनिक हर्बर्ट स्पैन्सर ने स्पिनोजा के समानान्तरवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन किया ; परन्तु उनका कथन है कि मूल या चरम द्रव्य जो समानान्तर रूप से भौतिक एवं मानसिक घटनाओं में प्रतीत होता है वह अज्ञात तथा अज्ञेय है। वह चरम तत्व उनके अनुसार, न भौतिक है न मानसिक, किन्तु वही पुद्गल और मनस् के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह बात अवश्य है पुद्गल (जिसके अन्तर्गत शरीर भी है) और मनस् दोनों की क्रियाओं में समानान्तरता है।

(ख) मनोदैहिक समानान्तरवाद (Psycho-Psysical Parallelism)

कुछ मनोवैज्ञानिकों, जिनमें स्टाउट (Stout) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, का कथन है कि मस्तिष्क के स्नायु-मण्डल (Nervous system of the Brain) की अवस्थाओं तथा मानसिक अवस्थाओं में कोई कार्यकरण सम्बन्ध नहीं है, केवल इतना ही है कि दोनों अवस्थायें साथ-साथ घटित होती हैं। सभी प्रकार की मस्तिष्क की क्रियाओं के साथ मानसिक क्रियायें अवश्य होती हैं, एक के बिना दूसरी घटित हो ही नहीं सकतीं।

(ग) मनस्-तत्व का सिद्धान्त (Mind stuff Theory)

इस सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक क्लिफोर्ड (Clifford) थे। उनना कथन

है कि पुद्गल-तत्व (Matter-stuff) के प्रत्येक परमाणु का संवादी (Corresponding) उससे संयुक्त मनस्-तत्व का परमाणु होता है। इससे जब भौतिक परमाणु मिलकर शरीर की रचना करते हैं तब उनके संवादी मनस्-तत्व के परमाणु मिलकर मनस् की रचना करते हैं। यही कारण है कि शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं में परस्पर संवादिता पाई जाती है।

(घ) द्विरूप सिद्धान्त (Double-aspect Theory)

वारेन (Warren) की मान्यता है कि स्नायविक क्रियाय (Neural processes) तथा मानसिक क्रियायें दोनों मिलकर घटनाओं का केवल एक क्रम (Series) बनाती हैं। वास्तविकता यह है कि वे दोनों एक ही वस्तु के दो रूप (aspects) हैं। स्नायविक क्रियायें बाह्य रूप हैं और मानसिक क्रियायें आन्तरिक रूप।

(ङ) तटस्थ एकतत्ववाद (Neutral Monism)

नव्य वस्तु स्वातंत्र्यवादी दार्शनिक शरीर-मनस् सम्बन्ध की व्याख्या अपने तटस्थ एकतत्ववाद सिद्धान्त द्वारा करते हैं। उनका कथन है कि एक ही तटस्थ तत्व भिन्न-भिन्न सन्दर्भों (Contexts) तथा सम्बन्धों (Relations) में भौतिक और मानसिक दोनों दृष्ट होता है। यह तत्व स्वयं में न भौतिक है और न ही मानसिक। दैशिक-कालिक जगत् में स्थित अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में जो वस्तु भौतिक कहलाती है वही स्नायु मण्डल (जो उस पर अनुक्रिया करता है) के सम्बन्ध में मानसिक कहलाती है। यों कहा जा सकता है कि पर्य्यावरण के वे अंश जिन पर अंगी (organism) विशेष रूप से अनुक्रिया नहीं करता भौतिक वस्तुएं कहलाती हैं; और जिन पर वह विशेष रूप से अनुक्रिया करता है मानसिक कहलाती हैं।

समालोचना

(1) स्पिनोजा के समानान्तरवाद के सिद्धान्त में आलोचकों द्वारा यह भारी दोष निर्दिष्ट किया गया है कि इसका परिणाम सर्वचित्तवाद (Pansychism) है जो आधुनिक बिज्ञान के विरुद्ध है। स्पिनोजा कहते हैं कि जहाँ कहीं प्रसार है वहीं विचार भी है और जहाँ कहीं विचार है वहीं प्रसार भी है। परन्तु बैज्ञानिक गवेषणायें बताती हैं कि चेतना अत्यन्त जटिल स्नायु-मण्डल में पायी जाती है, अविकसित पुद्गल में नहीं। केवल स्नायु-मण्डल से युक्त जीवित शरीर में ही हम इसे देखते हैं, लोहा, पाषाण आदि में नहीं।

(2) समानान्तरवाद का दूसरा दोष यह है कि यह मनस् के समुचित महत्व को स्वीकार नहीं करता। वास्तविकता यह है कि मनस् शरीर के समानान्तर नहीं कहा जा सकता। मनस् स्पष्ट रूप से शरीर की अपेक्षा उच्चतर एवं श्रेष्ठतर है। यह शरीर को नियंत्रित तथा संचालित करता है। इसे स्वतन्त्रता-प्राप्त है और इसमें उपक्रम (initiative) करने की क्षमता है।

(3) मनस् और पुद्गल के मूल-स्वभाव का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि जहाँ एक ओर चेतना के प्रवाह में अक्षुण्णता (continuity), तदात्मता (identity) तथा एकता (unity) का दर्शन होता है वहाँ दूसरी ओर पुद्गल में आत्यन्तिक विभाजनशीलता (divisibility) पायी जाती है । दोनों के विरुद्ध गुण दोनों की समानान्तरता का एकदम खण्डन करते हैं।

(4) उपर्युक्त दोषों के साथ-साथ समानान्तरवाद के कुछ अपने गुण भी हैं। यह न तो प्रत्ययवाद (Idealism) के सदृश पुद्गल को मनस् मान लेता है और न ही जड़वाद (Materialism) के सदृश मनस् को पुद्गल स्वीकार कर लेता है। यह दोनों को समान महत्व देता है ; दोनों में से किसी एक को स्वतन्त्र तत्व न मानकर दोनों को चरम तत्व या चरम द्रव्य ईश्वर के गुण (Attributes) निर्दिष्ट करता है। इस प्रकार इसके लिये शरीर और मनस् की क्रियाओं में संवादिता प्रतिपादन करना विशेष कठिन नहीं होता।

4. पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का सिद्धान्त (Theory of Pre-established Harmony)

जर्मन दार्शनिक लाइब्नित्ज ने शरीर और मनस् के सम्बन्ध की व्याख्या अपने 'पूर्व स्थापित सामञ्जस्य के सिद्धान्त' द्वारा करने का प्रयास किया है। लाइब्नित्ज का कथन है कि ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही शरीर और मनस् के बीच एक ऐसा सामन्जस्य स्थापित कर दिया है कि वे दोनों सदैव एक दूसरे के अनुकूल कार्य करते हैं और उनकी इस अनुकूलता में ईश्वर के निरन्तर हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती । यद्यपि शरीर और मनस् एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और उनमें परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया नहीं होती, तथापि उनमें ईश्वर द्वारा पूर्व-स्थापित संवादिता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के हेतु वह दो ऐसी घड़ियों का उदाहरण देते हैं जिन्हें निर्माण करने के पश्चात् घड़ीसाज ने उन दोनों में एक ही समय कर दिया और जो बिना घड़ी साज के सतत् हस्तक्षेप के और बिना एक दूसरे को प्रभावित किये एक ही समय देती रहती हैं।

समालोचना

(1) आलोचकों का कहना है कि पूर्वस्थापित सामन्जस्य के सिद्धान्त का मुख्य दोष वही है जो यथावसरवाद के सिद्धान्त का है। इसका यह गुण अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें 'प्राक्कल्पना का लाघव' (Parsimony of Hypothesis) है। यथावसरवाद शारीरिक और मानसिक घटनाओं की संवादिता में सतत् ईश्वर-हस्तक्षेप का प्रतिपादन करता है और इस प्रकार सतत् अतिप्राकृत घटना (Miracle) का समर्थन करता है । परन्तु पूर्वस्थापित सामञ्जस्य का सिद्धान्त केवल एक ही बार अतिप्राकृत घटना की कल्पना करता है, क्योंकि उसके अनुसार केवल सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर शरीर और मनस् के मध्य सामञ्जस्य

स्थापित कर देता है और तदुपरान्त उसे (ईश्वर को) किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती।

(2) इस सिद्धान्त की दूसरी कठिनाई यह है कि इसके अनुसार शरीर और मनस् दोनों चिद्णुओं से बने हैं। ये चिदणु 'आत्म-अन्तर्विष्ट सत्तायें' (self-contained entities) हैं जो एक दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया नहीं कर सकतीं। लाइब्नित्ज के अनुसार ईश्वर चिदणुओं का भी चिदणु है, तब प्रश्न उपस्थित होता है कि वह शरीर और मनस् के चिदणुओं पर कैसे क्रिया कर सकता है और उनमें परस्पर सामन्जस्य कैसे स्थापित कर सकता है? कारणता एक बहिर्वर्ती क्रिया है और लाइब्नित्ज के मत से यह क्रिया चिदणुओं में नहीं होती ; तब ईश्वर में इसे वह कैसे मान सकते हैं ?

5. उपोत्पादनवाद (Epiphenomenalism)

भौतिकवादी दार्शनिक मनस् और शरीर का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं कि मनस् मस्तिष्क की क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली एक आनुषंगिक उत्पत्ति (by-product) है। जिस प्रकार एक यन्त्र के पुर्जों के पारस्परिक संघर्षण से अग्नि की चिंगारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उसी प्रकार मस्तिष्क के परमाणुओं के पारस्परिक संघर्ष से कुछ प्रकाश-रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो चेतना या मनस् कहलाती हैं। ये विचारक मनस् की प्रभावशीलता को अस्वीकार करते हुए यह घोषित करते हैं कि मनस् शरीर की क्रियाओं को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करता।

समालोचना

यह सिद्धान्त हमारे सामान्य अनुभव का विरोध करता है। हम नित्य के जीवन में मनस् की प्रभावशीलता एवं कार्यकारिता (efficacy) का अनुभव करते हैं। हमारा अनुभव बताता है कि निश्चित रूप से मनस् शरीर पर नियंत्रण कर सकता है और करता है। हम सर्वदा देखते हैं कि मनस ही शारीरिक क्रियाओं का निर्देशन अथवा संचालन किया करता है। इस सबसे यह भी स्पष्ट होता है कि शरीर की अपेक्षा मनस् एक उच्चतर तत्व है। अतः हम उसे शरीर की आनुषंगिक उत्पत्ति मात्र नहीं कह सकते।

6. अध्यात्मवाद या मनस्वाद (Idealism or Mentalism)

भौतिकवादियों के एकदम विपरीत अध्यात्मवादियों का दृष्टिकोण है। अध्यात्मवादी दार्शनिकों का कथन है कि विश्व की मूल सत्ता केवल आत्मा या मनस् है। सम्पूर्ण जड़ जगत्, जिसमें हमारे शरीर भी सम्मिलित हैं, इसी आत्मा या मनस् की बाह्य अभिव्यक्ति है अथवा इसी में एक कल्पित आभास (appearance)

है। मनस् की मूल सत्ता होने से शारीरिक क्रियाओं पर इसकी प्रभावशीलता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।

समालोचना

अनेक आलोचकों ने शरीर और मनस् के सम्बन्ध के उक्त सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है। इन आलोचकों का कहना है कि जिस प्रकार भौतिकवादी विचारक मनस् को भी पुद्गल मानकर शरीर तथा मनस् के सम्बन्ध की समस्या को अछूता छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अध्यात्मवादी दार्शनिक भी शरीर को मनस् की अभिव्यक्ति मात्र बताकर इस समस्या को पूर्ववत् उलझा हुआ ही छोड़ देते हैं। शरीर और मनस् दोनों ही स्वतन्त्र सत्तायें हैं। अनुभव या ज्ञान के उद्भव के लिए ज्ञाता एवं ज्ञेय अर्थात् मनस् एवं पुद्गल दोनों की ही आवश्यकता है। दोनों में से किसी एक की भी स्वतन्त्र सत्ता न मानने से मन की समुचित व्याख्या की ही नहीं जा सकती।

7. नव्योत्क्रान्तिवाद (Emergent Theory)

नव्योत्क्रान्तिवाद, जिसकी विस्तृत व्याख्या हम 'चतुर्थ अध्याय' में कर चुके हैं, शरीर और मनस् के सम्बन्ध की समस्या का समाधान एक अलग ढंग से प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के एक प्रमुख प्रतिपादक लॉयड मॉर्गन का कथन है कि पुद्गल, जीवन तथा मनस् सत्ता (Reality) के तीन स्तर हैं। आरम्भिक काल में प्रकृति में कदाचित् कोई संगठन (Organisation) नहीं था। काल-क्रम से परमाणुओं में संगठन हुआ और पुद्गल का विकास हुआ। तदुपरान्त पुद्गल के संगठन से जीवन का अविर्भाव हुआ। और जब कोशिकाओं (Cells) का स्नायु-मण्डल में संगठन हुआ तब जीवन से मनस् का विकास हुआ। पुद्गल की अपेक्षा जीवन उच्चतर तत्व है और जीवन की अपेक्षा मनस् उच्चतर तत्व है। पुद्गल के नियमों की अपेक्षा जीवन के नियमन के नियम उच्चतर हैं और जीवन के नियमों की अपेक्षा मनस् के नियमन के नियम उच्चतर हैं। इस प्रकार नव्योत्क्रान्तिवादी यह घोषित करते हैं कि शरीर और मनस् दोनों एक ही स्तर पर नहीं हैं। शरीर का फल (fruition) अथवा पूर्णता (perfection) ही वस्तुत: मनस् है। इसे (अर्थात् मनस् को) एक ऐसा पदार्थ कहा जा सकता है जिसे शरीर प्राप्त करता है अथवा जिसे शरीर के द्वारा प्रकृति (Nature) प्राप्त करती है।[1]

---

1. "Mind is something which the body achieves, or which Nature achieves by means of the body."

('Introduction to Philosophy' by Prof. Patrick, P. 299.)

मनस् चेतन, उद्देश्यात्मक एवं स्वनियंत्रित है जबकि शरीर अचेतन, निरुद्देश्य एवं पर नियंत्रित है। मनस् शरीर पर शासन करता है और शारीरिक क्रियाओं का संचालन करता है। इस प्रकार शरीर और मनस् के सम्बन्ध की समस्या स्वयमेव सुलझ जाती है।

समालोचना

इसमें सन्देह नहीं कि नव्योत्क्रान्तिवाद ने शारीर और मनस् के सम्बन्ध की समस्या का एक सुन्दर समाधान उपस्थित किया है। परन्तु इस सिद्धान्त में एक बड़ी कठिनाई यह सामने आती है कि यदि पुद्गल में जीवन पहले ही से विद्यमान नहीं था तब पुद्गल से उसका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है, और इसी प्रकार जब जीवन में मनस् पहले ही से विद्यमान नहीं था तब जीवन से उस (मनस्) का उद्विकास किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? असत् या शून्य से किसी भी प्रकार की सत्ता का आविर्भाव होना असम्भव है। अस्तु, यह मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, जैसाकि अध्यात्मवाद का दृष्टिकोण है, कि सृष्टि की मूलभूत सत्ता मनस् या चेतना है, और पुद्गल तथा जीवन मनस् या चेतना की ही अभिव्यक्तियां मात्र हैं अन्य कुछ नहीं।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. देह और मन के सम्बन्ध के सिद्धान्तों की आलोचना कीजिये।

   Discuss the theories of the relation between Mind and Body.

2. मनस् और जड़-तत्व के सम्बन्ध के विषय में मुख्य सिद्धान्तों में से किसी एक की विवेचना कीजिये।

   Discuss anyone of the principai theories concerning the relation of Mind and Matter.

3. मन और शरीर के सम्बन्ध की समस्या के दार्शनिक समाधान के रूप में उपोत्पादनवाद की समालोचना कीजिये। समानान्तरवाद से उसका क्या सम्बन्ध है?

   State and criticise Epiphenomenalism as a philosophical solution to the problem of the relation between the Mind and Body. How is it related to Parallelism?

4. मन और शरीर के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त बतलाइये और उनका सापेक्ष महत्व दिखलाइये।

   State different theories of the relation between Mind and Body and show their relative merits.

द्वादश अध्याय

संकल्प-स्वातन्त्र्य

(Freedom of Will)

संकल्प-स्वातन्त्र्य का विषय भी दार्शनिक संसार में सदा से एक बड़ा विवादास्पद विषय रहा है। कुछ दार्शनिकों ने कहा है कि मनुष्य संकल्प करने में पूर्ण स्वतन्त्र है ; अर्थात् अपने संकल्पों के नियमन या नियंत्रण में उसे पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त है ; वह जैसे चाहे वैसे ही अपने संकल्पों को मोड़ दे सकता है। इन दार्शनिकों के मत को 'अनियतत्ववाद' ('Indeterminism') की संज्ञा दी गई है। दूसरे दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य को तनिक भी संकल्प की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है ; वह अपने संकल्पों में नियंत्रितता के पाश में आबद्ध है, वह जसे चाहे वैसे अपने संकल्पों को दिशा नहीं दे सकता है। इनके मत को 'नियतत्ववाद' ('Determinism') का नाम दिया गया है। हम यहाँ संक्षेप में इन दोनों मतों पर विचार करेंगे और यह निर्णय करने की चेष्टा करेंगे कि हमें संकल्प की स्वतन्त्रता प्राप्त है या नहीं, और यदि हमें संकल्प की स्वतंत्रता है तो किस सीमा तक। किन्तु आगें बढ़ने से पूर्व सम्भवत: आवश्यक होगा कि हम संकल्प–स्वातंत्र्य का अर्थ समुचित प्रकार से समझ लें। अस्तु, सर्वप्रथम हम इसी पर प्रकाश डालेंगे।

संकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ (Meaning of the Freedom of Will)

जब हम सामान्य भाषा में 'स्वातंत्र्य' या 'स्वतंत्रता' शब्द का प्रयोग करते हैं उससे हमारा अभिप्राय दो बातों से होता है, प्रथम बाह्य नियंत्रण न होना, और दूसरे अपनी ही प्रकृति या स्वभाव के नियमों के अनुरूप चलने की क्षमता होना। इसी 'स्वतंत्रता' के प्रत्यय को जब 'संकल्प' के साथ जोड़ दिया जाता है और जब हम 'संकल्प की स्वतंत्रता' इस वाक्यांश का प्रयोग करते हैं तब हमारा अभिप्राय होता है कि विभिन्न परिस्थितियों या वस्तुओं में किसी एक को चयन करने की योग्यता होना और हमारे निर्णयों में किन्हीं बाह्य तत्वों से प्रभावित न होना। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि यदि हम अपने व्यवहार को अपने आदर्शों के अनुरूप परिवर्तित करने में समर्थ हैं तो हम स्वतंत्र हैं, और यदि हम में ऐसी सार्मथ्य नहीं है तो हम नियंत्रित (Determined) हैं।

नियतत्ववाद

(Determinism)

जैसा कि ऊपर बताया गया है नियतत्ववादी दार्शनिकों ने संकल्प की स्वतंत्रता को सर्वथा अस्वीकार किया है। वे अपने मत की पुष्टि में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं :

1. मनोवैज्ञानिक तर्क (Psychological Argument)

ऐच्छिक कार्यों का मनोविज्ञान तथा मानव व्यवहार की प्रागुक्ति — जब हम ऐच्छिक कार्यों (Voluntary actions) की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभमि पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि हमारे संकल्पों का कारण हमारी प्रेरणायें और इच्छायें होती हैं। और जब कभी अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तब सबसे अधिक बलशाली प्रेरणा या इच्छा ही संकल्प का कारण होती है। पुनः हम देखते हैं कि बलशाली प्रेरणाओं और इच्छाओं को आंशिक रूप से व्यक्ति का भौतिक एवं सामाजिक पर्य्यावरण और आंशिक रूप से उसका चरित्र एवं मानसिक गठन (mental constitution) नियंत्रित करते हैं। जहाँ तक भौतिक एवं सामाजिक पर्य्यावरण का प्रश्न है स्पष्ट ही है कि इन पर तो मनुष्य का नियंत्रण है ही नहीं; विचार करने पर यह भी शीघ्र ही बुद्धिगम्य हो जाता है कि व्यक्ति का चरित्र तथा मानसिक गठन भी उसके पूर्वजों की वंशागत प्रवृत्तियों (Inherited tendencies) से पूर्णतया नियंत्रित हैं। यदि मानव-संकल्पों के उन पूर्ववर्ती हेतुओं का ठीक ठीक ज्ञान हो जाय तो यह निश्चित है कि व्यक्तियों के भावी कार्यों (future actions) की प्रागुक्ति (prediction) उसी अचूकता के साथ की जा सकती है कि जैसे ग्रहों एवं उपग्रहों की गतिविधियों की और नदियों की बाढ़ों की।

2. तत्वमीमांसीय तर्क (Metaphysical Argument)

(क) **कारणता का नियम** — 'कारणता का नियम' संकल्प-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त का विरोध करता है। कारणता के नियम के अनुसार संसार की सभी घटनायें, भौतिक एवं मानसिक दोनों, सकारण घटित होती हैं, कोई भी घटना अकारण घटित नहीं होती। इस नियम के एकदम विपरीत संकल्प-स्वातंत्र्य का सिद्धान्त कहता है कि मनुष्य का संकल्प अपनी पूर्ववर्ती दशाओं से नियंत्रित नहीं होता। तब यह कहना होगा कि मनुष्य का संकल्प एक ऐसी घटना है जो अकारण घटित होती है, जो स्पष्ट ही एक असम्भव बात है।

(ख) **शक्ति-संरक्षण का नियम** — 'शक्ति-संरक्षण का नियम' भी संकल्प की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का खण्डन करता है। संकल्प की स्वतंत्रता एक प्रकार से मनस्

के बल प्रदान की क्रिया (energizing of the mind) है। इसमें हम 'गत्यात्मक तान्त्रिकोत्तेजन' ('motor innervation') के रूप में शरीर में एक नवीन भौतिक शक्ति उत्पन्न करते हैं और शरीर की इस शक्ति के द्वारा बाह्य जगत् में परिवर्तन लाते हैं। हम इस प्रकार अपने स्वतंत्र संकल्पों द्वारा विश्व की भौतिक शक्ति के योगफल में कुछ नवीन शक्ति जोड़ते हैं। परन्तु शक्ति-संरक्षण का नियम हमें बताता है कि संसार की भौतिक शक्ति का योगफल सर्वथा एक सा ही रहता है, वह न कभी बढ़ सकता है और न कभी घट सकता है। अस्तु इस नियम के साथ संकल्प-स्वातंत्र्य का समन्वय हो ही नहीं सकता।

(ग) **केवलोपादानेश्वरवादी या सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण** — संसार का केवलोपादानेश्वरवादी या सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण अनिवार्य रूप से हमें नियतत्ववाद की ओर उन्मुख करता है। केवलोपादानेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद कहता है कि ईश्वर ही एक मात्र सत्ता है; यह सम्पूर्ण जगत् (जिसमें मनुष्य के मन भी सम्मिलित हैं) उसी की अभिव्यक्ति (manifestation) है। इस जगत् में क्योंकि मनस् (mind) या किसी भी अन्य वस्तु की कोई स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं, अतः संकल्प की स्वतंत्रता का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ जो कुछ भी घटित हो रहा है वह सब नियंत्रितता के दृढ़ पाश में बंधा है। विख्यात सर्वेश्वरवादी दार्शनिक स्पिनोजा अपने ग्रन्थ 'Ethics' में कहते हैं, "There is in the mind no free will; but the mind is determined in willing this or that by a cause which is determined in its turn by another cause, and this by another and so on to infinity." (अर्थात् "मनस् में संकल्प-स्वातंत्र्य नहीं है; प्रत्युत वह (मनस्) यह संकल्प या वह संकल्प करने में एक कारण से नियंत्रित होता है जो क्रमशः अन्य कारण से नियंत्रित होता है और वह पुनः एक और अन्य कारण से, और इस प्रकार अनन्तता तक")। उनका उसी ग्रन्थ में पुनः कथन है कि "Men think themselves free, because they are conscious of their volitions and desires, but are ignorant of the cause by which they are led to wish and desire." (अर्थात् "मनुष्य स्वयं को स्वतंत्र इसलिये समझते हैं कि उन्हें अपने संकल्पों एवं इच्छाओं की चेतना तो रहती है किन्तु उन संकल्पों एवं इच्छाओं को निर्धारण करने वाले कारणों का ज्ञान नहीं रहता"।)। इस सिद्धान्त (अर्थात् सर्वेश्वरवाद) के अनुसार सम्पूर्ण मानव संकल्प अन्ततोगत्वा ईश्वर से ही नियंत्रित होते हैं।

(घ) **जड़वादी एवं प्रकृतिवादी दृष्टिकोण** — जड़वादी तथा प्रकृतिवादी सिद्धान्त, जिनके अनुसार यह सारा विश्व प्राकृतिक नियमों के अनुकूल गतिमान जड़

परमाणुओं का एक यांत्रिक संघात (mechanical aggregate) है, भी नियतत्ववाद की ही पुष्टि करते हैं। इनका दृष्टिकोण है कि मनस् मस्तिष्क (brain) का उपोत्पाद (epiphenomenon)मात्र है अन्य कुछ नहीं, अत: इसमें कारणात्मक शक्ति का होना संभव ही नहीं है जिसके परिणामस्वरूप इसमें संकल्प की स्वतंत्रता का होना भी शक्य नहीं है।

3. **ईश्वरमीमांसीय तर्क** (Pheological Argument)

ईश्वर का प्राग्ज्ञान[1] — नियतत्ववाद के समर्थक विचारकों का यह कथन है कि ईश्वर का प्राग्ज्ञान मनुष्य के संकल्प-स्वातंत्र्य से असंगत (inconsistent) है। ईश्वर का ईश्वरत्व इसी में है कि उसे विश्व की सम्पूर्ण (भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों की) घटनाओं एवं वस्तुओं का ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार ईश्वर केवल भविष्यत्कालीन प्राकृतिक घटनाओं का ही पूर्वदृष्टा नहीं है वरन् मनुष्यों की भावी क्रियाओं का भी पूर्व दृष्टा है। और ईश्वर की यह पूर्व दृष्टि या प्राग्ज्ञान इस बात का द्योतक है कि ईश्वर ने पहिले से ही मनुष्यों की क्रियाओं को नियंत्रित कर रखा है। तब उन (मनुष्यों) का संकल्प एवं क्रियाओं की स्वतंत्रता रह ही कहाँ जाती है ?

समालोचना

(1) नियतत्ववादी विचारकों द्वारा संकल्प का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है वह अयुक्त है। यह ठीक है कि संकल्प बलशाली प्रेरणा से नियंत्रित होता है; किन्तु गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रेरणा का बल मूलत: स्वयं मनस् या आत्मा (mind or self) पर ही निर्भर करता है पूर्ववर्ती परिस्थितियों पर नहीं। वही प्रेरणा बलशाली हो जाती है जिसे मनस् अपनी इष्ट वस्तु की प्राप्ति में सहायक समझकर चयन कर लेता है। अस्तु स्पष्ट है कि संकल्प किसी बाह्य परिस्थिति द्वारा नहीं प्रत्युत मनस् द्वारा ही नियंत्रित होता है।

जहाँ तक मनुष्य के भावी कार्यों की प्रागुक्ति (prediction) का प्रश्न है उससे भी यह प्रमाणित नहीं होता कि संकल्प पूर्ववर्ती हेतुओं से नियंत्रित है। संकल्प की स्वतंत्रता का अर्थ संकल्प की सनक नहीं जिससे कि मनुष्य के कार्यों की प्रागुक्ति एकदम हो ही न सके। यदि एक ही प्रकार के स्वतंत्र संकल्पों की पुनरावृत्ति कुछ समय तक बार बार होती रहती है तो उससे एक एकरूप (uniform) एवं स्थाई चरित्र का निर्माण होता है। एकरूप चरित्र एक सी परिस्थितियों में एकरूप व्यवहार (conduct) के रूप में ही प्रकट होता है;

1. Fore-knowledge

अतः उसकी प्रागुक्ति कुछ सीमा तक अवश्य ही की जा सकती है। मैकेन्जी (Mackenzie) का भी कथन है कि "The moral life means the building up of character, i. e. it means the forming of definite habits of action. And if a habit of action be definite, it is uniform and predictable." (अर्थात् "नैतिक जीवन का अर्थ है चरित्र निर्माण, अर्थात् आचरण की निश्चित आदतों का बनाना। और यदि आचरण करने की कोई आदत निश्चित है तो वह एकरूप होती है और उसकी प्रागुक्ति की जा सकती है[1]"।)।

(2) नियतत्ववाद का यह कथन असमीचीन है कि 'कारणता का नियम,' संकल्प-स्वातन्त्र्य का निराकरण करता है। संकल्प की स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि संकल्प जगत् की एक अकारण घटना (uncaused event) है। वास्तविकता यह है कि स्वयं मनस ही इसका कारण होता है; मनस् एक विशेष उद्देश्य की दृष्टि से बिना किसी बाह्य शक्ति से नियन्त्रित हुए, स्वतन्त्रतापूर्वक संकल्प किया करता है। अतः यह कहना होगा कि संकल्प अकारण नहीं होता, प्रत्युत स्वकारणित (self-causeed) होता है अर्थात् जिसका कारण स्व (आत्मा) या मनस् ही होता है।

पुनः, यह नहीं कहा जा सकता कि 'कारणता का नियम' नियंत्रितता और बाध्यता (Constraint) का द्योतक है। सत्य यह है कि यह नियम कारणता की एकरूपता मात्र का ही द्योतन करता है अन्य कुछ नहीं। इसके अनुसार पूर्ववर्तीघटनायें अपने ही अनुरूप घटनाओं को जन्म देती हैं, अर्थात् कारण अपने ही अनुरूप कार्यों (effects) को उत्पन्न करते हैं। संकल्प भी चरित्र के अनुरूप ही हुआ करते हैं या किये जाते हैं। अतः उन्हें भी कारणता के नियम के विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।

नियतत्ववादियों की यह घोषणा भी असत्य है कि विश्व की सभी भौतिक घटनाओं में नियंत्रितता है। विख्यात वैज्ञानिक हैजेन्बर्ग (Heisenburg) भौतिक विज्ञान (Physics) के क्षेत्र में अनियंत्रितता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जब विद्युदणु (Electron) परमाणु के अन्दर अपने केन्द्रिक (nucleus) के चारों ओर विद्युत-गति (Electricity speed) से चक्कर लगाता है, तब किन्हीं भी वैज्ञानिक साधनों द्वारा उसके गति-पथ को पहिले ही से जाना नहीं जा सकता। अस्तु विदित होता है कि परमाणु जगत् में अनियंत्रितता विद्यमान है। अब यदि इस क्षेत्र में अनियंत्रितता है, तो संकल्प के क्षेत्र में भी अनियंत्रितता अथवा स्वतन्त्रता का होना कदापि अवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

---

1. "Manual of Ethics"

(3) शक्ति-संरक्षण के नियम का यदि व्यापक अर्थ समुचित रीति से जान लिया जाये, तो यह शीघ्र समझ में आ सकता है कि यह नियम संकल्प-स्वातन्त्र्य का निराकरण कदापि नहीं करता। जब हम इसे 'मानसिक शक्ति' के क्षेत्र में भी लागू करते हैं, तब हमें ज्ञात होता है कि संकल्प में जिस मानसिक शक्ति की क्षति होती है उसकी क्षतिपूर्ति (Compensation) गत्यात्मक तन्त्रिकोत्तेजन में उसी के तुल्य भौतिक शक्ति की उत्पत्ति के द्वारा हो जाती है।

(4) केवलोपादानेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद को जगत् की समुचित व्यवस्था का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता। जगत् की ईश्वर के साथ तदात्मता (identity) प्रतिपादित करने के कारण इस सिद्धान्त में अनेक तार्किक दोष हैं जिनकी विस्तृत चर्चा हम "ईश्वर" नामक चतुर्दश अध्याय में करेंगे[1]। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि हम भारतीय दर्शन में शांकर दर्शन की ओर ध्यान दें तो हमें संकल्प स्वातन्त्र्य की समस्या का बहुत ही सुन्दर समाधान प्राप्त हो सकता है। इसका स्पष्टीकरण इसी अध्याय में हम आगे करेंगे।

(5) जड़वाद तथा प्रकृतिवाद भी सृष्टि की संतोषजनक व्याख्या के सिद्धांत नहीं माने जा सकते। जैसा कि इन सिद्धान्तों में प्रतिपादित किया गया है मनस् मस्तिष्क का उपोत्पाद या आनुषंगिक उत्पत्ति (by-product) कदापि नहीं कही जा सकती[2]। आत्म-क्रियाशीलता (self-activity) के रूप में इस (मनस्) की कारणात्मक शक्ति का अनुभव सभी को होता है, जिसके फलस्वरूप संकल्प की स्वतन्त्रता स्वयमेव प्रमाणित हो जाती है।

(6) ईश्वर का प्राग्ज्ञान मानव के संकल्प--स्वातन्त्र्य से असंगत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्राग्ज्ञान का अर्थ अनिवार्य रूप से नियंत्रितता ही है, ऐसा नहीं है। जैसे कि यह संभव है कि एक अच्छे ज्योतिषी को किसी व्यक्ति के भावी कार्यों का प्राग्ज्ञान हो, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वह ज्योतिषी उस व्यक्ति के उन कार्यों को नियन्त्रित भी करता है। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि ईश्वर को सम्पूर्ण मानव क्रियाओं (जिनमें भविष्यत् काल की क्रियायें भी सम्मिलित हैं) का प्राग्ज्ञान है इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ईश्वर उन सब क्रियाओं को नियन्त्रित भी करता है। जर्मन दार्शनिक लाइब्नित्ज (Leibnitz) कहते हैं कि "Fore knowledge is not injurious to freedom." (अर्थात् "प्राग्ज्ञान स्वतन्त्रता के लिये घातक नहीं है"।)। इसी

---

1. किन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि हमारे मत से सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त में भी मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्र्य को स्थान है।

2. देखिये सप्तम अध्याय।

प्रसंग में उनका यह भी कथन है कि "God foresaw the sin, but He did not force the man to commit it." (अर्थात् "ईश्वर ने होने वाले पाप को पहले ही देख लिया था किन्तु उसने मनुष्य को पाप करने से लिये बाध्य नहीं किया"।)

अनियतत्ववाद

(Indeterminism)

अनियतत्ववाद कई बार ऐसे दार्शनिक दृष्टिकोण का द्योतक समझा जाता है कि जो स्वतन्त्रता का अर्थ सर्वथा बन्धनहीनता प्रतिपादित करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनस् या आत्मा अपने संकल्पों का नियन्त्रण बिना किसी प्रेरणा (Motive) के कर सकता है। वह किसी भी प्रयोजन के बिना अनेक विकल्पों में से किसी को भी यादृच्छिक रूप से (arbitrarily) चयन कर सकता है। संकल्पों का व्यक्ति के चरित्र या स्वभाव आदि से, किसी भी प्रकार का कार्य-कारण सम्बन्ध निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस विचार-धारा के अनुसार मनुष्य के संकल्प पूर्णतया अकारण एवं अनियन्त्रित (undetermined) हैं।

आत्म-नियन्त्रण ही वास्तविक स्वतन्त्रता है

जब हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो हम पर शीघ्र ही यह प्रकट हो जाता है कि जिन विचारकों ने 'अनियतत्ववाद' का उपर्युक्त प्रकार से प्रतिपादन या समर्थन किया है उनका मत भारी दार्शनिक भूलों से भरा है। ऐसी स्वतन्त्रता 'जिसमें मनुष्य अकारण किसी क्षण कुछ भी कर दे" अर्थात् 'जिसका रूप सनक (Caprice) जैसा हो' वस्तुत: स्वतन्त्रता कही ही नहीं जा सकती; वह तो एक निम्न कोटि की परतन्त्रता ही है जिसे मैथ्यु आर्नोल्ड (Mathew Arnold) ने "bondage of the passing moment." की संज्ञा दी है। महान् दार्शनिक हीगेल (Hegel) का मत है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता, जो अत्यन्त अनियन्त्रितता या अनियमितता है, निश्चित रूप से अपने विरोधी प्रत्यय 'नियन्त्रितता' में परिणित हो जाती है। वास्तविकता यह है कि स्वतन्त्रता पूर्णतया बन्धनराहित्य नहीं, प्रत्युत आत्म-नियन्त्रण (self-determination) है। बाह्य परिस्थितियों या तत्वों का दास होने पर ही व्यक्ति परतन्त्र होता है। परन्तु यदि वह अपने ही मनस् या आत्मा द्वारा अनेक विकल्पों में से किसी विकल्प को बौद्धिक-दृष्ट्या (reasonably) चयन करता है तो यह उसकी सच्ची स्वतन्त्रता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेरणायें (motives) या इच्छायें ही संकल्पों का निर्धारण करती हैं, परन्तु प्रेरणायें या इच्छायें मनस् या आत्मा की ही तो होती हैं। अन्तर्द्वन्द्व की परिस्थिति में जब

विरोधी प्रेरणाओं में संघर्ष हो जाता है तब चुनाव का कार्य भी तो आत्मा ही करता है। अस्तु स्पष्ट है कि संकल्पों का बाह्य नियंत्रण कदापि नहीं, केवल आत्म-नियंत्रण है। और आत्म-नियंत्रण परतंत्रता या नियंत्रितता कदापि नहीं, यह वास्तविक स्वतंत्रता है।

संकल्प की स्वतंत्रता और चरित्र

संकल्पों का चरित्र से भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है। संकल्पों से चरित्र का निर्माण होता है, और चरित्र संकल्पों का नियंत्रण करता है। जब एक व्यक्ति स्वतंत्र संकल्पों द्वारा कुछ कार्यों को कुछ काल तक बार बार करता रहता है तब उनसे एक स्थाई चरित्र के निर्माण हो जाने के पश्चात् वह सामान्य रूप से अपने चरित्र के अनुरूप ही एकरूपता से (uniformly) व्यवहार किया करता है; जिस कारण से उसके भावी व्यवहार (future conduct) की किसी सीमा तक प्रागुक्ति की जा सकती है। उदाहरण के रूप में जैसे एक व्यक्ति ने धीरे धीरे ईमानदारी का अपना एक स्थाई चरित्र निर्माण किया है। हम इस व्यक्ति की ईमानदारी पर भरोसा करते हैं और यह कह सकते हैं कि यह व्यक्ति भविष्य में भी ईमानदारी से ही कार्य करेगा। परन्तु इस प्रकार चरित्र के अनुरूप कार्य करने से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि यह व्यक्ति परतंत्र है। इसने स्वतंत्र संकल्पों द्वारा स्वयं ही अपना चरित्र निर्माण किया है; तब यदि इसका चरित्र गहरी आदतों के कारण, इसके संकल्पों और व्यवहार को कुछ सीमा तक नियंत्रित करता है तो इससे इसे परतंत्र या नियंत्रित कहना सर्वथा असंगत है। स्व-नियंत्रितता या आत्म-नियंत्रितता ही, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, वस्तुत: सच्ची स्वतंत्रता है।

संकल्प-स्वातंत्र्य के पक्ष में भावात्मक तर्क

(Positive Arguments in Favour of the Freedom of Will)

हमने ऊपर नियतत्ववाद की जो समालोचना दी है और अनियतत्ववाद एवं संकल्प की स्वतंत्रता के विषय में जो बातें कहीं हैं उस सबसे पाठकों को यह तो ज्ञात हो गया है कि मानव संकल्प के विषय में नियतत्ववादी तथा पूर्ण-अनियतत्ववादी (completely indeterministic) दोनों ही मत अनेक दोषों से युक्त हैं, और संकल्प न सर्वथा नियंत्रित है और न ही सर्वथा अनियंत्रित, प्रत्युत आत्म-नियंत्रित है। अब हम यहाँ संकल्प-स्वातंत्र्य के पक्ष में भावात्मक तर्कों को भी प्रस्तुत करना आवश्यक समझते हैं जिससे कि अध्येताओं के मन में इसकी मौलिक पृष्ठभूमि और अधिक सुस्पष्ट एवं सुदृढ़ हो सके।

1. **स्व-चेतना का तर्क** (Argument from self-consciousness)

दार्शनिकों का कथन है कि संकल्प करने की मानसिक क्रिया में हमें सर्वदा

ही इस बात की स्पष्ट चेतना रहती है कि हम, बिना किसी बाह्य नियंत्रण के, स्वतंत्र रूप से संकल्प कर रहे हैं, और अपनी प्रयोजन-सिद्धि की दृष्टि से अपने संकल्पों को जैसे चाहें वैसे मोड़ दे सकते हैं और दे रहे हैं। इस स्वतंत्रता की चेतना की अनुभूति उस समय विशेष रूप से होती है जब हमारे सम्मुख कई विकल्प होते हैं और उन विकल्पों में से हमें कोई एक विकल्प चुनना पड़ता है। संकल्प की स्वतंत्रता की चेतना की प्रत्यक्ष अनुभूति (direct experience) संसार के सभी मनुष्यों को है इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। महान् जीव-वैज्ञानिक एच० डब्ल्यु० कार (H. W Carr) भी इसकी पुष्टि बड़े बलपूर्ण शब्दों में करते हुए कहते हैं, "In speaking of freedom as a character of individuality I am referring to a (biological) fact and not propounding a theory." (अर्थात् "व्यष्टित्व के चरित्र के रूप में स्वतंत्रता की चर्चा करने में मेरा अभिप्राय एक जीव-वैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करने में है किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन करने में नहीं"।)।

2. **नैतिक चेतना का तर्क** (Argument from moral consciousness)

मनुष्य की नैतिक चेतना उसके संकल्प की स्वतंत्रता का एक भारी प्रमाण है। अर्थात् यदि नैतिक कर्तव्य या नैतिक उत्तरदायित्व (moral responsibility) का कोई अर्थ है तो ममुष्य को संकल्प की स्वतंत्रता अवश्य ही प्राप्त है। स्पष्ट ही है कि मनुष्य अपने कार्यों (actions) के लिये उत्तरदायी तभी ठहराया जा सकता है जबकि उसे अपने ऐच्छिक कार्यों (voluntary actions) के करने में स्वतंत्रता हो। वह यदि कार्य करने में किन्हीं बाह्य कारकों (external factors) से नियंत्रित है तो उसके कार्यों पर कोई भी नैतिक निर्णय नहीं दिया जा सकता। काण्ट कहते हैं कि संकल्प की स्वतंत्रता नैतिक निर्णय का एक "आवश्यक अभ्युपगम" ("Necessary Postulate") है। हम समाज में जब अपने समीपवर्ती लोगों के चरित्र तथा व्यवहार पर शुभ या अशुभ होने का निर्णय देते हैं तब हमारे निर्णय की यह पूर्वमान्यता (presupposition) होती है कि वे लोग स्वतंत्र नैतिक कर्त्ता (free moral agents) हैं और वे अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी हैं। नैतिक निर्णयों में सर्वदा ही एक "चाहिये" ("oughtness") का भाव छिपा रहता है जो संकल्प की स्वतंत्रता का द्योतन करता है। इसे सरल रूप में यों प्रस्तुत किया गया है: "तुम्हें करना चाहिये, अतः तुम कर सकते हो" ("Thou oughtst, therefore, thou canst")। यदि "करना चाहिये" एक सत्यता है, तो "कर सकते हो" भी एक सत्यता है। हम प्राकृतिक घटनाओं तथा वनस्पति की गति-विधियों के सम्बन्ध में अपने नैतिक निर्णय नहीं देते, क्योंकि वे भौतिक कारणों से पूर्णतया नियंत्रित होती हैं। हम पशु पक्षियों, बालकों तथा पागलों के कार्य-कलापों को भी

अपने निर्णयों का भाजन नहीं बनाते, क्योंकि उनके कार्य भी स्वतन्त्र नहीं हैं। हम केवल वयस्क लोगों के ऐच्छिक कार्यों को ही शुभ या अशुभ बताते हैं क्योंकि वे अपने संकल्पों तथा कार्यों में स्वतन्त्र हैं और इसी कारण उनके लिए उत्तरदायी हैं। वास्तविकता यह है कि कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व, सद्गुण और दुर्गुण, पुण्य और पाप सभी निरर्थक हो जाते हैं, यदि मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता नहीं है। नैतिकता क्योंकि एक सत्यता है, अतः संकल्प की स्वतन्त्रता भी एक सत्यता है।

3. निरपेक्ष अध्यात्मवाद[1] में संकल्प-स्वातंत्र्य

(Freedom of Will in Absolute Idealism)

हीगेल अपने निरपेक्ष अध्यात्मवाद का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यह सारा संसार परम सत्ता (Absolute) या ईश्वर (God) का बाह्यीकरण (externalisation) है। सान्त मन (finite minds) या जीवात्मायें (individual souls) इसी परम सत्ता या ईश्वर, जिसे वह कई बार निरपेक्ष चेतना (Absolute Reason) या विश्व-चेतना (Universal Reason) के नाम से भी अंकित करते हैं, की ही सान्त पुनरभिंव्यक्तियाँ (finite reproductions) हैं। अतः सान्त मन ईश्वर (जो पूर्ण स्वतंत्र है) की स्वतन्त्रता में भागीदार होते हैं, अर्थात् ईश्वर की पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ किसी अंश में उन्हें भी संकल्प की स्वतन्त्रता प्राप्त है। ईश्वर की स्वतन्त्रता निरपेक्ष है, किन्तु सान्त मनों या जीवात्माओं की स्वतन्त्रता सापेक्ष (relative) है। सान्त मनों या जीवात्माओं की स्वतन्त्रता प्रकृति की भौतिक शक्तियों, स्वकीय अवयवसंस्थानों (अर्थात् शरीरों), सामाजिक तत्वों, ईश्वर की स्वतन्त्रता आदि कारकों (factors) द्वारा सीमित है।

4. शांकर दर्शन में संकल्प-स्वातन्त्र्य[2]

(Freedom of Will in Shankara's Philosophy)

आचार्य शंकर का कथन है कि (निर्विशेष) ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता (Reality) है, यह सारा जगत् उसी ब्रह्म–रूपी अधिष्ठान (substratum) में आभासित होने वाली मिथ्या प्रतीति है, और जीव (individual soul) तत्वतः ब्रह्म ही है; उसकी कोई पृथक सत्ता नहीं। ऊपरी रूप से दृष्ट यह होता है कि ऐसे दर्शन में जहाँ ब्रह्म से स्वतन्त्र जीव की अपनी कोई सत्ता ही नहीं है वहाँ जीव के संकल्प–स्वातन्त्र्य का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किन्तु, वास्तविकता यह है कि ऐसा समझना शांकर दर्शन के समग्र रूप को न समझने का परिचायक है।

---

1. निरपेक्ष अध्यात्मवाद को कई बार वस्तुनिष्ठ अध्यात्मवाद (Objective Idealism) भी कहा जाता है।
2. तुलना की दृष्टि से हम यह संदर्भ प्रस्तुत कर रहे हैं।

शंकर जब ब्रह्म को ही एक मात्र सत्ता कहते हैं तब उनका कथन केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण (Trascendental standpoint) से है व्यावहारिक दृष्टिकोण (Empirical standpoint) से नहीं । पारमार्थिक दृष्टिकोण से वस्तुत: न जीव की कोई प्रथक् सत्ता है और परिणामस्वरूप (Consequently) न ही उसके संकल्प-स्वातन्त्र्य का कोई प्रश्न उपस्थित होता है । परन्तु, व्यावहारिक दृष्टिकोण से शंकर ब्रह्म को सविशेष रूप में मानते हैं और जगत् एवं जीव दोनों की सत्ता प्रतिपादित करते है । अत: वह मनुष्य के संकल्प–स्वातन्त्र्य एवं कर्म स्वातन्त्र्य की भी बड़े स्पष्ट रूप में घोषणा करते हैं । यही कारण है कि वह अपने प्रस्थान-त्रय (उपनिषदों, गीता तथा ब्रह्म सूत्र) के भाष्यों में सर्वत्र विभिन्न प्रकार के कर्तव्य-कर्मों के करने पर इतना बल देते हैं ।[1] किन्तु, इस स्थान पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यों की संकल्प तथा कर्म करने की स्वतंत्रता का ईश्वर की स्वतंत्रता के साथ कैसे सामञ्जस्य स्थापित किया जाये ? यदि मनुष्य का संकल्प ईश्वर के संकल्प से स्वतन्त्र है, तो इसका अर्थ यह होगा कि ईश्वर का संकल्प सर्वोपरि एवं सर्व-स्वतन्त्र नहीं है । और यह स्थिति ईश्वर की परिभाषा का ही निराकरण करेगी । इस आपत्ति के विरुद्ध हमारा यह कथन है कि ईश्वर की स्वतन्त्रता के साथ मनुष्य की स्वतन्त्रता का असामञ्जस्य तभी उत्पन्न होगा जबकि ईश्वर की निरपेक्ष स्वतन्त्रता (Absolute freedom) के सदृश मनुष्य की स्वतन्त्रता को भी निरपेक्ष कहा जाये । परन्तु, हमारे मत से मानव की स्वतन्त्रता केवल सापेक्ष (relative) तथा आंशिक स्वतन्त्रता है और यह स्वतन्त्रता ईश्वर की स्वतन्त्रता पर ही निर्भर करती है । अत: दोनों स्वतन्त्रताओं का सामन्जस्य नितान्त संगत है । इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा बड़ी सरलता से समझा जा सकता है । जब आप रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे होते हैं, तब किसी अंश में आप स्वतन्त्र हैं और एक बड़े अंश में आपकी स्वतन्त्रता रेलगाड़ी चालक की स्वतन्त्रता पर भी निर्भर करती है । आप गाड़ी में बैठे अपने मित्रों के साथ बात कर सकते हैं, मौन रह सकते हैं, पुस्तक पढ़ सकते हैं, भोजन कर सकते हैं, कोई खेल खेल सकते हैं, आदि आदि; जो चाहे आप कर सकते हैं । परन्तु, आपकी ये सब स्वतन्त्रतायें चालक की स्वतन्त्रता पर भी आश्रित हैं, क्योंकि कौन जानता है कि चालक के मन में कोई सनक आये और वह आपकी गाड़ी को किसी बड़ी खाई में ले जाकर फेंक दे और इस प्रकार कुछ क्षणों में ही आपकी सम्पूर्ण स्वतन्त्रतायें नष्ट भ्रष्ट हो जायें । इसी प्रकार जीवन में आपको यह स्वतन्त्रता है कि आप शुभ कर्म करें या अशुभ कर्म, परिश्रमी होवें या प्रमादी,

1. देखिये बृहदारण्यकोपनिषद्, 3. 2. 13; गीता 6. 17 तथा ब्रह्म सूत्र 3. 3. 53 पर शांकर भाष्य ।

व्यवसाय करें या नौकरी, दर्शनशास्त्र का अध्ययन करें या राजनीति शास्त्र का; परन्तु आपकी ये सारी स्वतन्त्रतायें ईश्वर की सर्वोपरि स्वतन्त्रता पर आधारित हैं। वह चाहे तो अपनी दैवी शक्ति द्वारा क्षण भर में ही भूकम्प, आंधी तथा तूफानों द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को ही नष्ट कर सकता है और इस प्रकार आपकी सारी स्वतन्त्रतायें सहज ही समाप्त हो सकती हैं। अतः स्पष्ट होता है कि जैसे रेलगाड़ी के यात्रियों की स्वतन्त्रता रेलगाड़ी–चालक की स्वतन्त्रता से सीमित है, ऐसे ही संसार रूपी रेलगाड़ी के यात्रियों, अर्थात् मनुष्यों, की स्वतन्त्रता भी इस गाड़ी के चालक, अर्थात् ईश्वर, की स्वतन्त्रता से सीमित है।

विभिन्न विश्वविद्यालय में पूछे गये प्रश्न

1. "संकल्प की स्वतन्त्रता" का क्या अर्थ है ? विवेचना कीजिये कि क्या यह जगत् के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विरुद्ध है ।
   What is thc meaning of "Freedom of Will" ? Discuss whether it goes against the scientific view of the world.

2. स्वतन्त्र संकल्प और नियतत्ववाद की समस्या समझाइये ।
   Explain the problem of Free Will and Determinism.

3. 'संकल्प-स्वातन्त्रय' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये ।
   Write a short essay on "Freedom of Will."

4. नियतत्ववाद के पक्ष तथा विपक्ष में दी गई युक्तियों को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कीजिये ।
   Indicate clearly the arguments given for and against Determinism.

त्रयोदश अध्याय

ज्ञानमीमांसा

(Epistemology or Theory of Knowledge)

ज्ञानमीमांसा का शब्दार्थ है "ज्ञान का परीक्षण"। अतः 'ज्ञान मीमांसा' से अभिप्राय लिया जाता है 'ज्ञान की वह शाखा जिसमें ज्ञान का परीक्षण किया जाय'। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'ज्ञानमीमांसा' ज्ञान की वह शाखा या विज्ञान है जिसके अन्तर्गत ज्ञान के स्वरूप, उसकी उत्पत्ति तथा उसकी सीमाओं के विषय में विचार एवं छानबीन की जाये। अंग्रेजी भाषा में 'ज्ञान-मीमांसा' का पर्यायवाची शब्द 'Epistemology' है। 'Epistemology' शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों 'Episteme' तथा 'Logos' से मिलकर बना है। 'Episteme' का अर्थ है 'ज्ञान' और 'Logos' का अर्थ है 'विज्ञान' या 'मीमांसा'। अतः 'Epistemology' का अर्थ होता है 'ज्ञान विज्ञान' या 'ज्ञानमीमांसा'। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि 'ज्ञानमीमांसा' और 'Epistemology' दोनों पूर्णतया समानार्थक शब्द हैं।

इस स्थान पर ज्ञानमीमांसा का मनोविज्ञान तथा तर्कशास्त्र (या तर्क विज्ञान) से अन्तर इंगित कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध भी ज्ञान (या चेतना) से है, परन्तु इसमें ज्ञान के तीन मौलिक पक्षों अर्थात् चेतना की तीन मौलिक वृत्तियों – ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (affective) तथा क्रियात्मक (conative) — पर इस दृष्टि से विचार किया जाता है कि वे हमारे जीवन में सामान्यतया कैसे घटित होती हैं। तर्क विज्ञान या तर्क शास्त्र का सम्बन्ध ज्ञान की सत्यता या प्रमाणिकता से है। वह विचार के उन नियमों तथा दशाओं (conditions) का निर्धारण करता है जिनके द्वारा सत्य, ज्ञान (True knowledge) की प्राप्ति की जा सकती है। परन्तु ज्ञानमीमांसा या ज्ञान-विज्ञान प्रामाणिक ज्ञान (Valid knowledge) के स्वरूप पर विचार करते हुए यह भी खोज करने का प्रयत्न करता है कि ज्ञान के उत्पत्ति-स्रोत (Sources of know-ledge) क्या हैं अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि (या विचार) द्वारा होती है अथवा

इन्द्रियानुभव (Sense-experience) द्वारा अथवा बुद्धि तथा इन्द्रियानुभव दोनों के सहयोग द्वारा। साथ ही साथ यह इस विषय पर भी विचार करता है कि हमारे ज्ञान की पहुँच कहाँ तक है अर्थात् ज्ञान की क्या सीमायें हैं।

ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?— ज्ञानमीमांसा के इस मूलभूत एवं महत्वपूर्ण प्रश्न पर दार्शनिकों ने सदा ही बड़ी गहराई से विचार किया है, और भिन्न-भिन्न ढंग से इसका उत्तर दिया है। दार्शनिकों के ये विभिन्न उत्तर ही ज्ञान-मीमांसा के विभिन्न सिद्धान्तों के नाम से प्रख्यात हो गए हैं जिनमें से मुख्य निम्न प्रकार से हैं :—

(1) बुद्धिवाद (Rationalism)
(2) अनुभववाद (Empiricism)
(3) संशयवाद (Scepticism)
(4) समीक्षावाद (Criticism or Critical Theory)
(5) रहस्यवाद (Mysticism)
(6) अन्तःप्रज्ञावाद (Intuitionism)

अब हम इन सभी सिद्धान्तों पर क्रमेण विचार करेंगे।

बुद्धिवाद
(Rationalism)

बुद्धिवाद की मान्यता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान उसे बुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है। सत्य एवं प्रामाणिक ज्ञान का एकमात्र साधन बुद्धि है, इन्द्रियां नहीं। जीवन में हम यह देखते हैं कि इन्द्रियां प्रायः पग-पग पर हमें धोखा देती रहती हैं। जो ज्ञान हमें उनके द्वारा प्राप्त होता है वह सत्य एवं विश्वसनीय ज्ञान कभी नहीं कहा जा सकता। अतः यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि के लिये हम केवल बुद्धि पर ही निर्भर कर सकते हैं, इद्रियों पर नहीं। बुद्धिवाद कहता है कि हमारे मनस् या बुद्धि में जन्म से ही कुछ ऐसे प्रत्यय होते हैं जो पूर्णरूपेण स्पष्ट, विविक्त (distinct) तथा असन्दिग्ध होते हैं। हमारा प्रामाणिक ज्ञान वस्तुतः इन्हीं जन्मजात प्रत्ययों से उत्पन्न होता है।

अब हम निम्न पंक्तियों में कुछ प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिकों के बिचार प्रस्तुत करेंगे, जिससे कि इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला जा सके :—

1. डेकार्ट

(क) प्रत्ययों के प्रकार – आधुनिक यूरोपियन दर्शन के जनक महान् फ्रांसीसी

दार्शनिक डेकार्ट बुद्धिवादी (Rationalist) थे। उन्होंने सभी प्रत्ययों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है :(1)आगन्तुक प्रत्यय(Adventitious ideas) (2)कृत्रिम प्रत्यय (Factitious ideas) (3) जन्मजात या जन्मगत प्रत्यय (Innate ideas)। (1) आगन्तुक प्रत्यय वे प्रत्यय हैं जो इन्द्रियों के द्वारा बाहर से हमारे मनस् पर अंकित होते हैं। ये स्पष्ट (clear) और विविक्त (distinct) नहीं होते। इन्हें संवेदनायें भी कहा जाता है। (२) कृत्रिम प्रत्यय वे प्रत्यय हैं जिनकी सृष्टि हमारा मनस् विभिन्न प्रत्ययों के संयोग से करता है। हम यह कह सकते हैं कि ये हमारी कल्पना द्वारा रचे हुए प्रत्यय होते हैं। ये भी स्पष्ट एवं विविक्त नहीं होते ; इस प्रकार आगन्तुक तथा कृत्रिम दोनों ही प्रकार के प्रत्यय संदिग्ध होते हैं। और (3) जन्मजात या जन्मगत प्रत्यय वे प्रत्यय हैं जो पूर्णतया स्पष्ट, विविक्त एवं असन्दिग्ध होते हैं। इनकी छाप जन्म के समय ईश्वर हमारे मनस् पर छोड़ देता है। ये प्रागनुभव प्रत्यय (A-priori ideas) होते हैं, अर्थात् इनकी उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती। अनुभव के पूर्व ही ये स्वतःसिद्ध (self evident) होते हैं।

(ख)**जन्मजात या जन्मगत प्रत्यय** – डैकार्ट के अनुसार अनन्तता(Infinity), अनश्वरता (Eternity), एकता (Unity), कार्य-कारणता (Causality), पूर्णता (Perfection), आदि जन्मगत प्रत्यय हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है ये पूर्णतया स्पष्ट और निश्चित रूप से सत्य प्रत्यय होते हैं। क्योंकि ये सभी मनुष्यों में जन्म से ही विद्यमान होते हैं इसलिये इन्हें जन्मजात या जन्मगत कहा गया है। इनकी उत्पत्ति और सत्यता हमारे अनुभव पर आश्रित नहीं करती ; ये हमारे अनुभव से पूर्व ही सदा स्वतःसिद्ध सत्यों (self-evident truths) के रूप में रहते हैं। उदाहरण के रूप में 'एकता' और 'कार्य-कारणता' के प्रत्ययों को ही ले लीजिये। **प्रथम,** अनुभव किये बिना ही हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि अमुक वस्तु गोल-वर्गाकार (round-square) नहीं हो सकती ; क्योंकि 'एकता' का जन्मगत प्रत्यय हमें बाध्य करता है कि हम एक वस्तु को एक समय में एक ही रूप में जान सकते हैं, गोलाकार रूप में या वर्गाकार रूप में, दोनों रूपों में नहीं। **पुनः**, इसी प्रकार अनुभव के पूर्व ही हम बलपूर्वक यह कह सकते हैं कि अमुक घटना बिना किसी कारण के घटित नहीं हो सकती; क्योंकि 'कार्य-कारणता' का जन्मगत प्रत्यय हमें बाध्य करता है कि विश्व की प्रत्येक घटना या वस्तु का कोई न कोई कारण अवश्य होता है; अकारण कुछ भी नहीं होता।

डैकार्ट तथा अन्य बुद्धिवादी दार्शनिकों का यह कथन है कि 'विचार के मौलिक नियम' (Fundamental Laws of Thought) भी जन्मगत प्रत्ययों में ही सम्मिलित हैं, क्योंकि उनकी सत्यता अनुभव पर आधारित नहीं और न ही उनके विषय में **मतवैभिन्न्य** है। सभी लोग स्वाभाविक रूप से एकमत होकर उनकी सत्यता

स्वीकार करते हैं। उदाहरण के रूप में संसार का कोई भी व्यक्ति यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि दो और दो मिलकर चार होते हैं, पाँच या छ: नहीं होते। साथ ही संसार का प्रत्येक व्यक्ति यह भी सहज ही स्वीकार करेगा कि गाय गाय ही है; गाय भैंस, घोड़ा या हाथी नहीं हो सकती।

(ग) **ज्ञान का विकास** — डेकार्टे प्रतिपादित करते हैं कि हमारे सम्पूर्ण ज्ञान का प्रासाद इन जन्मगत प्रत्ययों की आधार-शिला पर ही खड़ा है। जिस प्रकार रेखा-गणित (Geometry) में हम कुछ स्वयं-सिद्ध प्रत्ययों (Axioms) द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के निष्कर्ष निकालते हैं, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में बुद्धि द्वारा इन स्वयं-सिद्ध प्रत्ययों से हम आत्मा, परमात्मा तथा संसार के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं। वह 'आत्मा' के जन्मगत प्रत्यय से प्रारम्भ करते हैं। उनका कथन है कि संसार में कोई भी व्यक्ति 'अपने' अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। यदि कोई कहता है कि वह अस्वीकार करता है, तो भी उसकी अस्वीकारोक्ति (statement of denial) में ही उसके 'अपने' अस्तित्व की स्वीकृति छिपी रहती है। 'संदेह करना' ही 'विचार करना' है और 'विचार करना' ही 'होना' है। "चिन्तये अतोऽस्मि" ("Cogito ergo sum")"; अर्थात् "मैं विचार करता हूँ, इसलिये मैं हूँ"। आत्मा के पश्चात् डेकार्टे 'अनन्तता' के जन्मगत प्रत्यय की ओर बढ़ते हैं। वह कहते हैं कि 'अनन्तता' का प्रत्यय मेरे द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि मैं एक सान्त प्राणी (finite being) हूँ। सान्त वस्तुएँ अनन्त वस्तु को जन्म नहीं दे सकती। अनन्तता का प्रत्यय अनन्त सत्ता के द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। अत: सिद्ध होता है कि अनन्त सत्ता (या ईश्वर) है। तदनन्तर ईश्वर की सत्ता के द्वारा ही डेकार्टे जगत् के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि बाह्य जगत् की सत्ता के विषय में हमारा दृढ़ निश्चय (Conviction) है। यह दृढ़ निश्चय ईश्वर के द्वारा ही उत्पन्न किया हुआ है। अब यदि जगत् की सत्ता के बिना ही ईश्वर ने ऐसा दृढ़ निश्चय हममें उत्पन्न कर दिया है, तब ईश्वर एक महान् वञ्चक (Deceiver) सिद्ध हो जायेगा[1]। अस्तु निष्कर्ष यह निकलता है कि बाह्य जगत् की सत्ता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि डेकार्टे गणित–प्रणाली (Mathematical Method) को दर्शनशास्त्र पर लागू करते हैं। पॉलसेन (Paulsen) इसी कारण

1. "If God induced in us a deeply rooted conviction of the existence of an external world, when no such world existed, He could not be defended against the charge of being a deceiver."

(Frank Thilly on 'Descartes').

उनके बुद्धिवाद को 'गणितात्मक बुद्धिवाद' (Mathematical Rationalism) की संज्ञा प्रदान करते हैं।

2. स्पिनोजा

हॉलैण्ड के विख्यात दार्शनिक स्पिनोजा 'द्रव्य' या 'ईश्वर' के जन्मगत प्रत्यय से प्रारम्भ करते हैं। उनका कथन है कि द्रव्य स्वयंभू (Self-existent) तथा स्व-संवेद्य (Self-conceived) सत्ता है। साथ ही साथ यह असीम भी है। इसके अनन्त गुण (Attributes) हैं, किन्तु उनमें से केवल दो गुण 'विचार' (Thought) और 'विस्तार' (Extension) ही मानव बुद्धि को ज्ञात हैं। विचार और विस्तार एक दूसरे के समानान्तर हैं और दोनों स्वयं में[1] अनन्त गुण हैं। वे परस्पर सहभावी (Co-existent) भी हैं। यह पहिले 'असीम बुद्धि एवं संकल्प' में और 'असीम विस्तार एवं गति' में रूपान्तरित होते हैं जो इनके असीम प्रकार (Infinite modes) हैं। उसके पश्चात् असीम प्रकार ससीम प्रकारों (Finite modes) में परिणित हो जाते हैं जिनके दो भेद हैं– ससीम अन्तःकरण (Finite minds) और ससीम वस्तुएँ (Finite objects)। इस प्रकार स्पिनोजा रेखागणित विधि के द्वारा केवल 'द्रव्य' या 'ईश्वर' के जन्मगत प्रत्यय द्वारा ही विश्व की समग्र मानसिक एवं भौतिक घटनाओं का निगमन (deduction) करते हैं।

3. लाइबनित्ज़

लाइबनित्ज़ के अनुसार भी विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान जन्मगत प्रत्ययों से ही विकसित होता है। उनका कथन है कि उच्च कोटि का सभी ज्ञान बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है। वह इन्द्रिय-लब्ध ज्ञान और बुद्धि-लब्ध ज्ञान को दो भिन्न भिन्न जातियों का ज्ञान नहीं मानते। वह कहते हैं कि इन्द्रिय-लब्ध ज्ञान भी अनुन्नत एवं अस्पष्ट बुद्धिजात ज्ञान अर्थात् बुद्धि द्वारा उत्पन्न ज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं।

4. क्रिश्च्यन वूल्फ

क्रिश्च्यन वूल्फ (Christian Wolf) बुद्धिवाद के अतिवादी रूप (Extreme form of rationalism) का प्रतिपादन करते हैं। वह कतिपय जन्मगत प्रत्ययों से ईश्वर, आत्मा तथा जगत् सम्बन्धी सभी प्रत्ययों को निर्गमित करते हैं। उनका मत है कि इन्हीं जन्मगत प्रत्ययों से तर्कबुद्धि-मूलक विश्वविज्ञान (Rational Cosmology), तर्कबुद्धि-मूलक मनोविज्ञान (Rational Psychology) तथा तर्कबुद्धि-मूलक ईश्वर विज्ञान (Rational Theology) का विकास हुआ है।

---

1. In their own kind

आलोचना

(1) बुद्धिवाद का जोरदार खण्डन सर्वप्रथम अंग्रेज दार्शनिक लॉक ने किया। लॉक का कथन है कि जिन जन्मगत प्रत्ययों के आधार पर बुद्धिवाद अपनी ज्ञान-अट्टालिकायें निर्माण करता है वे जन्मजात प्रत्यय ही वस्तुत: भ्रममूलक हैं। हमारे मनस् में ऐसे कोई प्रत्यय हैं ही नहीं जिन्हें अनुभव-पूर्व (Apriori) कहा जा सकता हो अर्थात् जो हमें अनुभव से प्राप्त न हुए हों। वास्तविकता यह है कि जन्मजात प्रत्यय वही कहला सकते हैं जो सर्वजन-ज्ञात और सर्वजन-स्वीकृत हों। किन्तु विचार करने पर यह सहज स्पष्ट हो सकता है कि ऐसे कोई प्रत्यय हैं ही नहीं जो सर्वजन–ज्ञात और सर्वजन–स्वीकृत हों। बुद्धिवादी अनन्तता, अनश्वरता, कार्यकारणता, आदि को तथा विचार के मौलिक नियमों को सर्वजन ज्ञात तथा सर्वजन–स्वीकृत बताते हैं। परन्तु उनका यह दावा सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि बालकों, जंगली मनुष्यों और मूर्खों को इनका कोई ज्ञान नहीं होता; अनुभव के द्वारा ही वे शनै: शनै: इन्हें जान पाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर तथा नैतिकता के प्रत्ययों को जन्मगत प्रत्यय नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो उनके विषय में लोगों में मत-विभिन्नता न होती। सब जानते हैं कि विभिन्न धर्मों एवं समुदायों में ईश्वर के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार की धारणायें प्रचलित हैं; और ऐसे भी सम्प्रदाय तथा व्यक्ति हैं जो ईश्वर के अस्तित्व में ही आस्था नहीं रखते। नैतिक नियमों के विषय में भी कितनी विचार-विभिन्नता है यह सर्व-विदित है। यदि एक सम्प्रदाय अथवा देश में एक प्रकार की नैतिक मान्यतायें हैं तो दूसरे सम्प्रदाय अथवा देश में पूर्णतया विपरीत कुछ दूसरे ही प्रकार की मान्यताओं के प्रति आस्था देखने में आती है।

(2) बुद्धिवाद के विरुद्ध एक और तर्क यह प्रस्तुत किया गया है कि एक ही प्रकार के प्रत्यय सभी अन्त:करणों में विद्यमान होने से यह सिद्ध नहीं होता कि वे निश्चित रूप से जन्मजात प्रत्यय ही हैं। सभी मनुष्यों में अग्नि का एक ही प्रकार का प्रत्यय है; परन्तु उसे जन्मजात प्रत्यय नहीं कहा जा सकता; वह सभी को अनुभव से प्राप्त हुआ है। पुन: किसी प्रत्यय की सर्वजन-स्वीकृति भी उसकी जन्मगतता (innateness) तथा सत्यता का प्रमाण नहीं हो सकती। उदाहरण के रूप में 'सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है' और 'पृथ्वी चपटी है' - इन प्रत्ययों की सत्यता के विषय में पूर्वकाल में सभी लोग एकमत थे; परन्तु वर्तमान युग में ये असत्य सिद्ध हो गये हैं।

(3) बुद्धिवाद का यह दावा है कि ज्ञान का उत्पत्ति-स्रोत (source of knowledge) एकमात्र बुद्धि ही है अन्य कुछ नहीं। परन्तु उसका यह दावा अयुक्त प्रतीत होता है। बुद्धि सर्वदा विचारों के माध्यम से ही कार्य किया करती है; विचार सर्वदा वस्तुओं के ही विचार हुआ करते हैं; और वस्तुओं के

विचार इन्द्रियानुभव से ही उत्पन्न होते हैं। तब यह कैसे माना जा सकता है कि ज्ञान केवल बुद्धि ही द्वारा होता है, इन्द्रियानुभव की उसमें आवश्यकता ही नहीं है।

अनुभववाद
(Empiricism)

पश्चिमी दर्शन के इतिहास में अनुभववाद की नींव लॉक महोदय ने डाली। उन्होंने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने विख्यात ग्रन्थ "Essay Concerning Human understanding" में किया। इस (अनुभववाद) का आविर्भाव (origin) बुद्धिवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। जहां बुद्धिवाद यह कहता है कि ज्ञानोपलब्धि का एकमात्र साधन बुद्धि है, ठीक उसके विपरीत अनुभववाद की यह मान्यता है कि ज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र साधन हमारी इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों के द्वार से ही अनुभववाद के अनुसार, ज्ञान की रश्मियाँ (rays) हममें प्रवेश करती हैं। जब बाह्य वस्तुओं का संस्पर्श (contact) इन्द्रियों से होता है तभी ज्ञानोदय होता है। लॉक घोषणा करते हैं : " There is nothing in the intellect, which was not first in the senses. " (अर्थात् "बुद्धि में ऐसा कुछ नहीं है जो पहले इन्द्रियों में नहीं था ")। इस प्रकार अनुभववाद के मत में मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव के द्वारा ही प्राप्त होता है अनुभव से पूर्व नहीं।

अब हम निम्नलिखित पंक्तियों में यह प्रदर्शित करेंगे कि अनुभववाद का विकास किस किस दार्शनिक के सिद्धान्त में कैसे कैसे हुआ :–

1. लॉक

(क) अनुभव-ज्ञान के दो रूप : संवेदन[1] तथा चिन्तन[2]—लॉक का कथन है कि जन्म के समय मनुष्य का मनस् एक कोरी पट्टी (tabula-rasa) अथवा एक कोरे कागज के सदृश होता है जिस पर कुछ भी अंकित नहीं रहता। इसमें न जन्मजात प्रत्यय रहते हैं (जैसा कि बुद्धिवादी कहते हैं) और न ही किसी अन्य प्रकार के प्रत्यय। अनुभव की लेखनी द्वारा ही यह कागज शनैः शनैः रंगा जाता है। इसी बात को दूसरे ढंग से यों कहा जा सकता है कि मनुष्य का मनस् जन्म के समय एक अंधेरी कोठरी के समान होता है जिसमें ज्ञान रूपी आलोक (Light) की किरणें इन्द्रियों के द्वार से प्रवेश करती हैं और तब धीरे-धीरे यह कोठरी प्रकाशमान हो जाती है। प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अनुभव मनुष्य को किस प्रक्रिया द्वारा प्राप्त होता है ? उत्तर में लॉक कहते हैं कि इसके दो रूप हैं –'संवेदन'

1. Sensation 2. Reflection

तथा 'चिन्तन'। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में 'संवेदन' को 'बाह्य प्रत्यक्ष' (External Perception) कहा जा सकता है और 'चिन्तन' को 'आन्तरिक प्रत्यक्ष' या 'अन्तर्दर्शन' (Internal Perception or Introspection)। लॉक कहते हैं कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जब बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आती हैं तब संवेदनायें उत्पन्न होती हैं और उन संवेदनाओं से ही ज्ञान का उदय होता है। और चिन्तन के द्वारा हमें सुख, दुख, घृणा, क्रोध, संशय, निश्चय आदि मानसिक क्रियाओं का ज्ञान होता है। जो छाप संवेदन और चिन्तन द्वारा हमारे मनस् पर पड़ती है उसे लॉक के द्वारा 'धारणा' या 'प्रत्यय' (Idea) कहा गया है।

(ख) सरल[1] और जटिल[2] धारणायें — लॉक कहते हैं कि सर्वप्रथम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हमें सरल धारणायें प्राप्त होती हैं जो एक दूसरे से असम्बद्ध होती हैं। तदुपरान्त हमारा मनस् इन सरल धारणाओं को जोड़कर मिश्रित या जटिल धारणायें बना लेता है। उदाहरण के रूप में 'नीला पुष्प' या 'लाल पत्थर' मिश्रित धारणायें हैं। 'नीले पुष्प' की धारणा में 'नीलिमा', 'कोमलता', 'सुगन्ध' अदि सरल धारणायें सम्मिलित हैं जिन्हें हमारी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों ने पृथक् पृथक् प्राप्त किया है। इसी प्रकार 'लाल पत्थर' की धारणा में 'लालिमा' 'कठोरता' आदि की सरल धारणायें अन्तर्निहित हैं और उन्हें भी हमारी इन्द्रियों ने पृथक् पृथक् ग्रहण किया है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुई धारणाओं को जोड़कर मनस् ने 'नीले पुष्प' और 'लाल पत्थर' की मिश्रित धारणाओं को बनाया। लॉक का कथन है कि सरल धारणाओं को ग्रहण करने में यद्यपि हमारा मनस् सर्वथा निष्क्रिय होता है; तथापि मिश्रित धारणाओं के निर्माण में सक्रिय रहता है।

(ग) ज्ञान की सीमायें — हमारे ज्ञान की क्या सीमायें हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लॉक कहते हैं कि जो धारणायें हम प्राप्त करते हैं उनके अतिरिक्त हम कुछ जान ही नहीं सकते; बँस वही हमारे ज्ञान की अन्तिम परिधि (Circumfrence) या सीमा है। बाह्य पदार्थ तक पहुचने में हमारा मनस् पूर्णतया असमर्थ है। बाह्य पदार्थ और उनसे सम्बन्धित हमारी मानसिक धारणायें ये दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं और उनके मध्य एक ऐसी दीवार है जिसको लांघ जाने की शक्ति मनस् में नहीं है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या धारणाओं को ही ज्ञान कहा जा सकता है? लॉक का मत है कि नहीं। धारणाओं के परस्पर सामञ्जस्य या असामञ्जस्य (agreement or disagreement) को ही ज्ञान कहते हैं। 'पुष्प' और 'नीलिमा' दो पृथक् पृथक् धारणायें हैं, उनमें से किसी एक को भी 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब हम कहते हैं कि 'पुष्प नीला है' — यह एक ज्ञान है, क्योंकि

---

1. Simple 2. Complex

इस कथन में 'पुष्प' और 'नीलिमा' इन दोनों धारणाओं में सामञ्जस्य प्रतीत होता है।

2. बर्कले

जॉन लॉक के पश्चात् आइरिश दार्शनिक बर्कले ने अनुभववाद के सिद्धान्त में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। हमने ऊपर देखा है कि लॉक ने पदार्थ (object) और उसकी धारणा (idea) दोनों के मध्य एक अलंघ्य (uncrossable) दीवार बताकर अपने सिद्धान्त में ज्ञान-विज्ञान का द्वैतवाद (Epistemological dualism) उत्पन्न कर दिया था। इस द्वैतवाद से ऐसी कठिनाइयां उनके सम्मुख उपस्थित हुईं कि जिनका यथोचित उत्तर देना उनके लिये दुर्गम (difficult) हो गया। यदि पदार्थ और धारणा एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र एवं पृथक् हैं और हमारा ज्ञान केवल धारणा तक ही सीमित है, तो हमें पदार्थ का ज्ञान हो ही कैसे सकता है ? और हम यह कह ही कैसे सकते हैं कि पदार्थ का अस्तित्व है ? इस प्रकार की कठिनाइयों से बचने के लिए बर्कले को यह घोषित करना पड़ा कि हमारी धारणा से अतिरिक्त पदार्थ नाम की कोई वस्तु है ही नहीं; 'दृष्टता ही सत्ता है' (Esse est percipii) अर्थात् धारणा ही पदार्थ है।

3. ह्यूम (संशयवाद)[1]

(क) अपने पूर्वगामी अनुभववादियों पर पक्षपात का आरोप – जिस प्रकार बर्कले ने लॉक की आलोचना के आधार पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसी प्रकार डेविड ह्यूम ने भी बर्कले की आलोचना के आधार पर अपने दर्शन के प्रासाद का निर्माण किया। लॉक ने मनस् और बाह्य पदार्थ दोनों की सत्ता को स्वीकार किया था। बर्कले ने प्रत्यक्ष को ही सत्ता का आधार मानकर मनस् और उसके प्रत्ययों से अतिरिक्त बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को अस्वीकार किया था। ह्यूम ने जब लॉक और बर्कले के विचारों पर गम्भीरता से ध्यान दिया तो उन्हें ऐसा आभास हुआ कि उनके ये पूर्वगामी अनुभववादी सर्वाङ्ग रूप से अनुभववाद को नहीं मानते। उन्हों (ह्यूम) ने इन तथाकथित अनुभववादियों पर पक्षपात का आरोप लगाया और यह कहा कि जिन वस्तुओं (चाहे वे किसी भी श्रेणी या प्रकार की हों) का हमें इन्द्रियानुभव नहीं है उनके अस्तित्व के प्रतिपादन करने का हमारा कोई अधिकार है ही नहीं। अस्तु उन्होंने एक कट्टर अनुभववादी के नाते बाह्य पदार्थों के अस्तित्व के साथ साथ मनस् (या आत्मा), ईश्वर तथा

---

1. ह्यूम के अनुभववाद को ही संशयवाद (Scepticism) की भी संज्ञा दी गई है।

कार्यकारणता के नियम का भी खण्डन किया, क्योंकि इन सभी का हमको कोई इन्द्रियानुभव नहीं है।

(ख) बाह्य वस्तुओं, आत्मा, ईश्वर तथा कार्य-कारणता के नियम का खण्डन – बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का निराकरण करते हुए डैविड् ह्यूम कहते हैं कि तथाकथित बाह्य वस्तुएँ विभिन्न संवेदनाओं (Sensations) के समूह मात्र हैं, इसके अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं है। उदाहरण के रूप में आम या नारंगी विस्तार, आकार, रूप, सघनता (solidity), स्वाद, गन्ध स्पर्श आदि विभिन्न संवेदनाओं के केवल संघात मात्र हैं, अन्य कुछ नहीं। मनस् या आत्मा के अस्तित्व के खण्डन में तर्क उपस्थित करते हुए डैविड् ह्यूम कहते हैं कि जब हम अपने अन्तराल में झाँक कर अन्तर्दर्शन द्वारा अपनी आत्मा को खोजने का प्रयत्न करते हैं तब हमें आत्मा जैसी वस्तु का कोई अनुभव नहीं होता। हमें वहाँ केवल हर्ष या शोक, प्रेम या घृणा, प्रकाश या छाया, आदि के पृथक् पृथक् संवेदनों (sensations) या मुद्रणों (impressions) का ही दर्शन होता है अन्य कुछ नहीं। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा या मनस् का अस्तित्व है? आत्मा के सदृश ईश्वर के अस्तित्व का भी निराकरण डैविड् ह्यूम करते हैं। उनका कथन है कि ईश्वर का भी क्योंकि हमें कोई अनुभव नहीं होता, अतः उसकी सत्ता में आस्था रखना भी भ्रममूलक ही है। कार्यकारणता के नियम के विषय में भी वह (ह्यूम) कहते हैं कि कार्य का कारण के साथ अनिवार्य सम्बन्ध मानना दार्शनिकों की एक भारी भूल है। साधारणतया इतना ही अनुभव में आता है कि एक घटना दूसरी घटना के पश्चात् घटित होती है। केवल इतनी ही बात देखने से यह कैसे कहा जा सकता है कि पूर्व (former) घटना और अपर (latter) घटना में एक अनिवार्य सम्बन्ध है? अनिवार्य या आवश्यक सम्बन्ध तो तब कहा जा सकता है जबकि पूर्व घटना में अपर घटना को जन्म देने की शक्ति विद्यमान हो : परन्तु ऐसी किसी शक्ति का प्रत्यक्ष किसी को नहीं होता। अतः कार्य का कारण के साथ आवश्यक सम्बन्ध मानना हमारा एक पूर्व-आग्रह मात्र ही कहा जा सकता है अन्य कुछ नहीं।

(ग) ह्यूम का संशयवाद अनुभववाद का तर्कीय चरम बिन्दु है — बाह्य पदार्थ, आत्मा, ईश्वर और कार्यकारणता का नियम – इन सभी का निराकरण कर डैविड् ह्यूम अनुभववाद को संशयवाद (Scepticism) के गर्त में ले जाकर डाल देते हैं। उनके मतानुसार हम सदैव संवेदानाओं के घेरे में पड़े रहते हैं। इन संवेदनाओं से बाहर पग रखने की हमारी सामर्थ्य ही नहीं है; और उनसे परे सत्ताओं का ज्ञान हमें हो ही नहीं सकता। वह (ह्यूम) घोषित करते हैं कि ज्ञान पूर्ण रूपेण असन्दिग्ध कभी नहीं हो सकता। हमारे व्यावहारिक जीवन में सम्भाव्यता

(Probability) ही हमारी पथप्रदर्शिका है; इसके आधार पर ही जगत् के सामान्य कार्यों का संचालन होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डैविड् ह्यूम के ज्ञानमीमाँसा सम्बन्धी विश्लेषण से यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि लॉक और बर्कले ने जिस अनुभववादी चिन्तन-प्रणाली को प्रारम्भ किया था वह ह्यूम के सिद्धान्त में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई। अस्तु यह ठीक ही कहा गया है कि 'ह्यूम का संशयवाद अनुभववाद का तर्कीय चरम बिन्दु है'।[1]

आलोचना

(1) अनुभववाद का यह कथन कि सरल धारणाओं को ग्रहण करने में हमारा मनस् सर्वथा निष्क्रिय रहता है मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अयथार्थ है। कारण यह है कि अवधान की क्रिया के बिना सरल धारणायें न तो ग्रहण की जा सकती हैं और न ही उनमें परस्पर विवेक किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में जब आप अपने अध्ययन-कक्ष में बैठे अपने अध्ययन-कार्य में तल्लीन रहते हैं तो आपने अनुभव किया होगा कि समीप में रखी हुई घड़ी की टिकटिक ध्वनि को आपने तनिक भी सुना ही नहीं। स्पष्ट है कि आपका ध्यान अध्ययन में केन्द्रित होने के कारण आपको घड़ी की टिकटिक ध्वनि सुनाई नहीं दी। पुनः साथ ही यदि आपका ध्यान न हो तो आप यह भी विवेक न कर पायें कि यह घड़ी की टिकटिक ध्वनि है अथवा कोई अन्य ध्वनि। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सरल धारणाओं में भी मनस सक्रिय रहता है निष्क्रिय नहीं।

(2) मिश्रित धारणाओं के निर्माण में मनस् की सक्रियता को अनुभववाद (लॉक) ने स्वयं स्वीकार किया है। हमारा विचार है कि ऐसा करके स्वयं ही उन्होंने अपने मूल सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है। पुनः यह भी समझ में नहीं आता कि सरल धारणायें ग्रहण करते समय जो मनस् (अनुभववाद के अनुसार) सर्वथा निष्क्रिय रहता है वही मनस् मिश्रित धारणाओं के निर्माण के समय कैसे सक्रिय हो जाता है।

(3) अनुभववाद यह मानता है कि संवेदनायें पृथक् पृथक् इकाइयों के रूप में हमें प्राप्त होती हैं और तब हम उन्हें जोड़कर मिश्रित धारणाओं का रूप देते हैं। जैस्टाल्ट मनोविज्ञान (Gestalt Psychology) अनुभववाद की इस मान्यता को अमनोवैज्ञानिक बताता है और कहता है कि हमारा मनस् वस्तुओं का प्रत्यक्ष उनके पूर्ण रूप में (as a whole) करता है।

(4) लॉक के अनुसार वस्तु और धारणा के मध्य एक ऐसी दीवार है जिसे लांघने में मनस् सर्वदा असमर्थ रहता है। यहाँ यह समझ में नहीं आता कि जब हमें वस्तु का ज्ञान होना ही सम्भव नहीं है तब हम यह कैसे कह सकते हैं कि वस्तु

1. 'Hume's scepticism is a logical culmination of empiricism'.

और धारणा में समानता है। वास्तविकता यह है कि ऐसी स्थिति में तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि वस्तु का कोई अस्तित्व है।

(5) अनुभववाद के अनुसार इन्द्रियानुभव ही ज्ञान का एकमात्र साधन है। परन्तु इन्द्रियानुभव के द्वारा हमें सार्वभौम एवं अवश्यम्भावी सत्यों (Universal and necessary truths) जैसे कि 'कार्यकारणता', 'दिक्', 'काल' आदि का ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियानुभव के द्वारा तो हमें केवल विशेष एवं आपातिक तथ्यों (Particular and contingent facts) का ज्ञान हो सकता है जो हमारे जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति करने में अपर्याप्त है। सार्वभौम एवं अवश्यम्भावी सत्यों का ज्ञान हमें केवल बुद्धि के द्वारा ही प्राप्त होता है, और वास्तविकता यह है कि यह ज्ञान हमारे अन्य सामान्य अनुभव ज्ञान की भी आधार-शिला है।

(6) इन्द्रियानुभव से हमें केवल संवेदनायें प्राप्त होती हैं। परन्तु ये संवेदनायें उस समय तक अर्थहीन रहती हैं जब तक बुद्धि इनकी व्याख्या नहीं कर देती। बुद्धि विभिन्न संवेदनाओं की तुलना कर उनकी पारस्परिक समानता और अन्तर को निर्दिष्ट करती है; और बाह्य जगत् में दिक् और काल के सन्दर्भ में उनकी स्थापना करती है। सदृशीकरण (Assimilation), विभेदीकरण (Differentiation) तथा विषयीकरण (Objectification) की ये क्रियायें बुद्धि द्वारा ही सम्भव हैं इन्द्रियानुभव द्वारा नहीं।

(7) हमने ऊपर बताया है कि अनुभववाद को पूर्ण तर्कीय रूप देने की चेष्टा में डेविड् ह्यूम ने अनुभववाद को संशयवाद में परिणत कर दिया। संशयवाद एक स्वतोव्याघाती (self-contradictory) सिद्धान्त है। इसके अनुसार विश्व में कोई भी ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है। यहाँ संशयवादी से यह प्रश्न पूँछा जा सकता है – 'विश्व में कोई भी ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है'— क्या यह ज्ञान भी निश्चयात्मक नहीं है? यदि संशयवादी उत्तर में 'हाँ' कहता है तो भी उसका सिद्धान्त खण्डित हो जाता है; और यदि 'नहीं' कहता है तो भी।

समीक्षावाद

(Criticism or Critical Theory)

विश्व-विख्यात जर्मन दार्शनिक काण्ट का ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्त समीक्षावाद के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त का नाम समीक्षावाद इस हेतु पड़ा कि काण्ट की यह घोषणा थी कि कुछ भी कहने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम ज्ञान की दशाओं (Conditions of knowledge) की गम्भीर समीक्ष

कर लें। उनके अनुसार इस प्रकार के आलोचनात्मक विचार या समीक्षा किये बिना हमारी दार्शनिक खोजें उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण होती हैं जिस प्रकार दिशासूचक यंत्र (Mariners compass) रखे बिना एक समुद्री यात्री की खोजें। उन्होंने बताया कि ज्ञानमीमांसा विषयक प्रचलित दोनों सिद्धान्त, बुद्धिवाद और अनुभववाद, अन्धविश्वासी एवं रूढ़िवादी हैं ; पहिला इसलिये क्योंकि वह जन्मजात प्रत्ययों का अस्तित्व बिना समीक्षा किये स्वीकार कर लेता है और दूसरा इसलिये क्योंकि वह बिना छानबीन किये संवेदनाओं की प्रामाणिकता मान लेता है। उनं (काण्ट) का मत है कि बुद्धिवाद तथा अनुभववाद दोनों के सुचारू परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही सिद्धान्त एकाँगी हैं और दोनों के समन्वय से ही सत्य बात पर पहुँचा जा सकता है।

1. ज्ञान की प्रक्रिया में इन्द्रियाँ और बुद्धि दोनों का सहयोग

काण्ट कहते हैं कि तार्किक दृष्ट्या यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि केवल बुद्धि द्वारा ही ज्ञान सम्भव है; और न ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि केवल अनुभव से ही ज्ञान होता है। उनके अनुसार ज्ञान के लिये हमें बुद्धि और अनुभव दोनों की नितान्त आवश्यकता है ; किसी एक के अभाव में भी ज्ञान होना कदापि सम्भव नहीं है। विश्लेषण करने पर यह सहज समझ में आ सकता है कि ज्ञान के दो पक्ष हुआ करते हैं, ज्ञान की सामग्री या विषय-वस्तु (matter) और ज्ञान का आकार (form)। ज्ञान की सामग्री हमें इन्द्रियानुभव से प्राप्त होती है और ज्ञान का आकार बुद्धि से। हम यों कह सकते हैं कि मानो इन्द्रियानुभव द्वारा हमें ज्ञान का कच्चा माल(raw–material)प्राप्त होता है और तब हमारे मनस् रूपी कारखाने में हमारी बुद्धि इस कच्चे माल को अपने अनुसार अनेक प्रकार के साँचों में ढाल कर भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं के रूप में परिणत कर देती है। इन्द्रियाँ निष्क्रिय रूप से पहिले संवेदनायें ग्रहण करती हैं। ये संवेदनायें ज्ञान की सामग्री (कच्चा माल) हैं जिन्हें बुद्धि सक्रिय रूप से भिन्न-भिन्न साँचों में ढाल कर संसार की अनेक प्रकार की वस्तुओं का आकार प्रदान करती है। काण्ट का कथन है कि "Concepts without percepts are empty and percepts without concepts are blind." अर्थात् ज्ञान के आकार को जो बुद्धि द्वारा प्राप्त होते हैं, वे खोखले सिद्ध होते हैं बिना ज्ञान की सामग्री के जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती है ; और ज्ञान की सामग्री अर्थात् संवेदनायें बिना बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान के आकारों की सहायता के अन्धी होती हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान की प्रकियाँ में इन्द्रियाँ और बुद्धि दोनों का सहयोग परस्पर ऐसा है जैसा कि एक लंगड़े ओर एक अन्धे का। जिस प्रकार एक दूसरे की सहायता के बिना लगंड़ा और अन्धा दोनों में से कोई भी अकेला अपने गन्तव्य स्थान

(goal) पर नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार एक दूसरे के सहयोग बिना इन्द्रियां और बुद्धि दोनों में से कोई भी अकेले ज्ञान रूपी गन्तव्य को प्राप्त करने में असमर्थ हैं।

2. ज्ञान की प्रक्रिया में बुद्धि या मनस् की तीन शक्तियां

ज्ञान—प्रक्रिया में बुद्धि का क्या कार्य है इस विषय में काण्ट कहते हैं कि इस प्रक्रिया में बुद्धि की तीन शक्तियाँ कार्य करती हैं – (क) संवेदना-शक्ति (Faculty of Sensibility) (ख) बोध-शक्ति (Faculty of Understanding) एवं (ग) विवेक-शक्ति (Faculty of Reason)। निम्न पंक्तियों में हम इन तीनों की संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

(क) **संवेदन शक्ति** — जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं तो ध्यान देने पर हमें ज्ञात होगा कि हमारा वह प्रत्यक्षीकरण एक विशेष देश और काल (space and time) में होता है। देश और काल के अभाव में किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या देश और काल की भी हमें संवेदनायें होती हैं? काण्ट उत्तर देते हुए कहते हैं — 'नहीं'। उनका मत है कि हमारे मनस् में ही ऐसी शक्ति है जो संवेदनाओं को ये दो रूप या आकार (forms) प्रदान करती है। इस शक्ति को वह संवेदन-शक्ति का नाम देते हैं। अभिप्राय यह है कि हमारे मनस् की संवेदन-शक्ति देश और काल के 'प्रत्यक्ष के आकारों (forms of perception) को पृथक् संवेदनों (discrete sensations) पर लागू करती है और उन्हें दैशिक और कालिक व्यवस्था (spatial and temporal order) में बाँध कर सामान्य अनुभव की वस्तुओं का रूप देती है।

(ख) **बोध-शक्ति** — काण्ट कहते हैं कि देश और काल की व्यवस्था में बँधी हुई संवेदनायें अर्थात् प्रत्यक्ष (percepts) अपने पृथक् रूप में ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकतीं। उदाहरण के रूप में यदि हमें पहले सूर्य का प्रत्यक्ष होता है और तदुपरान्त एक गर्म पत्थर का; तब ये दो प्रत्यक्ष पृथक् रूप से ज्ञान नहीं कहला सकते। इन दोनों 'प्रत्यक्षों' में सम्बन्ध स्थापित करके ही ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है। अर्थात् जब हम यह जान लेते हैं कि 'सूर्य पत्थर को गर्म करता है' तभी यह कहा जा सकता है कि हमें ज्ञान हुआ है। प्रश्न उपस्थित होता है कि विभिन्न प्रत्यक्षों में सम्बन्ध स्थापित कौन करता है और कैसे करता है? काण्ट बताते हैं कि मनस् की बोध शक्ति (Understanding) विभिन्न प्रकारों या पद्धतियों से यह कार्य करती है। भिन्न भिन्न प्रत्यक्षों में सम्बन्ध स्थापित करने वाली बोध शक्ति के इन प्रकारों या पद्धतियों को काण्ट ने कोटियों (Categories) के नाम से पुकारा है। काण्ट के अनुसार इन कोटियों के चार वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में तीन तीन कोटियां सम्मिलित हैं; इस प्रकार सब मिलकर कुल बारह कोटियाँ हैं।

(१) प्रथम वर्ग 'परिमाण की कोटियों' (Categories of quantity) का है, जिसमें एकता (Unity), अनेकता (Plurality) तथा समग्रता (Totality) की कोटियाँ समाविष्ट हैं। (२) द्वितीय वर्ग 'गुण की कोटियों' (Categories of quality) का है, जिसके अन्तर्गत सत्ता (Reality), निषेधात्मकता (Negation) तथा सीमितता (Limitation) की कोटियाँ हैं। (३) तृतीय वर्ग 'सम्बन्ध की कोटियों' (Categories of Relation) का है, जिसमें द्रव्य तथा गुण (Substance and Quality), कारण तथा कार्य (Cause and Effect) और समुदाय तथा पारस्परिक प्रतिक्रिया (Community and Mutual reaction) की कोटियाँ सम्मिलित हैं। (४) चतुर्थ वर्ग 'निश्चय मात्रा की कोटियों' (Categories of Modality) का है, जिसमें संभावना तथा असंभावना (Possibility and Impossibility), अस्तित्व तथा अनस्तित्व (Existence and Non-existence) और अनिवार्यता तथा आपातिकता (Necessity and Contingence) की कोटियों का समावेश है। काण्ट कहते हैं कि ये सभी कोटियाँ बोध शक्ति के प्रागनुभव आकार (a-priori forms) हैं। हमें यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि काण्ट के मत से ये कोटियाँ प्रपञ्चातीत तत्व (Noumena) या परमार्थिक वस्तुओं (Things-in-themselves) पर लागू नहीं होतीं; इनका सम्बन्ध केवल प्रपञ्चात्मक जगत् (Phenomena) से है।

(ग) **विवेक-शक्ति** — विवेक-शक्ति (Faculty of Reason) के द्वारा काण्ट विवेक की तीन धारणाओं या प्रत्ययों (Three Ideas of Reason) — आत्मा, जगत तथा ईश्वर — की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनका मत है कि विवेक-शक्ति बोध-शक्ति के नियमों को उच्चतर नियमों या सिद्धान्तों में अन्तर्निहित करने का प्रयास करती है और उनके निर्णयों को एक सूत्र में गुंफित करती है। इसका मुख्य कार्य हमारी जिज्ञासाओं का निर्देशन करना है और पूर्णता के उन आदर्शों (those ideals of perfection) को प्रदान करना है जिन्हें हमारा सामान्य ज्ञान हमें नहीं दे सकता। अस्तु यह समस्त मानसिक क्रियाओं को एक सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत गुंफित करके उस शीर्षक को 'आत्मा के प्रत्यय' की संज्ञा देती है, समस्त भौतिक घटनाओं को एकत्रित करके 'प्रकृति या जगत् के प्रत्यय' का नाम देती है और सर्वसामान्य रूप में सभी (मानसिक एवं भौतिक) घटनाओं को सम्मिलित रूप में 'ईश्वर के प्रत्यय' से निर्दिष्ट करती है। काण्ट का कथन है कि विवेक-शक्ति द्वारा प्रदान किये हुए ये 'विवेक के प्रत्यय' बोध शक्ति का मार्ग-दर्शन एवं नियमन करते हुए हमारे ज्ञान के विकास में बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं।

3. ज्ञान की सीमायें

काण्ट यह घोषित करते हैं कि जो ज्ञान हमें इन्द्रियों और बुद्धि के सहयोग

से प्राप्त होता है वह यद्यपि सार्वभौम एवं निश्चित् ज्ञान होता है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञान वस्तु के अपने ही मूल या वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। उनके मतानुसार हमारा ज्ञान वस्तुओं के अवभास या प्रतीति (appearance) तक ही सीमित रहता है, उसकी पहुँच वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप (reality) तक नहीं है। वस्तुओं के अवभास को वह प्रपञ्च (Phenomena) का नाम देते है और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को प्रपञ्चातीत तत्व (Noumena) का।

समालोचना

(1) काण्ट के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति के लिए इन्द्रियाँ और बुद्धि दोनों के पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान की सामग्री इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होती है और ज्ञान का आकार बुद्धि द्वारा। आलोचकों का कहना है कि इन्द्रिय-शक्ति और बुद्धि-शक्ति एक दूसरे से स्वभाव में पूर्णतया भिन्न हैं, तब वे परस्पर सहयोगी बन कैसे ज्ञान को उत्पन्न कर सकती हैं? हमारा विचार है कि काण्ट के विरुद्ध यह आलोचना समीचीन(proper)नहीं है। हमारा अनुभव इस बात का साक्षी है कि प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में इन्द्रियाँ और मनस् (या बुद्धि) दोनों के सहयोग से ही ज्ञान का उद्भव होता है; इन्द्रियों के बिना मनस् पंगु है और मनस् के बिना इन्द्रियाँ। पुनः इन्द्रियाँ और मनस् हमारे ही व्यक्तित्व के दो अंग हैं और एक ही व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों के लिए किसी एक ही प्रयोजन की सिद्धि के परस्पर सहयोग करके कार्य करना तर्क दृष्टि से असंगत कभी नहीं हो सकता।

(2) काण्ट के ज्ञान मीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्त में दूसरा एक यह दोष बताया गया है कि यह सिद्धान्त अज्ञेयवाद को जन्म देता है। काण्ट कहते हैं कि हम प्रपञ्चातीत तत्व(Noumena or Reality) अथवा पारमार्थिक वस्तुओं(Things in themselves) को न जानते हैं और न ही जान सकते हैं। उनके अनुसार देश और काल सत्य नहीं हैं और न ही द्रव्य, कारणता, संख्या, अस्तित्व, समुदाय आदि कोटियों (Categories) का पारमार्थिक वस्तुओं में कोई अस्तित्व है। हमारे ज्ञान की अन्तिम सीमा केवल प्रपञ्चात्मक जगत् (Phenomenon or Appearance) तक है प्रपञ्चातीत सत्ता (Noumenon or Reality) तक नहीं। इस सम्बन्ध में हमारा मत भी यह है कि वस्तुतः काण्ट अज्ञेयवाद के दोष से मुक्त नहीं किए जा सकते। और जहाँ तक अज्ञेयवाद का प्रश्न है इस प्रकार के सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें दार्शनिक चिन्तन का अवकाश नहीं रह जाता। पुनः यह सब लोग जानते हैं कि हमारा जीवन पर्य्यावरण के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने पर आधारित है,और सफलता पूर्वक सामञ्जस्य तभी स्थापित हो सकता है जबकि हमें पर्य्यावरण का समुचित ज्ञान हो। परन्तु अज्ञेयवादी सिद्धान्त में यह कदापि सम्भव नहीं है।

(3) काण्ट के सिद्धान्त में एक प्रकार का द्वैतवाद पाया जाता है। उनके मतानु-

सार वस्तु का अवभास और वस्तु का स्वरूप दो पृथक् पृथक् सत्तायें हैं जिनमें परस्पर कोई सादृश्य नहीं है। इन दो सत्ताओं का समुचित समन्वय काण्ट अपने दर्शन में सफलतापूर्वक नहीं कर पाये हैं।

(4) हीगेल ने काण्ट के ज्ञानमीमांसा विषयक सिद्धान्त के विरुद्ध यह तर्क प्रस्तुत किया है कि इस सिद्धान्त के अनुसार काण्ट को वस्तु-अवभास से परे वस्तु-स्वरूप नामक सत्ता मानने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि जिस वस्तु का ज्ञान ही होना सम्भव नहीं है उसका अस्तित्व मानना कदापि युक्ति-संगत नहीं हो सकता।

(5) काण्ट का ज्ञानमीमांसा विषयक विचारवादी सिद्धान्त दर्शनशास्त्र के इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी घटना है। सभी विचारवान व्यक्ति इस सत्य से सहमत होंगे कि, कुछ सामान्य दोषों (जिनका हमने ऊपर संकेत किया है) को छोड़ कर, जर्मनी के इन महान् दार्शनिक की ज्ञानसमीक्षा ने दर्शन जगत् के अगणित क्षेत्रों को एक महान् आलोक प्रदान किया है। उन (काण्ट) की सर्वाधिक सफलता यह है कि उन्होंने सदा के लिये सुदृढ़ रूप से यह प्रतिष्ठित कर दिया है कि ज्ञान के लिये हमें बुद्धि और इन्द्रियानुभव दोनों की नितान्त आवश्यकता है, किसी एक के अभाव में भी ज्ञान होना कदापि सम्भव नहीं है। उन्होंने अपने अकाट्य तर्कों से बड़े ही स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर दिखाया है कि यद्यपि ज्ञान की विषय-वस्तु हमें अवश्य ही संवेदनाओं के रूप में प्राप्त होती है तथापि हमारा मनस् कोई सर्वथा निष्क्रिय तथा कोरी तख्ती नहीं, वरन् एक वास्तविक कर्ता है जो प्राप्त अनुभव का चयन करता है और तब अपने ढंग से उसका पुनर्निर्माण करता है। इन सब बातों से भी बढ़ कर, विचार करने पर यह प्रतीत होगा कि, दार्शनिक संसार को काण्ट की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने डैविड ह्यूम के संशयवाद से दर्शनशास्त्र की पूर्ण रक्षा की है। दर्शनशास्त्र के जिन प्रमुख प्रत्ययों — आत्मा, ईश्वर, कार्य-कारणता आदि — का ह्यूम ने जोरदार खण्डन किया था उन्हें काण्ट ने अपने अत्यधिक बलशाली तर्कों से पुन: सदा के लिये सुदृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया। काण्ट की प्रभावपूर्ण एवं ओजस्विनी युक्तियों के सम्मुख ह्यूम की युक्तियाँ इस प्रकार प्रभावहीन और लुप्त हो गयीं जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों के सम्मुख रजनी की तारावलियाँ नित्यप्रति ऊषाकाल में क्षीण एवं अन्तर्धान हो जाती हैं।

रहस्यवाद
(Mysticism)

दर्शन के क्षेत्र में जहाँ तत्व की प्राप्ति के लिए बुद्धिवादी, अनुभववादी तथा संदेह-

वादी तथा समीक्षावादी दृष्टिकोण (जिनका विवेचन हमने ऊपर किया है) अपनाये गये हैं, वहाँ अनेक ऐसे भी दार्शनिक हुए हैं जिन्होंने एक ऐसी विधि का समर्थन किया है जो उपर्युक्त विधियों से मूल रूप से भिन्न है। इस विधि का नाम है "रहस्यवाद"। रहस्यवाद, जैसा कि नाम से भी व्यक्त होता है, दर्शन का वह दृष्टिकोण है जो यह मानता है कि परम तत्व परम रहस्यमय (absolutely mysterious) तत्व है और उसके जानने की विधि भी नितान्त रहस्यमयी ही है। परम रहस्यमय तत्व का अर्थ है वह तत्व जो भाषा मन और बुद्धि की पहुँच से परे हो; अर्थात् जिसे न भाषा वर्णन कर सकती हो, न मन कल्पित कर सकता हो और न ही बुद्धि समझ सकती हो। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि रहस्यवाद के अनुसार परम तत्व एक अनिर्वाचनीय तत्व है जो वाणी, मन और बुद्धि का विषय (object) कदापि नहीं बनाया जा सकता। इस रहस्यमय तत्व की प्राप्ति के लिये जो विधि निर्दिष्ट की गई है वह भी रहस्यमयी इसलिये कही गई है कि भाषा के माध्यम द्वारा उसे भी व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह विधि है उस तत्व से एक अपूर्व, उत्कट, अक्षुण्ण एवं अपार प्रेम की स्थापना, जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है शब्दों का विषय नहीं बनाया जा सकता। स्पष्ट ही है कि अन्य उपर्युक्त दार्शनिक विधियों से इस विधि का मौलिक अन्तर है। जबकि उन विधियों में बौद्धिक तर्क एवं युक्तियों को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है, इस विधि में बौद्धिक गवेषणा की उपेक्षा ही नहीं वरन् भर्त्सना (निन्दा) भी की गई है। रहस्यमयी होने के कारण यद्यपि इस विधि का पूर्ण निर्वचन (description) निस्संदेह सम्भव नहीं है, तथापि विचारकों ने इसके सामान्य लक्षणों को निर्दिष्ट करने का भरसक प्रयास किया है। हम निम्न पंक्तियों में उन्हीं लक्षणों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

1. परम तत्व को जानना नहीं प्रत्युत होना

रहस्यवादी दार्शनिकों का कथन है कि मनुष्य के जीवन का उद्देश्य बुद्धि के द्वारा परम तत्व के स्वरूप को केवल समझना मात्र नहीं है, वरन् उस तत्व के साथ तादात्म्य (Identity) प्राप्त करना है। तादात्म्य से उनका अर्थ है जीव और ब्रह्म, अथवा प्रेमी और प्रेमास्पद, की एकता की अनुभूति। इस स्थिति में साधक स्वयं को साध्य से भिन्न अनुभव नहीं करता; वह स्वयं साध्य ही हो जाता है। रहस्यवादी लेखिका एविलीन अण्डरहिल (Evelyn Underhill) इसी तथ्य की अभिव्यक्ति करती हुई कहती हैं, "Not to know about but to be is the mark of the real practioner". (अर्थात् "जानना नहीं वरन् हो जाना ही सच्चे साधक का लक्षण है।")[1]। भारतीय दर्शन में उपनिषदों में भी जीव और ब्रह्म के

1. 'मिस्टिसिज्म' ('Mysticism'), पृ० 86।

उक्त तादात्म्य की अनुभूति का प्रतिपादन किया गया है; परन्तु वहाँ तादात्म्य की अनुभूति किसी नवीन वस्तु या स्थिति की उपलब्धि नहीं है, प्रत्युत पहिले ही से एक स्वतःसिद्ध सत्य (self-evident truth) की अनुभूति है। अभिप्राय यह है कि उपनिषदों के अनुसार जीव और ब्रह्म का तादात्म्य पहिले से ही सिद्ध एक दार्शनिक तथ्य है; मनुष्य का कर्तव्य है कि अज्ञान निवृत्ति द्वारा इस दार्शनिक तथ्य का अनुभव करे।

2. परम तत्व के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध

रहस्यवादी साधना में साधक परम तत्व के साथ अपना एक व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है। विख्यात रोमन रहस्यवादी दार्शनिक प्लॉटिनस (Plotinus) कहते हैं कि यह विधि "एकाकी की एकाकी की ओर उड़ान"[1] है। इस विधि में व्यक्ति जगत् के सभी व्यक्तियों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर देता है। वह अपने इष्ट तत्व अर्थात् ईश्वर के अतिरिक्त किसी को भी अपना नहीं मानता। भारत की प्रसिद्ध भक्ता मीराबाई के हृदयोद्‌गार हैं :

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई"।

मीरा के अतिरिक्त कबीर, जायसी आदि अनेक भारतीय रहस्यवादी कवियों की रचनाओं में ईश्वर के साथ विभिन्न प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्धों का अत्यधिक सजीव वर्णन देखने में आता है।

3. अन्तर्मुखी भाव

ईश्वर के साक्षात् के लिये रहस्यवाद साधक के अन्तर्मुखी होने का प्रतिपादन करता है। कारण यह है कि जब तक मनुष्य का मन जगत् के बाह्य विषयों की ओर उन्मुख रहता है तब तक उसे अपने अन्तर्जगत् में झाँकने का ध्यान ही नहीं आता; और जब तक वह अन्तर्मुखी होकर विषयों से मन नहीं हटाता तब तक ईश्वर के प्रति उसमें सच्चा अनुराग ही उत्पन्न नहीं हो सकता। गीता इसी सन्दर्भ में कहती है कि उसी मनुष्य की बुद्धि स्थिर है जिसने अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से ऐसे समेट लिया हो जैसे कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है[2]। अस्तु रहस्यवादी विचारकों का अन्तर्मुखता पर बल देना उचित ही है।

4. बौद्धिक ज्ञान की उपेक्षा

रहस्यवादी दार्शनिकों का मत है कि बौद्धिक ज्ञान ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में

1. 'A flight of the alone to the alone".
2. "यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" ॥ (गीता, 2·58) ॥

व्यर्थ ही नहीं अपितु बाधक भी है। वे कहते हैं कि मनुष्य की बुद्धि-शक्ति अत्यन्त अल्प एवं सीमित है, अतः प्रकट ही है कि वह परम तत्व, जो एक निस्सीम तत्व है, को समझने में पूर्णतया असमर्थ है। उपनिषदों में भी बुद्धि की असमर्थता के सम्बन्ध में इसी प्रकार की घोषणा है:-

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेण"। (कठोपनिषद्, 1-2-23)

(अर्थात् "यह आत्मा (या ब्रह्म) न प्रवचन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, न ही बुद्धि द्वारा और न ही अनेक शास्त्रों के श्रवण द्वारा।"[1]) बुद्धि-शक्ति की अल्पता एवं असमर्थता के अतिरिक्त रहस्यवाद इस विषय में एक और महत्वपूर्ण बात यह कहना है कि बौद्धिक ज्ञान क्योंकि प्रायः अहंकार, ईर्ष्या आदि अनेक दोषों को जन्म देता है और पोषण करता है, अतः वह निश्चित रूप से ईश्वर प्राप्ति में बाधक ही है सहायक नहीं। कोरे बुद्धि-प्राखर्य्य एवं वाक्-पाण्डित्य की कड़ी निन्दा करते हुए आचार्य शंकर स्वयं कहते हैं :

"वाग्वखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम्,
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये" ॥ (विवेक चूड़ामणि) ॥

(अर्थात् "वाणी ओजस्विता, शब्दावलि प्रपात तथा शास्त्र विवेचन की कुशलता - इस प्रकार का सम्पूर्ण पाण्डित्य केवल विद्वानों के विनोद के लिए है मुक्ति-लाभ के लिए नहीं।" इसी सम्बन्ध में कबीर की उक्ति भी देखिये :

"पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम के पढ़े सो पंडित होय"॥

5. ईश्वर-प्रेम ही एकमात्र साधन

जैसा कि आरम्भ में भी इंगित किया गया है रहस्यवादी विचारकों के अनुसार ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन ईश्वर-प्रेम ही है। उनका कहना है कि जब हम अपने सामान्य जीवन का अध्ययन करते हैं तो सर्वत्र यही देखने में आता है कि स्नेह या प्रेम ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा जगत् के विभिन्न सम्बन्धों को एक तार में बाँध दिया जाता है और जिससे दूसरों के साथ तादात्म्य की स्थापना हो जाती है। इसी प्रकार परमात्मा से तादात्म्य या ऐक्य प्राप्त करने के लिए भी प्रेम ही सर्वोच्च, सर्वसुलभ तथा एकमात्र साधन है। ईश्वर-प्राप्ति में प्रेम की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए एक प्रसंग में सन्त दादू कहते हैं, "रब्द दा कि पाँवना इद्रो पटटना उद्रो लाँवना"। साथ ही साथ यह प्रेम कैसा अपूर्व और अभिव्यक्ति से परे है इसका संकेत हमें मीरा के निम्न शब्दों से प्रकट होता है :

"अरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरो दरद न जाने कोय"

6. ईश्वर को घट-घट व्यापी मानना

रहस्यवादी विचारक परम तत्व या ईश्वर का एक सर्वव्यापक सत्ता के रूप में प्रतिपादन करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[1] प्रसिद्ध वाक्य में इसी रहस्य का उद्‌घाटन किया गया है। सन्त महात्माओं का कथन है कि ईश्वर सब प्राणियों के घट-घट में विराजमान है। गीता के निम्न शब्दों में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति है :

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति अर्जुन" (गीता, 18-61)।

यही कारण है कि अनेक रहस्यवादी सन्त संसार के लोगों की सेवा करने में इतना अधिक संलग्न रहे हैं। एमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Varieties of Religious Experience' में विभिन्न धर्मों के रहस्यवादी सन्तों के जीवन के विषय में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया है कि ये सन्त किस प्रकार दूसरों के हित के लिए कैसे-कैसे कष्ट सहन किया करते थे, क्योंकि उन्हें सभी जीवधारियों में ईश्वर ही ईश्वर दिखाई देता था। सर्वत्र इसी ईश्वरानुभूति के प्रसंग में सन्त शिरोमणि कवि तुलसीदास भी अपने ग्रन्थ 'राम-चरित मानस' में एक स्थान पर कहते हैं :

"सिया राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग्र पानी" ॥

7. तृप्ति की अनुभूति

इस (रहस्यवादी) विधि की एक महती विशेषता यह है कि जब साधक इसका आस्वादन कर लेता है तब उसे यह स्पष्ट अनुभूति हो जाती है कि ईश्वरानुराग के सुख से बढ़कर संसार की किसी भी वस्तु में इतना सुख है ही नहीं। सभी लौकिक सुख सुविधाओं का त्याग करके भी उसे सर्वदा एक विलक्षण प्रकार के आनन्द एवं तृप्ति का अनुभव होता रहता है। बड़ा ही सुन्दर एक सन्त श्री भोले बाबा कहते है :

"संसारवाही बैल सम दिन रात बोझा ढोय है।
त्यागी तमाशा देखता सुख से जगे है सोय है॥" (वेदान्त छन्दावलि)।

रहस्यवादियों का कथन है कि इस पथ का पथिक ईश्वर की समीपता होने में ही अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति मानता है। जे० एच० ल्यूबा (J. H. Leuba) इसी प्रसंग में कहते हैं, "To realise the presence of the God of love is the mystic's method of securing the satisfaction of his essential wants." (अर्थात् "प्रेम रूपी ईश्वर का साक्षात्कार करना ही रहस्य-

---

1. देखिये 3, 14, 1

वादी की अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने की विधि है।")।[1]

8. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

संसार के इतिहास में सभी समयों में विभिन्न देशों में ऐसे विचारक होते रहे हैं जिन्होंने रहस्यवाद को परम तत्व के ज्ञान (अनुभव) का सर्वोत्तम साधन बताया है। प्राचीन यूनान में सर्वप्रथम हमें महान् दार्शनिक प्लैटो (Plato) के दर्शन में रहस्यवाद के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। तदुपरान्त तृतीय शताब्दी में रोम के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लॉटिनस तो रहस्यवाद के सर्वप्रमुख प्रणेताओं में गिने ही जाते हैं। मध्यकालीन यूरोप में भी सेन्ट ऑगस्टाइन (St. Augustine), सेन्ट टॉमस एक्वीना (St. Thomas Acquinas), सेन्ट एन्जैलम (St. Anselm), एक्हार्ट (Eckhart) आदि अनेक ऐसे ईसाई सन्त हुए हैं जिन्होंने रहस्यवादी विचारधारा का बड़ा ही बलपूर्ण समर्थन किया है। स्मरणीय है कि इन सभी सन्तों का जीवन रहस्यमयी धार्मिक अनुभूतियों से परिपूर्ण था। भारत में उपनिषदों का दर्शन दार्शनिक रहस्यवाद का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। उपनिषदों की सर्वप्रमुख समस्या है ऐसे ज्ञान की उपलब्धि जिससे चरम सत्ता (Ultimate Reality) के समग्र रहस्य को समझा जा सके और जन्म मरण रूपी असंख्य दुखों की फाँसी को सदा के लिए काटा जा सके। मध्य युग में भी भारत में कबीर, नानक, दादू, सूर, तुलसी, मीरा, रहीम, रसखान आदि अनेक ऐसे कवि, भक्त तथा सन्त हुए हैं जिनका जीवन प्रभु प्रेम में पूर्ण रूप से खोया हुआ था और जिन्होंने ईश्वर-साक्षात् विषयक बहुत सी अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं। आधुनिक काल में श्री रामकृष्ण परमहंस, श्री स्वामी रामतीर्थ आदि महात्माओं के जीवन-वृत्त भी अनेक रहस्यात्मक धार्मिक अनुभवों के उत्तम उदारहण हैं। इस्लाम मत में रहस्यवादी सन्तों को सूफी कहा गया है। सूफी मत का प्रादुर्भाव औपनिषद् दर्शन (अर्थात् वेदान्त) के प्रभाव से ही हुआ था; अस्तु स्वाभाविक रूप से इस मत के सिद्धान्त वेदान्त के सिद्धान्तों से पर्याप्त सादृश्य रखते हैं। उदाहरण के रूप में इसका मूल सिद्धान्त "अनलहक" (अर्थात् "हम खुदा हैं") वेदान्त दर्शन के मूल सिद्धान्त "अहं ब्रह्मास्मि" (अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ") का ही अनुवाद प्रतीत होता है, और इसी प्रकार "हमा ओ अस्त" (अर्थात् "सब वही है") "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की ही प्रतिध्वनि मात्र है। सूफी सन्त भी वेदान्ती महात्माओं के समान अहर्निश आत्मा और ब्रह्म के एकत्व की अनुभूति में निमग्न रहा करते थे। सुप्रसिद्ध सूफी सन्त शम्स तब्रेज

1. 'दि साइकोलॉजी ऑफ रिलीजस मिस्टिसिज्म' ('The Psychology of Religious Mysticism'), पृष्ठ 120।

इसी एकत्व की रहस्मयी प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं :

"अजब मन शम्स तब्रेजम् के आशिक़ गरदा अम् बर खुद।
के खुद रा खुद नजर करदम् न दीदा जुज़ खुदा दर खुद ॥"

(अर्थात् "मैं शम्स तब्रेज़ कैसा विचित्र व्यक्ति हूँ कि मैं स्वयं पर ही प्रेमासक्त हो गया हूँ, क्योंकि जब मैंने स्वयं को स्वयं से देखा, तब मैंने स्वयं को ईश्वर के अतिरिक्त कुछ पाया ही नहीं।")। सूफी सन्त यों तो सभी इस्लाम से सम्बद्ध थे तथापि इनका मत बहुत अंशों में इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध था। अतः बहुत से सूफियों को मुस्लिम बादशाहों के क्रोध का भाजन होना पड़ा। सुविख्यात सूफ़ी मन्सूर ने जब "अनलहक" की घोषणा की, तब तत्कालीन बादशाह ने तुरन्त ही उनको सूली (फांसी) पर चढ़ाने का भीषण आदेश कर दिया। और, महात्मा मन्सूर संसार के लोगों को प्रभु-प्रेम का सन्देश देते हुए बड़ी प्रसन्नतापूर्वक सूली पर चढ़ गये। इसका बड़ा ही रोमांचकारी चित्रण एक उर्दू कवि ने यों किया है :

"चढ़ा मन्सूर सूली पर पुकारा इश्कबाज़ों को,
यह उस (ईश्वर) के बाम[1] का जीना है आये जिसका जी चाहे"।

उक्त सूफी सन्तों के अतिरिक्त सरमद, बुल्लाशाह, मौलाना रूमी आदि अनेक और भी ऐसे महात्मा हुए जिन्होंने इह मत का समर्थन किया और यह उपदेश दिया कि ईश्वर-प्राप्ति का सबसे उत्कृष्ट मार्ग ईश्वर के साथ प्रेम का रहस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना ही है।

समालोचना

अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के सदृश रहस्यवादी विचारधारा के विरुद्ध भी आलोचकों ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। निम्न पंक्तियों में हम इन पर विचार करेंगे :

(1) आलोचकों का कथन है कि रहस्यवाद में बौद्धिक ज्ञान की जो अवहेलना की गई है वह सर्वथा अनुचित है। सत्य और मिथ्या का विवेक तो केवल बौद्धिक आधार पर ही हो सकता है अन्यथा नहीं। बुद्धि के द्वारा ही हम संसार की वस्तुओं और परिस्थितियों का विश्लेषण कर यह जान सकते हैं कि चरम सत्ता का क्या स्वरूप है और उस चरम सत्ता का जीव और जगत् से क्या सम्बन्ध है। उसी बुद्धि की यदि उपेक्षा की जाय, जैसे कि रहस्यवादियों ने की है, तो हम उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में निश्चय ही क्या कर सकते हैं? हमारा विचार है कि पाश्चात्य दर्शन के सर्वसामान्य दृष्टिकोण से इस प्रकार की आलोचना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। जैसा कि हमने इस पुस्तक में अनेक स्थानों पर बड़े स्पष्ट रूप में कहा है

1. छत

वास्तविकता यह है कि अधिकतर पाश्चात्य दार्शनिकों का लक्ष्य बौद्धिक गवेषणा द्वारा जीवात्मा, जगत्, परम तत्व आदि के स्वरूप का निर्धारण करना मात्र रहा है। इससे आगे उनका इस बात की खोज से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है कि वह कौन सी विधि या साधन है जिससे जगत् में जीवात्मा परम तत्व का प्रत्यक्ष साक्षात्कार (Direct vision) कर सके। उनके मत से परम तत्व या चरम सत्ता का साक्षात् करना या उससे तादात्म्य स्थापित करना दर्शन के क्षेत्र से बाहर का विषय है ; अतः न उस पर विचार करना उनका कर्तव्य है और न ही उनका कर्तव्य है ऐसी विधि का अनुसरण करना जिससे इस प्रकार का साक्षात् या तादात्म्य प्राप्त हो सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामान्य रूप से पाश्चात्य दर्शन का उद्देश्य और विधि रहस्यवाद के उद्देश्य और विधि से एकदम भिन्न है, और ऐसी स्थिति में पाश्चात्य विचारकों के द्वारा उनके अपने दृष्टिकोण से रहस्यवाद की उपर्युक्त आलोचना अनुचित भी नहीं है। इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि यद्यपि सत्य और मिथ्या के विवेक के लिये और परम तत्व के स्वरूप के विषय में सन्देहों के निवारण के लिए बुद्धि की महती आवश्यकता है, तथापि बौद्धिक गवेषणा को ही दर्शन का लक्ष्य बनाना, जैसा कि पश्चिमी दार्शनिकों ने प्रायः किया है, जीवन के लिए दर्शन की उपयोगिता को ही समाप्त कर देना है। इसी कारण रहस्यवादी विचारकों ने बड़े बलपूर्ण शब्दों में यह प्रस्तावित किया है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य चरम सत्ता के सम्बन्ध में बौद्धिक छानबीन मात्र नहीं वरन् उसके साथ तादात्म्य प्राप्त करना है। और उनके अनुसार इस तादात्म्य की प्राप्ति का उपाय है चरम सत्ता या ईश्वर के साथ प्रेम की स्थापना करना और इस प्रेम में अहर्निश निमग्न रहना। अब प्रश्न है बुद्धि की उपेक्षा या निन्दा का ? हमारा मत है कि जहाँ तक सीमित बुद्धि द्वारा निस्सीम ईश्वर को समझने की बात है और बौद्धिक उत्कर्ष एवं वाक्-कौशल से अहंकार, द्वेष आदि दुर्गुणों की उत्पत्ति का सम्बन्ध है उस सीमा तक रहस्यवादियों द्वारा बुद्धि की अवहेलना संगत ही है; किन्तु सर्वप्रकारेण बुद्धि की भर्त्सना करना, जैसा कि कुछ रहस्वाद के पोषकों ने किया है, कदापि समीचीन नहीं है। बुद्धि की अपनी सीमायें तथा दोष होते हुए भी ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में उसका अपना महत्व है, अपना योगदान है। संशय रूपी विहंगों को उड़ाने के लिए और अज्ञान तिमिर[1] के मेघों को विच्छिन्न करने के लिए बुद्धि ही ईश्वर-साक्षात् की उपलब्धि में हमारे पथ को आलोकित करती है।

(2) रहस्यवाद के विरुद्ध एक दूसरी आपत्ति यह उठाई गई है कि इस विधि

1. अन्धकार

में क्योंकि प्रेम ही ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है, अतः संवेगात्मकता (Emotion) के बाहुल्य के कारण इसमें दार्शनिक तटस्थता का अभाव है। हमारे विचार से रहस्यवाद पर इस प्रकार का आरोप अनुचित एवं पक्षपातपूर्ण है। गहराई से विचार करने पर विदित होता है कि वस्तुस्थिति एकदम विपरीत सी है। ईश्वर-प्रेम (जिसका रहस्यवाद समर्थन करता है) के द्वारा तो मनुष्य के अन्तःकरण की आत्यन्तिक पवित्रता प्राप्त होती है और उसके फलस्वरूप उसमें सभी विषयों के प्रति तटस्थता का उद्भव है। वास्तविकता यह है कि ईश्वर-विषयक संवेगात्मकता सांसारिक संवेगात्मकता से मूलतः भिन्न होती है। संसार के अन्य विषयों के प्रति अनुराग अवश्य ही मानव मन में पक्षपात की अभिवृद्धि करता है, किन्तु ईश्वरानुराग तो सर्वदा ही मानव हृदय को परम पवित्र बनाकर उसमें पूर्ण निष्पक्षता एवं निरपेक्ष ज्ञान का उदय करता है।

(3) कुछ विचारकों ने यह कहा है कि भिन्न भिन्न रहस्यवादी सन्तों की परम-तत्व विषयक अनुभूतियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। इन अनुभूतियों की भिन्नता इस बात को प्रमाणित करती है कि रहस्यवादी अनुभव केवल व्यक्तिगत अनुभव होते हैं और उनके आधार पर एक सर्वमान्य परतत्त्व की स्थापना नहीं की जा सकती। अनुभूतियों की विविधता साथ ही यह भी सन्देह उत्पन्न करती है कि ये सभी रहस्यवादी अनुभव कहीं मिथ्या ही न हों। गम्भीरता से विचार करने पर इस आलोचना की निराधारता भी सहज स्पष्ट हो जाती है। धार्मिक अनुभूतियों की भिन्नता उनकी असत्यता प्रकट नहीं करती। हमारे मत से उससे वस्तुतः यह प्रमाणित होता है कि ईश्वर एक अनन्त सत्ता है जो भक्तों एवं सन्तों की भावनाओं के अनुरूप प्रकट हो जाने की क्षमता रखती है और प्रकट हो जाती है—

"जा की रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" ॥ (तुलसी) ॥

वास्तविकता यह है कि पूर्ण सत्ता (ईश्वर) का विभिन्न रूपों में प्रकट होना कोई असमीचीन बात भी नहीं है क्योंकि पूर्ण होने के कारण ऊपर से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विविध रूपों को समन्वित रखने की उसमें अपूर्व सामर्थ्य है। पूर्ण सत्ता का स्वभावतः ऐसा होना ही संगत है।

अन्तःप्रज्ञावाद
(Intuitionism)

बौद्धिक ज्ञान का विरोध करने वाले दार्शनिकों में एक दूसरा वर्ग उन

विचारकों का है जो अन्तःप्रज्ञा (Intuition) को तत्वानुसन्धान का सर्वोत्तम साधन प्रतिपादित करते हैं। इस वर्ग के दार्शनिकों का यह कहना है कि बौद्धिक ज्ञान स्वभावतः ही विश्लेषणात्मक (analytical) होता है। बुद्धि सत्य को भिन्न-भिन्न अवयवों में बांट देती है, किन्तु फिर उन अवयवों को संयुक्त करके एक ऐसे सजीव ऐक्य (organic whole) में बांधने की सामर्थ्यं नहीं रखती जिसमें सत्य की सभी विशेषताओं का समावेश हो जाय। वह अंगी के अंगों को पृथक्-पृथक् तो कर देती है, परन्तु अंगों को सम्मिलित करके अंगी का पुनर्निर्माण करने की क्षमता नहीं रखती। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि बुद्धि हमारे सम्मुख सत्य का एक विकृत चित्र प्रस्तुत करती है। इस प्रणाली के एकदम विपरीत अन्तःप्रज्ञावादी दार्शनिकों का कथन है कि अन्तःप्रज्ञा द्वारा हम स्वयं को तत्त्व से एकाकार अनुभव करते हैं। जब कि बौद्धिक ज्ञान में हम तत्त्व के बाहर मंडराते रहते हैं अन्तःप्रज्ञा में हम तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को स्पर्श कर लेते हैं।

1. बौद्धिक ज्ञान के दोष

बौद्धिक ज्ञान की दोषयुक्तता प्रमाणित करने के लिए अन्तःप्रज्ञावादी दार्शनिक निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं :

(क) बौद्धिक ज्ञान प्रत्ययात्मक ज्ञान (conceptual knowledge) होता है। प्रत्यय, जिनके द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है, अमूर्त्त (abstract) तथा आंशिक (partial) होते हैं और वे वस्तुओं के केवल सामान्य गुणों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। वस्तुओं के विशेष गुणों का उनमें समावेश नहीं होता। अस्तु प्रत्ययात्मक ज्ञान के द्वारा वस्तुओं का पूरा ज्ञान सम्भव ही नहीं है। वस्तुओं का पूरा ज्ञान अन्तःप्रज्ञा से ही होता है।

(ख) बौद्धिक ज्ञान विश्लेषणात्मक ज्ञान (analytical knowledge) होता है। बुद्धि पदार्थ को पृथक् पृथक् टुकड़ों में विभाजित कर देती है, किन्तु फिर उन टुकड़ों को संयुक्त करके एक सजीव साकल्य में बाँधने की क्षमता नहीं रखती। इसमें वियोजन की सामर्थ्य होती है संयोजन की नहीं। वह सत्यता का खण्डित चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है उसका एक अखण्डरूप चित्र नहीं। इस प्रकार यह कहना होगा कि बुद्धि सत्य के विकृत रूप का ही दर्शन हमें कराती है उसके शुद्ध एवं मूल स्वरूप का नहीं।

(ग) बौद्धिक ज्ञान द्वारा हमें वस्तुओं की बाहरी झलक मात्र प्राप्त होती है उनके अन्तरंग स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। अस्तु इस प्रकार के ज्ञान द्वारा हम

सत्य के मूल रूप को कदापि नहीं जान पाते। सत्य के मूल रूप का ज्ञान हमें केवल अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है।

(घ) बौद्धिक ज्ञान सापेक्ष (relative) होता है निरपेक्ष नहीं। उसके द्वारा वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध (mutually related) दृष्ट होती हैं अपने स्वतंत्र अथवा निरपेक्ष रूप में नहीं। इस ज्ञान की सापेक्षता एक दूसरे प्रकार से भी प्रमाणित होती है। यह ज्ञान क्योंकि हमारी रुचि तथा प्रयोजन से निर्धारित होता है, अतः इसके द्वारा हमें केवल एक दृष्टिकोण विशेष का ही परिचय प्राप्त होता है अन्य दृष्टिकोणों का नहीं। अन्तःप्रज्ञा द्वारा उद्भूत ज्ञान इन दोषों से मुक्त होता है। यह सत्य का अपने स्वतंत्र एवं निरपेक्ष रूप में साक्षात् करता है, उसके अवयवों से उसके सम्बन्धों के रूप में नहीं। पुनः यह ज्ञान व्यक्ति की रुचि एवं प्रयोजन से भी पृथक् होता है। अतः यह तत्त्व का अपने मूल रूप में साक्षात् करने में सक्षम होता है।

(ङ) बुद्धि हमें स्थिर ज्ञान (static knowledge) प्रदान करती है। वस्तुएँ निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं किन्तु प्रत्यय (concepts) स्थिर होतें हैं; अतः वे वस्तुओं के वास्तविक रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे (प्रत्यय) वस्तुओं के परिवर्तनशील रूप को न बता कर उनके निर्जीव चित्र को ही उपस्थित करते हैं। इस प्रकार बौद्धिक ज्ञान सत्य के वास्तविक रूप को निर्दिष्ट करनें में असमर्थ रहता है।

2. अन्तःप्रज्ञा की विभिन्न व्याख्यायें

अन्तःप्रज्ञा के स्वरूप के विषय में दार्शनिक एकमत नहीं हैं। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने इसकी व्याख्या भिन्न भिन्न रूप से की है। कुछ पाश्चात्य अनुभववादी दार्शनिकों ने इन्द्रियजन्य ज्ञान से इसका तादात्म्य कर दिया। उदाहरण के रूप में दार्शनिक क्रोसे (Croce) ने इसे 'मानसिक प्रतिमाओं के रूप में संवेदना' (sensation in the form of mental imagery) कहा। परन्तु विख्यात दार्शनिक बर्गसों ने अन्तःप्रज्ञा की व्याख्या करते हुए जहां एक ओर इसे बुद्धि (Intellect) से भिन्न कहा वहाँ दूसरी ओर इसे मूलप्रवृत्ति (Instinct) से भी भिन्न कहा। ब्रैड्ले ने भी इन्द्रियजन्य अनुभव पर आधारित प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में अनुभववादियों की अन्तःप्रज्ञा की व्याख्या का तिरस्कार किया। उन्होंने एक पूर्ण के अनुभव के रूप में इसकी प्रकृति को समझा। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'Appearance and Reality' में वह कहते हैं 'What we discover rather (in intuition) is a whole in which distinctions can be made but in which

divisions donot exist" [अर्थात् "हम जो कुछ (अन्तःप्रज्ञा में) पाते हैं वह पूर्ण होता है जिसमें भेद तो किये जा सकते हैं किन्तु जहाँ विभाग विद्यमान नहीं रहत।"[1]] भारतीय विचारक श्री अरविन्द अन्तःप्रज्ञा के विषय में कहते हैं कि यह ज्ञान वस्तुओं को पूर्ण में देखता है और इसकी प्रवृत्ति ज्ञान के सहज सामञ्जस्य एवं एकता की ओर रहती है।

3. ज्ञेय के साथ तादात्म्य की अनुभूति

अन्तःप्रज्ञावाद के अनुसार अन्तःप्रज्ञा में ज्ञाता ज्ञेय के साथ तादात्म्य की अनुभूति करता है। वह तत्त्व के मूल स्वरूप में भागीदार हो जाता है और उसके साथ एकरूपता का अनुभव करता है। बर्गसों का कथन है कि इस ज्ञान में हम सत्व (Reality) के जीवन-स्पन्दन का संस्पर्श कर लेते हैं। सत्य या तत्त्व, उनके अनुसार, निरन्तर गतिशील है, सतत प्रवाहमय है। बुद्धि हमें केवल तत्त्व के स्थिर तथा निर्जीव रूप का ज्ञान कराती है; उसके वास्तविक प्रवाहमान रूप का नहीं। जिस प्रकार एक गतिशील वस्तु के विभिन्न स्थितियों में लिए गये चित्र एक साथ रखे जाने पर भी हमें "गति" के वास्तविक स्वरूप का दर्शन नहीं करा सकते, उसी प्रकार संवेदन और चिन्तन द्वारा प्राप्त तत्त्वविषयक ज्ञान के विभिन्न अंशों को एक साथ रखकर बुद्धि भरसक प्रयत्न करने पर भी "परिवर्त्तन" के वास्तविक स्वरूप, जो तत्त्व का ही मूल स्वरूप है, को नहीं बता सकती। तत्त्व के प्रवाहमान् वास्तविक स्वरूप की अनुभूति तो केवल अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही सम्भव है अन्यथा नहीं।

4. अन्तःप्रज्ञा का मूलप्रवृत्ति तथा बुद्धि से अन्तर

जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है अन्तःप्रज्ञा मूलप्रवृत्ति और बुद्धि दोनों से भिन्न है। बर्गसों कहते हैं कि मूलप्रवृत्ति के द्वारा जीवन के मूल स्वरूप का ज्ञान होता है और बुद्धि द्वारा केवल निर्जीव जड़ जगत् का। अन्तःप्रज्ञा यद्यपि दोनों से भिन्न है तथापि बुद्धि की अपेक्षा वह मूल प्रवृत्ति से अधिक सादृश्य रखती है क्योंकि वह भी जीवन के मूल स्वरूप का अनुभव करती है। किन्तु मूलप्रवृत्ति और अन्तःप्रज्ञा दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर भी है। जब कि मूलप्रवृत्ति का झुकाव क्रिया (action) की ओर रहता है और इसमें जीवन की चेतना धूमिल रहती है, अन्तःप्रज्ञा का झुकाव केवल ज्ञान की ओर रहता है और इसमें जीवन की पूर्ण चेतना होती है। अस्तु बर्गसों कहते हैं कि 'मूलप्रवृत्ति' में जो चेतना सुप्त रहती है यदि उसे जागत कर दिया जाय तो वह जीवन के सर्वाधिक अन्तरंग रहस्य का भी उद्घाटन हमारे सम्मुख कर सकती है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पूर्ण चेतना को प्राप्त मूलप्रवृत्ति ही अन्तःप्रज्ञा है जो सजीव सत्य का ज्ञान हमें कराती है। इस प्रसंग में उनके अपने शब्द हैं: "By intuition I mean instinct that

---

1. पृ० 128

becomes disinterested, self-conscious, capable of reflecting upon its object and enlarging it indefinitely." (अर्थात् "अन्त:प्रज्ञा से मेरा तात्पर्य उस मूलप्रवृत्ति से है जो निष्काम और स्वचेतन हो जाती है, और विषय का चिन्तन करने तथा अनिश्चित रूप से उसे विस्तृत करने में समर्थ हो जाती है।"[1])। जहां तक बुद्धि से अन्त:प्रज्ञा के अन्तर का प्रश्न है बर्गसों कहते हैं कि बुद्धि केवल जीवन के चारो ओर घूमती रहती है और उसमें प्रवेश करने के स्थान पर केवल बाहर ही के उसके स्वरूप का अनुमान किया करती है, किन्तु अन्त:प्रज्ञा उस (जीवन) के मूलभूत स्वरूप का साक्षात् हमें कराती है। अत: उनके मतानुसार अन्त:प्रज्ञा को "तदनुभूति" (Empathy) के नाम से पुकारा जा सकता है क्योंकि इसमें किसी वस्तु को जानना उससे भावनात्मक एकता स्थापित करना है।

5. बुद्धि और अन्तःप्रज्ञा एक दूसरे के पूरक हैं

यह तो ठीक ही है कि बुद्धि और अन्त:प्रज्ञा में बहुत भिन्नता है, परन्तु साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि वे दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। बुद्धि से ही ज्ञान प्राप्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इसके बिना अन्त:प्रज्ञा केवल मूल प्रवृत्ति बन कर ही रह जाती है। यह मूलप्रवृत्ति को अन्त:प्रज्ञा के रूप में परिवर्तित करने में सहयोग तो देती ही है, साथ ही यह 'सत्य' की झलकों को परस्पर सम्बद्ध करके और उन्हें एक संगत दार्शनिक सिद्धान्त का रूप देकर अन्त:प्रज्ञा के कार्य को पूरा भी करती है। बर्गसों कहते हैं, "Dialectic is necessary to put intuition to the proof, necessary also in order that intuition should break itself up into concepts and so be propagated to other men." (अर्थात् "तर्क अन्त:प्रज्ञा को प्रमाणित करने के लिए आवश्यक है, इसलिए भी आवश्यक है कि अन्त:प्रज्ञा स्वयं को प्रत्ययों के रूप में तोड़ सके और वह अन्य लोगों में प्रचारित की सा सके।"[2])। वास्तविकता यह है कि जब तक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और विश्लेषणात्मक प्रणाली का बुद्धि पर आधिपत्य है तब तक वह अन्त:प्रज्ञा की विरोधी वनी रहती है और आध्यात्मिक अनुभव में बाधक होती है। परन्तु, जब वह शुद्ध, संयमित और प्रदीप्त हो जाती है तब वह अतिमानसिक अनुभवों को भी प्रत्ययों में प्रकट कर देती है और आध्यात्मिक अनुभव को सर्वसुलभ बना देती है।

---

1. 'Creative Evolution', पृ० 186.
2. 'Creative Evolution', पृ० 251.

समालोचना

(1) हमने ऊपर की पंक्तियों में देखा है कि अन्त:प्रज्ञावादी दार्शनिकों ने बौद्धिक ज्ञान के अनेक तर्कीय दोष निर्दिष्ट किये हैं। उन्होंने अन्त:प्रज्ञा की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के हेतु भी अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उनके इस प्रकार के प्रयासों से क्या बुद्धि की महत्ता प्रकट नहीं होती ?

(2) अन्त:प्रज्ञावादियों ने अन्त:प्रज्ञा द्वारा तत्त्व के साक्षात् का प्रतिपादन किया है। क्या इस प्रणाली में कई बार कल्पनासृष्टि का भय उत्पन्न नहीं हो जाता ? दर्शन व्यक्तिगत सनक अथवा कल्पना की उड़ानों का क्षेत्र तो नहीं ही कहा जा सकता। दार्शनिक सत्यों को सभी की स्वीकृति प्राप्त होना आवश्यक है। ये सत्य सार्वभौम होते हैं। यह समझ में नहीं आता कि केवल अन्त:प्रज्ञा के आधार पर इन सत्यों के साक्षात् को कैसे प्रामाणिक कहा जा सकता है।

(3) आलोचकों का कहना है कि बुद्धि तथा अन्त:प्रज्ञा दोनों की ही आवश्यकता है। अन्त:प्रज्ञा से हमें तत्त्व का साक्षात् प्रकाश की एक झलक के सदृश होता है। परन्तु इसकी समीचीनता तो बौद्धिक विचार से ही प्रमाणित की जा सकती है। यह बात अवश्य है कि अन्त:प्रज्ञा बुद्धि की सीमायें लांघ जाती है, किन्तु यह भी मानना होगा कि अन्त:प्रज्ञा बुद्धि का कार्य नहीं कर सकती। तत्त्व का बुद्धिगम्य होना आवश्यक है। उसका विश्लेषण और संश्लेषण के योग्य होना आवश्यक है अस्तु स्पष्ट होता है, जैसा कि बर्गसों ने भी माना है, कि अन्त:प्रज्ञा द्वारा प्राप्त ज्ञान की सत्यता प्रमाणित करने के हेतु बुद्धि की महती आवश्यकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(4) अन्त:प्रज्ञावाद की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अन्त:प्रज्ञा के वास्तविक स्वरूप को निश्चयात्मक रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। बर्गसों ने इसे अव्यवहित ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष (immediate-sense perception) के रूप में समझा है। उन्होंने इसका सादृश्य मूलप्रवृत्ति से किया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से तो केवल विशेष एवं सापेक्ष सत्यों का ही ज्ञान होता है, सार्वभौम एवं निरपेक्ष सत्यों का नहीं। ब्रैड्ले ने अन्त:प्रज्ञा को भाव (Feeling) का रूप दे दिया है। उनके मतानुसार पूर्ण का अनुभव भाव से होता है बुद्धि से नहीं। ब्रैड्ले का यह विचार भी हमें समीचीन प्रतीत नहीं होता। भावात्मक स्थिति में तथ्यों को उनके वास्तविक रूप में देखना कई बार सम्भव ही नहीं होता। इस स्थिति में अनेक बार हमारी चेतना दोषयुक्त हो जाती है और हमें सत्य का ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र विचार यह है कि अन्त:प्रज्ञा को

मूलप्रवृत्ति (Instinct) अथवा भाव (Feeling) आदि के सदृश कहना कदापि संगत नहीं है। अन्तःप्रज्ञा तो चेतना या ज्ञान की एक उच्चतर अवस्था है जो आध्यात्मिक साधना के द्वारा प्राप्त होती है। इसे हम योग-दृष्टि (Yogic vision) भी कह सकते हैं और रहस्यात्मक अनुभूति (Mystic experience) भी। यह एक अतिबौद्धिक ज्ञान (supra-intellectual knowledge) की स्थिति है जिसमें तत्त्व का अपने मूल रूप में साक्षात् होता है। भारतीय दर्शन में अन्तःप्रज्ञा को इसी अर्थ में समझा गया है। उपनिषदों तथा अन्य ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर इसी अन्तःप्रज्ञा की चर्चा प्राप्त होती है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. ज्ञानमीमांसा क्या है ? उसकी प्रमुख समस्यायें क्या हैं ?
What is epistemology ? What are its main problems ?

2. अनुभववाद का क्या अर्थ है ? किस प्रकार ह्यूम का संशयवाद अनुभववाद का अनिवार्य परिणाम है ? समझाकर लिखिये ।
What is Empiricism ? Explain how the Scepticism of Hume was the logical conclusion of Empiricism.

3. ह्यूम संदेहवाद अपनाने में लॉक और बर्कले से कहाँ तक प्रभावित हुए हैं ?
How far was Hume influenced by Locke and Berkeley in accepting Scepticism?

4. "ह्यूम का संशयवाद लॉक द्वारा अपनाये गये अनुभववाद का तर्कीय परिणाम है ।" उपर्युक्त कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? समझाइये ।
"Hume's Scepticism is the logical conclusion of Locke's Empiricism." How far do you agree with the above statement ? Discuss.

5. लॉक के अनुभवाद की न्यायसंगत परिणति ह्यूम के संदेहवाद में क्यों कर हुई यह समझाइये । क्या उससे बचा जा सकता था ?
Show how Locke's empiricism had a logical culmination in Hume's Scepticism. Could it escape that ?

6. बुद्धिवाद की आलोचना कीजिये ।
Evaluate Rationalism.

7. समीक्षावाद को ज्ञान के सिद्धान्त-स्वरूप में समझाइये और दिखलाइये कि वह बुद्धिवाद और अनुभववाद को किस प्रकार समन्वित करता है ।
Explain Kant's critical theory of knowledge and show how it seeks to reconcile Empiricism with Rationalism.

8. काण्ट ने किस प्रकार बुद्धिवाद तथा अनुभववाद दोनों की आलोचना की है ? उन दोनों में उन्होंने किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित किया है ?
How does Kant criticize both Rationalism and Empiricism ? How does he reconcile them in his Criticism?

9. ज्ञान के एक सिद्धान्त के रूप में समीक्षावाद को समझाइये ।
State and explain Criticism as a theory of knowledge.

10. रहस्यवाद से आप क्या समझते हैं ? इसकी आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत कीजिए ।
    What do you understand by Mysticism ? Explain it critically.

11. अन्त:प्रज्ञावाद की समीक्षा कीजिये ।
    Critically consider Intuitionism.

चतुर्दश अध्याय

ईश्वर

(God)

ईश्वर-विषयक विचार के अन्तर्गत दार्शनिकों ने तीन प्रश्नों पर बड़े विशद रूप से चिन्तन किया है। ये तीन प्रश्न इस प्रकार हैं : (१) ईश्वर का क्या स्वरूप है ?, (२) ईश्वर के अस्तित्व के क्या प्रमाण हैं? और (३) ईश्वर का जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है ? हम यहाँ क्रमेण तीनों प्रश्नों पर विचार करेंगे ।

ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में बड़ी मतविभिन्नता देखने में आती है । इस मतविभिन्नता की भँवर में न फँस कर इस समय हम ईश्वर की सर्वसामान्य धारणा को प्रस्तुत करना ही उचित समझते हैं । सामान्य रूप से 'ईश्वर' शब्द का अभिप्राय उस शक्ति से होता है जिसने इस समस्त संहार की रचना की है, जो इसका संचालन तथा पालन करती है, और अन्त में इसका संसार कर देती है । ईश्वर की यह सामान्य धारणा भारतीय दर्शन में महर्षि बादरायण व्यास कृत 'वेदान्त सूत्र' में दी गई ब्रह्म की निम्न परिभाषा से बड़ा ही सुन्दर सादृश्य रखती है : "जन्माद्यस्य यत:" । (अर्थात् "जिस सत्ता या शक्ति के द्वारा जगत् का जन्म, संस्थापना तथा संहार होता है वह ब्रह्म (ईश्वर) है" ।) । विचार करने पर यह सहज बुद्धिगम्य हो सकता है कि ईश्वर की इस धारणा या परिभाषा में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता एवं सर्वव्यापकता भी निहित है; क्योंकि इन अपरिमित गुणों के अभाव में ईश्वर सृष्टि का रचयिता, संस्थापक तथा संह्वारकर्ता हो ही नहीं सकता । कदाचित् इसी बात को ध्यान में रखकर डेकार्ट ने ईश्वर की अपनी निम्न परिभाषा में ईश्वर के उक्त प्राय: सभी गुणों का समावेश कर लिया था : "By the name God I understand a substance, infinite, eternal, immutable, independent, all knowing, all powerful, and by which I myself, and every other thing that exists, were created."[1] (अर्थात् "ईश्वर

1. "Meditations."

नाम से मैं एक ऐसा द्रव्य समझता हूँ जो अनन्त, शाश्वत, अपरिवर्तनशील, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है, और जिसके द्वारा मैं स्वयं तथा वे सभी वस्तुएं जो अस्तित्वमान हैं, सृजन की गई थीं।") । दार्शनिकों द्वारा ईश्वर को सत्यम् (Truth), शिवम् (Good) तथा सुन्दरम् (Beauty) भी कहा गया है। अर्थात् ईश्वर सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि सत्ता (Highest Truth or Reality) है, सर्वश्रेष्ठ शुभ (Highest Good) है और सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य (Highest Beauty) है। वह सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि सत्ता इसलिये है कि उसे अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य सत्ता पर आधारित नहीं रहना पड़ता; वह सभी सत्ताओं की मूल आधार है। वह सर्वश्रेष्ठ शुभ या सर्वश्रेष्ठ साध्य इस लिये है कि संसार में वह सभी क्रियाओं का लक्ष्य है। और वह सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य इस लिये है कि संसार में वह सभी रसात्मक खोजों का एकमात्र केन्द्र बिन्दु है। भक्तों की दृष्टि से वह व्यक्तित्व-सम्पन्न भी है जो निस्सीम दया, करुणा, कृपा, क्षमा, प्रेम आदि अनन्त सद्गुणों का अपार सागर है।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रमाणों पर विचार करने से पूर्व सम्भवतः यह आवश्यक होगा कि इस सन्दर्भ में हम प्रमाणों की सार्थकता (meaningfulness) के सम्बन्ध में संक्षेप में विचार कर लें। 'प्रत्यक्ष' ('Perception') प्रमाण के विषय में यह स्पष्ट ही है कि ईश्वर क्योंकि एक अतीन्द्रीय तत्व (Super-sensuous Reality)[1] है, अतः इस प्रसंग में यह प्रमाण एकदम अर्थविहीन है। तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से ही लिया जाता है, अस्तु इन्द्रियातीत तत्व का इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो ही कैसे सकता है? जहाँ तक अनुमान (Inference), उपमान (Comparison) आदि प्रमाणों का प्रश्न है वे भी क्योंकि अन्ततोगत्वा (lastly speaking) प्रत्यक्ष पर ही आधारित हैं, अतः ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने में उनकी निस्सारता भी स्वतः ही प्रकट है। वास्तविकता यह है कि गम्भीरता से विचार करने पर यह शीघ्र समझ में आ सकता है कि तर्कमात्र (mere reasoning) के द्वारा किसी भी वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध किया ही नहीं जा सकता। किसी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान केवल अपरोक्षानुभव (direct experience) के द्वारा ही सम्भव है अन्यथा नहीं। उदाहरण के रूप में लाल अथवा नीले रंग का ज्ञान केवल उन रंगों को देखकर ही हो सकता है अन्य किसी

1. ईश्वर की अतीन्द्रियता उस (ईश्वर) की परिभाषा (जो ऊपर दी गई है) में ही समाहित है।

भी प्रकार से नहीं। जो मनुष्य जन्म से ही अन्धा है उसे 'रंग क्या है' यह ज्ञान हो ही नहीं सकता, चाहे 'रंग' के अस्तित्व के विषय में लाखों तर्क उसके सामने प्रस्तुत किये जायें। परन्तु, यदि किसी चिकित्सा द्वारा अन्धे मनुष्य को दृष्टि प्राप्त हो जाये तो एक ही बार देखकर उसे रंगों के विषय में सहज ही पूरा ज्ञान हो जायेगा। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में भी यही बात सत्य है। ईश्वर का ज्ञान साक्षात् अनुभव के द्वारा ही होता है, तर्कीय युक्तियों के द्वारा नहीं। और यदि उस (ईश्वर) का साक्षात् अनुभव हो जाता है तो किसी भी तर्क की अपेक्षा नहीं रहती।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि बौद्धिक तर्कों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास ही अयुक्त है, तब तर्कों के प्रस्तुत करने की ऊहापोह से क्या लाभ ? हमारा विनम्र मत है कि ईश्वर-विषयक इन तर्कों की महत्ता सन्त महात्माओं की ईश्वर-साक्षात् की अनुभूतियाँ और सर्वसाधारण लोगों के ईश्वर-सम्बन्धी विश्वासों का तर्कीय समर्थन (logical endorsement) करने में निहित है। ईश्वरास्तित्व के ये प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व में हमारी आस्था को सुदृढ़ भूमि पर प्रस्थापित करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि ईश्वर में हमारा विश्वास एक अन्धविश्वास नहीं है। साथ ही साथ एक दूसरा लाभ इन प्रमाणों का यह भी है कि ये (प्रमाण) यह भी संकेत करते हैं कि हम किस किस ढंग से परम सत्ता को समझ सकते हैं।[1]

ईश्वर सम्बन्धी प्रमाणों की उक्त सार्थकता बताने के उपरान्त अब हम निम्न पंक्तियों में दार्शनिकों द्वारा दिये गये इन प्रमाणों में से कुछ मुख्य प्रमाणों को प्रस्तुत कर रहे हैं :

1. आदिकारण विषयक प्रमाण या तर्क (Causal or Cosmological Argument) :

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये यह प्रमाण या तर्क अति प्राचीन काल से दिया जाता रहा है। बहुत पहिले प्लैटो तथा अरस्तु ने यह तर्क उपस्थित किया था। तदुपरान्त मध्यकालीन दार्शनिक टॉमस एक्वीना (Thomas Acquinas) द्वारा इसका प्रतिपादन (formulation) किया गया। सामान्य रूप से यह (तर्क)

1. तुलना कीजिये : "All proofs that God exists are pleas put forward in justification of our faith and of the particular way in which we feel that we must apprehend this highest principle." (अर्थात् "ईश्वर के अस्तित्व के लिये जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे हमारी श्रद्धा के औचित्य-प्रतिपादन में दिये गये अभिवचन हैं और साथ ही साथ वे यह इंगित करती हैं कि हम किस किस विशेष पद्धति से परम तत्व को समझ सकते हैं।")।

इस प्रकार है : संसार की सभी वस्तुएं अपने अस्तित्व के लिये किन्हीं दूसरी वस्तुओं पर आश्रित हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी वस्तुएं अपने कारणों पर आश्रित हैं, अथवा हम यों कह सकते हैं कि जगत् में प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण अवश्य है। जगत् में अकारण किसी भी वस्तु का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। अब यदि हम क्रमेण एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा, और तीसरे के पश्चात् चौथा, इस प्रकार बराबर प्रत्येक वस्तु या कार्य का कारण खोजते चले जायें, तो अन्त में हमें एक ऐसे कारण पर रुकना होगा जिसका आगे कोई कारण नहीं है और यह कहना होगा कि यह कारण 'स्वयं ही अपना कारण' ('Self-caused Cause') है तथा पूर्णरूपेण स्वाश्रित तत्व है। दूसरी ओर हम यदि ऐसे आदि या प्रथम कारण को स्वीकार नहीं करते, तब कार्य और कारण की शृंखला का कोई अन्त ही नहीं होगा और उससे अनवस्था का दोष (Fallacy of Infinite Regress) आ जायेगा। अस्तु, यह मानना आवश्यक है कि विश्व की कार्य-कारण शृंखला का एक आदि कारण निश्चित ही है। बस, दार्शनिकों ने इसी आदि या प्रथम कारण को ईश्वर कहा है।

आदिकारणता के इस तर्क को एक दूसरे प्रकार से रखा जाता है। संसार की प्रत्येक सांश या मिश्रित (compound) वस्तु एक कार्य (effect) है। अतः उसका कोई न कोई कारण होना आवश्यक है। यह संसार भी अनेक उपादानों से निर्मित एक मिश्रित वस्तु है। अतः इसका भी कोई कारण होना आवश्यक है। अब यदि इस (संसार) का कोई सीमित कारण मान लिया जाय, तो उस सीमित कारण का पुनः कारण ढूँढ़ना होगा, और तब उस दूसरे कारण का तीसरा कारण और तीसरे का चौथा कारण, खोजना होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। अस्तु संसार का कोई एक निस्सीम कारण मानना ही युक्तियुक्त है। इस निस्सीम कारण को ही ईश्वर का नाम दिया गया है।

आलोचना

(1) ईश्वर को सृष्टि का आदि कारण मानने से उसे सृष्टि के बाहर एक ऐसी सत्ता के रूप में मानना होता है जिसने एक विशेष समय पर सृष्टि की रचना की है। ऐसी स्थिति में केवलनिमित्तेश्वरवाद (Deism)[1] के विरुद्ध किये जाने वाले सभी आक्षेप इस सिद्धान्त के विरुद्ध भी किये जा सकते हैं।

हमारे विचार से यह आलोचना दोषपूर्ण है। ईश्वर को सृष्टि का आदि कारण मानना एक बात है और उसे सृष्टि के बाहर एक सत्ता मानना दूसरी बात।

1. इसी अध्याय में आगे देखिये।

इन दोनों बातों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही हैं। हम यहां यह भी कह सकते हैं कि ईश्वर जगत् का आदि कारण होने के साथ-साथ जगत् में व्यापक और जगत् से अतीत (बाहर) दोनों है। अस्तु, केवलनिमित्तेश्वरवाद में उठने वाली आपत्तियों का यहाँ प्रश्न ही नहीं है।

(2) ईश्वर को सृष्टि का आदि कारण मानने से एक द्विविधा (Dilemma) उत्पन्न हो जाती है। सृष्टि के आदि कारण के रूप में यदि ईश्वर कार्यकारण श्रृंखला की एक कड़ी (अंग) मात्र है तो जैसे वह सृष्टि का कारण हैं वैसे ही उसका कोई न कोई कारण अवश्य होगा, और तब वह आदि कारण नहीं हो सकता है। पुनः यदि वह (ईश्वर) कार्यकारण श्रृंखला के बाहर है तो कारण-कार्य प्रवाह रूपी सृष्टि से इसका सम्बन्ध स्थापित ही नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में वह इसका कारण ही कैसे हो सकता है ?

(3) आदिकारणता सम्बन्धी यह तर्क कार्य-कारण के नियम पर आधारित है। कार्यकारण का नियम है कि प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण अवश्य है। ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसका कोई कारण न हो। तब यदि यह नियम सत्य है तो ईश्वर का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अस्तु ईश्वर आदि कारण कहा ही नहीं जा सकता।

(4) अनुभव से हमें यह अवश्य ज्ञात है कि संसार की सभी वस्तुएँ कार्य-कारण के नियम में बद्ध हैं। परन्तु इसके आधार पर हम यह कैसे कह सकते है कि यही नियम समष्टि पर भी लागू होता है। क्योंकि यह तो कोई तर्क नहीं है कि जो नियम समष्टि के अंशों पर लागू होता है वही समष्टि पर भी लागू हो। यह कोरी कल्पना ही कही जा सकती है अन्य कुछ नहीं।

(5) स्काटिश दार्शनिक डैविड ह्यूम का कथन है कि कार्यकारण के नियम से यदि सामयिक रूप से यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि इस संसार का आदि कारण एक चेतन सत्ता है, तब भी यह कैसे प्रतिपादित किया जा सकता है कि यह चेतन सत्ता असीम है। ससीम कार्य (अर्थात् ससीम सृष्टि) का कारण ससीम हो सकता है, असीम नहीं।

ह्यूम की यह आलोचना हमारी दृष्टि से दोषयुक्त प्रतीत होती है। जब ईश्वर को सृष्टि का आदि कारण कहा जाता है उसका अर्थ यही है कि ईश्वर सृष्टि की आधार-भूमि है मूल अधिष्ठान है। तब इसमें कोई असंगति (Unreasonability) नहीं कही जा सकती कि ससीम सृष्टि की आधार भूमि निस्सीम है।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक ससीम वस्तु निस्सीम की पृष्ठभूमि के अस्तित्व का स्पष्ट संकेत करती है।

(6) प्रायः संसार में देखा जाता है कि वस्तुओं का निर्माण अनेक कारणों का सम्मिलित फल है। इससे यही इंगित होता है कि सृष्टि भी अनेक कारणों से मिलकर बनी है। अस्तु, सृष्टि का एक ही आदि कारण है यह कैसे कहा जा सकता है ?

2. सत्तामीमांसीय तर्क (Ontological Argument)

पाश्चात्य दर्शन में यह तर्क सर्वप्रथम मध्ययुगीन दार्शनिक सन्त सेण्ट एन्जैल्म (St. Anselm) ने प्रस्तुत किया था। यह तर्क इस प्रकार है : संसार के प्रत्येक व्यक्ति के मन में अनन्तता की धारणा (Idea of Infinity) है। अनन्तता ही पूर्णता (Perfection) है। पूर्णता पूर्ण तभी हो सकती है जबकि इसमें अस्तित्व भी हो, क्योंकि अस्तित्वशीलता के गुण के अभाव में वह पूर्णता पूर्ण रह ही कैसे सकती है ? पूर्णता से अस्तित्व निकाल देने का अर्थ स्वविरोध का दोष (Fallacy of self-contradiction) करना है। अस्तु सिद्ध होता है कि पूर्णता में अस्तित्व है, अर्थात् पूर्णता अस्तित्वमान है। और, पूर्णता को ही ईश्वर कहते हैं। अत: ईश्वर भी अस्तित्वमान है।

डैकार्टे ने इस तर्क को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि यह तो सत्य ही है कि हम सभी को एक असीम सत्ता की धारणा है। प्रश्न उपस्थित होता है कि इस धारणा का कारण कोई सीमित सत्ता (अर्थात् मनुष्य) है अथवा कोई असीम सत्ता ? डैकार्टे उत्तर देते हैं — निश्चय ही इसका कारण ससीम मनुष्य नहीं हो सकता, क्योंकि ससीम असीम का कारण नहीं हो सकता। इस (धारणा) का कारण केवल असीम सत्ता या ईश्वर ही हो सकता है।[1] अस्तु, सिद्ध होता है कि ईश्वर है।

आलोचना

(1) काण्ट इस तर्क की आलोचना करते हुए कहते हैं कि इस तर्क में धारणा से अस्तित्त्व की अनुचित कल्पना की गई है। धारणा से केवल धारणा

---

1. "I should not have the idea of an infinite substance seeing I am finite being, unless it were given to me by some substance, in reality infinite." (अर्थात् "सान्त सत्ता होने के कारण मुझे अनन्त द्रव्य की धारणा हो ही नहीं सकती, जब तक कि यह धारणा किसी अनन्त द्रव्य के द्वारा मुझमें उत्पन्न न की गई हो।" ['मैडिटेशन्स' (Meditations)--लेखक : डैकार्टे]।

की ही सिद्धि हो सकती है, अस्तित्व की नहीं। उदाहरण के रूप में यदि मेरे मनस् में यह धारणा है कि एक विशेष स्थान पर स्वर्ण (Gold) का पर्वत है और मेरी जेब में सौ गिन्नियाँ हैं, तब क्या इन धारणाओं मात्र से उक्त विशेष स्थान पर सचमुच स्वर्ण का पर्वत हो जायगा और मेरी जेब में सौ गिन्नियाँ हो जायेंगी ? स्पष्ट ही है कि यह कदापि नहीं होता। स्वर्ण-पर्वत और गिन्नियों की धारणाओं से केवल धारणात्मक (ideal) पर्वत और धारणात्मक गिन्नियों की सिद्धि होती है, वास्तविक स्वर्ण-पर्वत या वास्तविक गिन्नियों की नहीं। काण्ट कहते हैं कि इसी प्रकार असीम सत्ता की धारणा से केवल धारणात्मक असीम सत्ता की सिद्धि होती है, वास्तविक असीम सत्ता की नहीं।

(2) दूसरा दोष काण्ट ने इस तर्क में आत्माश्रय (Petitio Principii) का बताया है। आत्माश्रय दोष का अर्थ है — 'जिस बात को सिद्ध करना है उसे पहले से ही मान लेना'। प्रस्तुत उदाहरण में हम पूर्ण सत्ता की धारणा के आधार पर पूर्ण सत्ता के अस्तित्व को सिद्ध करना चाहते हैं, और उस (पूर्ण सत्ता) की धारणा में पहले से ही उस (पूर्ण सत्ता) के अस्तित्व को मान लेते हैं। काण्ट कहते हैं कि पहिले ही मानी हुई बात का सिद्ध ही क्या करना है।

काण्ट के द्वारा बताए गए इस सत्तामीमांसीय तर्क के उपर्युक्त दोषों को हीगेल स्वीकार नहीं करते। हीगेल का कथन है कि सामान्यतः यह बात ठीक है कि किसी वस्तु की धारणा मात्र से उस वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु, असीम सत्ता या ईश्वर की धारणा जगत् की सामान्य वस्तुओं की धारणाओं से पूर्णतया भिन्न है। यह एक ऐसी धारणा है जिसमें धारणा और अस्तित्व का कोई भेद किया ही नहीं जा सकता। इस धारणा में अस्तित्व उसी प्रकार से सन्निविष्ट (involved) है जैसे कि वृत्त की धारणा में त्रिज्याओं (radii) की समानता (equality)। हीगेल कहते हैं कि वास्तविकता यह है कि असीम सत्ता की धारणा हमारी बुद्धि का आधार है। यह हमारी सभी धारणाओं में ओत-प्रोत है और हमारी समस्त ज्ञान-प्रक्रियाओं में पूर्व-गृहीत (assumed) है। निरपेक्ष विज्ञान के रूप में असीम सत्ता या ईश्वर 'ज्ञान की सुसंहत समष्टि' (systematic whole of knowledge) है। संसार में जो कुछ भी सत्य है वह इसी का अंश होने के कारण सत्य है।

हीगेल ने जिस उपर्युक्त रूप में इस तर्क की प्रस्थापना की है वह अधिकतर दार्शनिकों को ग्राह्य है। अस्तु, दार्शनिक जगत् में इसका बड़ा महत्व है। परन्तु, यथार्थवादी विचारक (realistic thinkers) इसे विशेष महत्ता नहीं देते, क्योंकि वे 'ज्ञान की सुसंहत समष्टि' की धारणा की अनिवार्यता को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत ही नहीं हैं।

3. प्रयोजनवादी तर्क (Teleological Argument)

संसार में सर्वत्र जो व्यवस्था, तारतम्य एवं सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है है उससे यह अनुमान होता है कि यह (संसार) अन्ध परमाणुओं की क्रीड़ा मात्र नहीं वरन् एक असीम चेतन शक्ति की कृति है। जब हम विभिन्न प्राणियों के रूप रङ्ग तथा अङ्ग प्रत्यङ्गों की बनावट पर विचार करते हैं तो हमें स्पष्ट पता चलता है कि जिस प्रकार की भौगोलिक परिस्थितियों में जिन जीवधारियों का जन्म हुआ है उन्हीं परिस्थितियों के अनुकूल उन्हें रूप, रङ्ग तथा अङ्ग प्रत्यङ्ग प्राप्त हुए हैं। उदाहरण के रूप में जल-जन्तुओं में फेफड़ों के स्थान पर गलफड़े होते हैं, जिससे कि वे जल में रहते हुए भी सुविधापूर्वक श्वास ले सकें। बर्फीले देशों में रहने वाले पशुओं के शरीर पर बड़े बड़े बाल होते हैं, जिससे वे भयंकर शीत से अपनी रक्षा कर सकें। इसी प्रकार की व्यवस्था जगत् के अन्य क्षेत्रों में भी देखी जाती है। इन सभी बातों से यह प्रमाणित होता है कि सृष्टि की रचना किसी अनन्त शक्ति तथा असीम बुद्धि से सुसम्पन्न सत्ता ने की है।

यह तर्क अठारहवीं शताब्दी में पैले (Paley) तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने दिया था। पैले ने **घड़ी साज के दृष्टान्त से** अपनी बात समझाने का प्रयास किया। वह कहते हैं कि घड़ी की सुआयोजित रचना को देख कर हमें यह स्पष्ट अनुमान होता है कि घड़ी का निर्माण किसी बुद्धिमान मनुष्य ने किया है ; इस (घड़ी) के सूक्ष्म अवयव आकस्मिक रूप से कभी इस प्रकार से व्यवस्थित हो ही नहीं सकते थे। इसी प्रकार सृष्टि की अत्यन्त सुन्दर एवं सुआयोजित रचना को देखकर हम निश्चित रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी अनन्त बुद्धिमान् एवं अनन्त सामर्थ्यवान् सत्ता ने इसका निर्माण किया है। बड़े ही सुन्दर रूप में इसी सिद्धांत को प्रतिध्वनित करते हुए हॉकिंग (Hocking) कहते हैं : "Who but a God could have worked out the myriad laws of Nature in all their exact perfection."

आलोचना

(1) इस प्रयोजनवादी तर्क की आलोचना करते हुए काण्ट कहते हैं कि इस तर्क से अधिक से अधिक यह सिद्ध होता है कि सृष्टि की पृष्ठभूमि में एक **दैवी शिल्पकार** (Divine Architect) छिपा है, जिसने पहिले से ही अस्तित्वमान पुद्गल को अपनी योजनानुसार संसार के रूप में परिणित कर दिया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर ने पुद्गल को भी उत्पन्न किया है।

(2) इस तर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले विचारक प्रायः ईश्वर को जगत का निमित्त कारण मानते हैं और पुद्गल को उपादान

कारण । ईश्वर जगत् का निर्माण कर जगत् के वैसे ही बाहर रहता है जैसे कि घड़ीसाज घड़ी का निर्माण करने के उपरान्त घड़ी के बाहर रहता है । आलोचकों का कहना है कि इस प्रकार के सिद्धान्त में यह दोष है कि इसमें संसार से बाहर रहने के कारण ईश्वर उस (संसार) से सीमित कर दिया जाता है और इस प्रकार वह ससीम हो जाता है ।

(3) यह तर्क जगत् के एक सामान्य शिल्पी की उपमा पर आधारित है । परन्तु, हम देखते हैं कि जगत् की सीमित वस्तुओं को बनाने वाले शिल्पी तो सीमित होते हैं । जगत् भी सीमित ही है । तब उक्त उपमा के आधार पर इसका बनाने वाला भी ससीम ही होना चाहिये, निस्सीम नहीं ।

(4) संसार में जहाँ समायोजन (Adjustment), व्यवस्था तथा तारतम्य के उदाहरण हैं वहाँ असमायोजन (Mal-adjustment), अव्यवस्था तथा अतारतम्य के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । उदाहरण के रूप में देखा जाता है कि कई बार अतिवृष्टि (excessive rains) से बहुत सी नदियों में बाढ़ आ जाती है और अनेक गाँव बरबाद हो जाते हैं, और कई बार अनावृष्टि से अकाल भी पड़ जाता है और अगणित लोग भूख से व्याकुल हो मृत्यु की बलि चढ़ जाते हैं । इसके अतिरिक्त पृथ्वी पर आँधियों, तूफानों, भूकम्पों तथा महामारियों से भी अनेक बार लाखों करोड़ों लोगों को असह्य पीड़ा भोगते और असमय काल का ग्रास बनते देखा जाता है । क्या इन सब अव्यवस्थाओं से यह स्पष्ट नहीं झलकता कि इस सृष्टि की रचना सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न तथा सर्वहितकारी परमेश्वर द्वारा कदापि नहीं की गई है, वरन यह (सृष्टि) अचेतन तथा प्रयोजनहीन परमाणुओं के आकस्मिक संयोग और वियोग का परिणाम मात्र है ।

(5) आलोचकों द्वारा उक्त उद्देश्यात्मक तर्क में एक दोष यह बताया गया है कि जिस प्रकार शिल्पी की कार्य-विधि पर शिल्प-वस्तु के गुणों से प्रतिबन्ध (restriction) लग जाता है, उसी प्रकार जगत् का केवल निमित्त कारण होने से जगत् के उपादान अर्थात् जड़-पदार्थ के द्वारा ईश्वर की कार्य-विधि पर भी प्रतिबन्ध लग जाता है । इस बात से ईश्वर की अप्रतिरुद्ध स्वतन्त्रता को हानि होती है, जिससे उसकी अपूर्णता सिद्ध होती है ।

हमारा विनम्र मत है कि प्रयोजनवादी तर्क के विरुद्ध जितनी भी आलोचनायें की गई हैं उन सबका निराकरण बड़ी सरलता से हो सकता है, यदि हम ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण न मान कर निमित्त और उपादान कारण दोनों मान लें और बाह्य प्रयोजनवाद को न मानकर आन्तरिक प्रयोजनवाद को स्वीकार कर लें । ईश्वर को निमित्तोपादान कारण मानने से ईश्वर के ससीमता सम्बन्धी सभी दोष सहज दूर हो जाते हैं और काण्ट की आलोचना संख्या (1) भी निराकृत हो

जाती है। इसके उपरान्त आन्तरिक प्रयोजनवाद स्वीकार कर लेने पर ऊपर जिस आलोचना में सृष्टि के असमायोजनों और अव्यवस्थाओं की चर्चा की गई है वह भी निर्मूल हो जाती है, क्योंकि असमायोजनों तथा अव्यवस्थाओं की पृष्ठभूमि में भी सृष्टि के निमित्तोपादान कारण ईश्वर के आन्तरिक प्रयोजन निहित रहते ही हैं।

4. नैतिक तर्क (Moral Argument)

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि हेतु यह तर्क काण्ट ने प्रस्तुत किया था। काण्ट का कथन है कि यद्यपि सर्वोच्च शुभ (Highest Good) सद्गुण (Virtue) है, तथापि पूर्ण शुभ (Complete Good) सद्गुण के साथ आनन्द (Happiness) का समन्वय होना है। हमारी नैतिक चेतना की यह एक आवश्यक माँग है कि सद्गुणी व्यक्ति सानन्द (सुखी) होना ही चाहिये। शुभ कर्म का फल सुख होना चाहिये और अशुभ कर्म का फल दुःख होना चाहिये। परन्तु, संसार में अधिकतर ऐसा नहीं देखा जाता। अनेक धर्मनिष्ठ लोग अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं; और उसके विपरीत अनेक पापी लोग अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए दिखाई देते हैं। प्रयत्न करके मनुष्य स्वयं को सद्गुणी तो बना सकता है, किन्तु सुखी नहीं बना सकता। कारण यह है कि सुख अनेक बाह्य परिस्थितियों पर आधारित रहता है जिन पर उस (**मनुष्य**) का कोई अधिकार नहीं होता। अतः, हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस जीवन से परे भी एक जीवन है, जिसमें मनुष्यों को अपने किए हुए कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होगा, पुण्य कर्मों के फलस्वरूप सुख प्राप्त होगा और पाप कर्मों के फलस्वरूप दुःख प्राप्त होगा। परन्तु, इस सब व्यवस्था के लिए किसी एक ईश्वर जैसी चैतन्य शक्ति की आवश्यकता है जो धर्मपरायण लोगों को सुख और पापात्मा लोगों को दुःख का समुचित विधान कर सके। अतः सिद्ध होता है कि ईश्वर का अस्तित्व है।

काण्ट के पश्चात् मार्टिन्यू ने भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए नैतिक तर्क प्रस्तुत किया। मार्टिन्यू का कथन है कि आत्मा की परिपूर्णता ही नैतिकता का आदर्श है। यदि यह आदर्श सत्य है तो नैतिकता भी अर्थयुक्त है और यदि यह आदर्श सत्य नहीं है तो नैतिकता भी अर्थविहीन है। इस आदर्श की सत्यता के लिए ईश्वर के अस्तित्व को मानना आवश्यक है, क्योंकि ईश्वर ही आत्मा की परिपूर्णता का प्रतीक है। प्रोफैसर सोर्ली (Prof. Sorely) तथा जेम्स सेठ ने भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के हेतु नैतिक प्रमाणों का ही आश्रय लिया है।

समालोचना

(1) ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि का नैतिक तर्क विश्व की नैतिक व्यवस्था के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सद्गुणी मनुष्य सुखी होना चाहिये और दुर्गुणी

(vicious) मनुष्य दुखी होना चाहिए। कुछ आलोचकों का कहना है कि विश्व की नैतिक व्यवस्था का सिद्धान्त भी तो कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है, अतः जब तक उसे सिद्ध न किया जाय तब तक नैतिक तर्क का कोई महत्व नहीं है।

(2) मार्टिन्यू के तर्क का निराकरण करते हुए आलोचक कहते हैं कि यह इस मान्यता पर आधारित है कि नैतिकता का आदर्श आत्मा की परिपूर्णता है। परन्तु, क्योंकि यह मान्यता अनेक विचारकों को अस्वीकार्य है, अतः उक्त आलोचक मार्टिन्यू के तर्क को कोई मूल्य नहीं देते।

5. व्यवहारवादी तर्क (Pragmatic Argument)

एमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'Varieties of Religious Experience' में व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से ईश्वर की सिद्धि की है। उनका कथन है कि 'ईश्वर-विश्वास' की धारणा हमारे व्यावहारिक जीवन में अत्यन्त उपयोगी है, अतः ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संसार के लोगों के जीवन का अध्ययन करने से विदित होता है कि जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं वे प्रायः अधिक सन्तोषी, सुखमय एवं शान्त जीवन व्यतीत करते हैं, और जो लोग ईश्वर-विश्वासी नहीं होते है वे बहुत चिन्ताग्रस्त, दुखी एवं अशान्त रहते हैं। लाखों करोड़ों दुखी, निर्धन तथा रोगी मनुष्यों के जीवन का एकमात्र सहारा ईश्वर ही होता है। पुनः, हम देखते हैं कि ईश्वर में आस्था रखने वाले व्यक्तियों का जीवन सहानुभूति, त्याग, समाज-सेवा, उदारता, परोपकार, विश्व-प्रेम आदि के उच्च गुणों से ओत-प्रोत होता है और वे दूसरों के हित के लिए महान् से महान् कष्ट भी हँसते हुए सहन कर लेते हैं। सन्तों के जीवन ऐसे आदर्शों के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जेम्स का कथन है कि ईश्वर-विश्वास की यह धारणा जो इतनी अधिक उपयोगी है वह असत्य कदापि नहीं हो सकती।

समालोचना

(1) इस व्यवहारवादी तर्क के विरुद्ध आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धान्त अयुक्त है कि जो वस्तु जीवन में उपयोगी है वह सत्य भी है। अस्तु, यदि यह मान भी लिया जाये कि ईश्वर-विश्वास की धारणा हमारे जीवन में बहुत उपयोगी है, तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर है।

(2) दूसरी आलोचना उक्त तर्क के विरुद्ध यह की गई है कि जहाँ एक ओर कुछ धार्मिक लोगों का जीवन त्याग, प्रेम, सहानुभूति एवं सेवा से अभिभूत (परिपूरित) होता है, वहाँ दूसरी ओर संसार के इतिहास में ऐसे भी उदाहरणों की कमी नहीं है जिनमें धर्म के नाम पर ऐसे अत्याचार किए गये हैं जिनकी स्मृति से ही हृदय काँप उठता है। यह तो बहुधा देखा जाता है कि एक धर्म के अनुयायी

दूसरे धर्म के अनुयायियों से बहुत अधिक द्वेष एवं घृणा रखते हैं; और ये द्वेष एवं घृणा ही कई बार साम्प्रदायिक दंगों और युद्धों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अस्तु, कुछ धार्मिक व्यक्तियों के उच्चचरित्रवान् होने से ईश्वर को सिद्ध करना कदापि समीचीन नहीं है।

हमारे विचार से ईश्वर-विश्वास विषयक यह आलोचना युक्तियुक्त नहीं है। जब यह कहा जाता है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों में परस्पर घृणा, द्वेष, वैमनस्य आदि होते हैं, जिनके फलस्वरूप बहुत से अत्याचारों तथा नृशंस व्यवहारों का जन्म होता है, तब वस्तुतः इस समस्या पर गहराई से विचार ही नहीं किया जाता। यदि समुचित ढंग से वस्तु-स्थिति का निरीक्षण किया जाये, तो हमें यह शीघ्र ही समझ में आ सकता है कि घृणा, द्वेष, वैमनस्य, अत्याचार, दुराचार आदि वहाँ उत्पन्न होते हैं जहाँ सच्ची आन्तरिक धार्मिक भावना अथवा ईश्वर-आस्था की कमी होती है। जो व्यक्ति सच्चे अर्थों में धार्मिक या ईश्वर-विश्वासी होते हैं उनके लिये तो केवल मनुष्य ही नहीं वरन् सम्पूर्ण चराचर विश्व ईश्वर का ही रूप होता है; तब भला वे किसी से भी कैसे द्वेष अथवा शत्रुता कर सकते हैं![1]

6. धार्मिक-अनुभूति विषयक तर्क
(Argument from Religious Experience)

धार्मिक लोगों का कथन है कि ईश्वर के अस्तित्व का सर्वोत्तम प्रमाण सन्तों, महात्माओं तथा ऋषियों की धार्मिक अनुभूतियाँ हैं। सन्त महात्माओं को ईश्वर का साक्षात्कार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार संसार की अन्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है।[2] इन आध्यात्मिक अनुभूतियों में सन्देह का कोई कारण है ही नहीं। प्रथम

---

1. "यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।" (ईशावास्योपनिषद्, 6.)।
और भी "सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।"
(तुलसी : रामचरित मानस)।
2. "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।"
(श्वेताश्वतरोपनिषद्, 3. 8.)।
[अर्थात् "अविद्यारूप अन्धकार से अतीत तथा सूर्य की भाँति स्वयं-प्रकाश स्वरूप इस महान् पुरुष (परमेश्वर) को मैं जानता हूं।"]।
आधुनिक काल में भी स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ परमहंस आदि अनेक महान् सन्तों ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया है कि उन्हें ईश्वर का प्रत्यक्ष साक्षात्कार (direct vision) हुआ है।

बात तो यह है कि ये सन्त तथा ऋषि इतने सच्चरित्र एवं पवित्रात्मा व्यक्ति थे कि उनके मिथ्या भाषण करने का कोई भी प्रयोजन दृष्ट नहीं होता। दूसरे, ये लोग (अर्थात् सन्त) ख्याति की अभिलाषा से बहुत ही अधिक दूर रहते थे। और तीसरे, यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि सभी देशों और सभी समयों में ऐसे सन्त हुए हैं जिन्होंने बड़े सुस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि उन्होंने ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन (Direct Vision) किया है।

समालोचना

(I) इस तर्क के विरुद्ध आलोचकों का कहना है कि यह तो माना जा सकता है कि सन्तों और महात्माओं को ईश्वर-विषयक अनुभूतियाँ हुई हैं और उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई असत्य भाषण नहीं किया है। परन्तु, इस बात का क्या प्रमाण है कि सन्तों की वे अनुभूतियाँ उनके भ्रम (illusions) या विभ्रम (hallucinations) मात्र नहीं हैं? जिस प्रकार अफीम, मदिरा तथा भांग के नशे में लोगों को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं, किन्तु वे सभी सत्य नहीं होते; उसी प्रकार कौन जानता है कि सन्त महात्माओं की अनुभूतियाँ भी सब प्रकार से आनन्द एवं शान्ति देने वाली होती हुयी भी असत्य ही हों, वे केवल उनके भ्रम अथवा विभ्रम मात्र हों? अस्तु, जब तक बुद्धि द्वारा उनकी सत्यता सिद्ध नहीं की जाती तब तक उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

हमारा विचार है कि ईश्वरास्तित्व के धार्मिक-अनुभूति विषयक तर्क की यह आलोचना युक्तिसंगत नहीं है। ऋषियों तथा सन्तों की धार्मिक अनुभूतियों को भ्रम या विभ्रम कदापि नहीं कहा जा सकता। प्रथम बात तो यह है कि भ्रम अथवा विभ्रम का कुछ काल के पश्चात् बाध (Concellation) हो जाता है, और हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उस समय (अर्थात भ्रम या विभ्रम की अवस्था में) हमारा ज्ञान मिथ्या था और अब हम सत्य ज्ञान की अवस्था में हैं। परन्तु, धार्मिक अनुभूतियों के विषय में ऐसा नहीं होता। इन अनुभूतियों में होने वाले ज्ञान का बाध कभी नहीं होता, और हम यह कभी अनुभव नहीं करते कि उस समय (अर्थात् धार्मिक अनुभूतियों की अवस्थाओं में) हमारा ज्ञान मिथ्या ज्ञान था और हमारा ज्ञान सत्य ज्ञान है। दूसरी बात यह है कि पूर्वानुभूत भ्रमों या विभ्रमों की अब आवृत्ति हमारे चाहने पर भी पुनः सम्भव नहीं है; परन्तु ऋषियों तथा सन्तों में अपनी पूर्वानुभूतियों को बार-बार आवृत्त करने की क्षमता होती है। इन आधारों पर यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि धार्मिक अनुभूतियों के विषय भ्रमों तथा विभ्रमों के विषयों के सदृश असत्य कदापि नहीं हैं।

बात तो यह है कि ये सन्त तथा ऋषि इतने सच्चरित्र एवं पवित्रात्मा व्यक्ति थे कि उनके मिथ्या भाषण करने का कोई भी प्रयोजन दृष्ट नहीं होता। दूसरे, ये लोग (अर्थात् सन्त) ख्याति की अभिलाषा से बहुत ही अधिक दूर रहते थे। और तीसरे, यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है कि सभी देशों और सभी समयों में ऐसे सन्त हुए हैं जिन्होंने बड़े सुस्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि उन्होंने ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन (Direct Vision) किया है।

समालोचना

(I) इस तर्क के विरुद्ध आलोचकों का कहना है कि यह तो माना जा सकता है कि सन्तों और महात्माओं को ईश्वर-विषयक अनुभूतियाँ हुई हैं और उन्होंने इस सम्बन्ध में कोई असत्य भाषण नहीं किया है। परन्तु, इस बात का क्या प्रमाण है कि सन्तों की वे अनुभूतियाँ उनके भ्रम (illusions) या विभ्रम (hallucinations) मात्र नहीं हैं ? जिस प्रकार अफीम, मदिरा तथा भांग के नशे में लोगों को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं, किन्तु वे सभी सत्य नहीं होते; उसी प्रकार कौन जानता है कि सन्त महात्माओं की अनुभूतियाँ भी सब प्रकार से आनन्द एवं शान्ति देने वाली होती हुयी भी असत्य ही हों, वे केवल उनके भ्रम अथवा विभ्रम मात्र हों ? अस्तु, जब तक बुद्धि द्वारा उनकी सत्यता सिद्ध नहीं की जाती तब तक उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

हमारा विचार है कि ईश्वरास्तित्व के धार्मिक-अनुभूति विषयक तर्क की यह आलोचना युक्तिसंगत नहीं है। ऋषियों तथा सन्तों की धार्मिक अनुभूतियों को भ्रम या विभ्रम कदापि नहीं कहा जा सकता। प्रथम बात तो यह है कि भ्रम अथवा विभ्रम का कुछ काल के पश्चात् बाध (Concellation) हो जाता है, और हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उस समय (अर्थात भ्रम या विभ्रम की अवस्था में) हमारा ज्ञान मिथ्या था और अब हम सत्य ज्ञान की अवस्था में हैं। परन्तु, धार्मिक अनुभूतियों के विषय में ऐसा नहीं होता। इन अनुभूतियों में होने वाले ज्ञान का बाध कभी नहीं होता, और हम यह कभी अनुभव नहीं करते कि उस समय (अर्थात् धार्मिक अनुभूतियों की अवस्थाओं में) हमारा ज्ञान मिथ्या ज्ञान था और हमारा ज्ञान सत्य ज्ञान है। दूसरी बात यह है कि पूर्वानुभूत भ्रमों या विभ्रमों की अब आवृत्ति हमारे चाहने पर भी पुनः सम्भव नहीं है; परन्तु ऋषियों तथा सन्तों में अपनी पूर्वानुभूतियों को बार-बार आवृत्त करने की क्षमता होती है। इन आधारों पर यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि धार्मिक अनुभूतियों के विषय भ्रमों तथा विभ्रमों के विषयों के सदृश असत्य कदापि नहीं हैं।

इस सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि जिन महामानवों को ये धार्मिक अनुभूतियाँ हुई हैं उन्होंने सदैव इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि ये अनुभूतियाँ बुद्धि की सीमाओं से परे होती हैं। उनका कथन है कि इन अनुभूतियों पर बौद्धिक नियम लागू नहीं होते ; अत: इनकी सत्यता के विषय में बुद्धि द्वारा तर्क वितर्क करना सर्वथा असंगत है। ये अनुभूतियाँ अतीन्द्रिय एवं अति-बौद्धिक अनुभूतियाँ (Supersensible and super-rational experiences) हैं जो अपेक्षित साधना से प्राप्त होती हैं।[1] जिस समय इनकी उपलब्धि हो जाती है उस समय इनकी सत्यता की सिद्धि हेतु किसी बौद्धिक तर्क की आवश्यकता ही नहीं रहती; और जब तक ऐसी उपलब्धि नहीं होती तब तक बौद्धिक युक्तियों द्वारा इनकी सत्यता प्रमाणित करना अर्थहीन है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि एक जन्मान्ध व्यक्ति को यदि किसी दैवी वरदान या शल्य-चिकित्सा के फलस्वरूप सहसा नेत्र प्राप्त हो जायें तो विभिन्न पदार्थों के रंगों का ज्ञान उसे तत्क्षण ही अनायास हो जायेगा, और तब उन (पदार्थों के रंगों) की सत्यता को सिद्ध करने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। परन्तु, जब तक उसे (जन्मान्ध व्यक्ति को) नेत्रों की उपलब्धि नहीं होती, तब तक उसके सम्मुख रंग की यथार्थता को बुद्धि द्वारा प्रमाणित करने की हठ सर्वथा अवैज्ञानिक एवं अदार्शनिक ही होगी। इस प्रसंग में प्रो० ओटो (Prof. Otto) ने अपनी सुविख्यात पुस्तक 'आइडिया ऑफ दी होली' ('Idea of the Holy') में एक बड़ी मार्मिक बात कही है। उनका कथन है कि धार्मिक अनुभूतियों में एक विशेष गुण होता है जिसे 'स्वत:-प्रामाण्य का गुण' (Noetic quality')कहते हैं। इस गुण की यह विशेषता है कि इसके कारण धार्मिक अनुभूतियाँ स्वयं अपनी सत्यता प्रमाणित कर देती हैं, उन्हें किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है। जब ये अनुभूतियाँ होती हैं तब साथ साथ ही इनकी सत्यता भी स्वयमेव स्वीकार कर ली जाती है।

आलोचकों द्वारा इस स्थान पर एक बात यह कही जा सकती है कि यह ठीक है कि सन्तों तथा महात्माओं को उक्त धार्मिक अनुभूतियाँ हुई हैं और वे अनुभूतियाँ अपने में सत्य भी हैं; परन्तु जब तक अन्य लोगों को उस प्रकार की अनुभूतियाँ नहीं होतीं, तब तक वे लोग इन (अनुभूतियों) को प्रमाण क्यों मानें ? हमारा मत है कि जब तक स्वयं हमें धार्मिक अनुभव प्राप्त नहीं हो जाते तब तक भविष्य में सिद्धि हेतु सामयिक रूप से वर्तमान में उन्हें सत्य मान लेना वैज्ञानिक विधि के प्रतिकूल कदापि नहीं है। विज्ञान के क्षेत्र में भी सर्वदा ऐसा ही होता है। वैज्ञानिकों के निष्कर्ष

1. 'अतीन्द्रिय एवं अतिबौद्धिक अनुभूतियों की तथ्यात्मकता (factuality) योगसिद्धियों की उपलब्धियों द्वारा असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हैं। (देखिये 'योग दर्शन' का तृतीय पाद)।

प्रारम्भ में सर्वमान्य होते हैं; फिर कालान्तर में निरीक्षण (Observation) तथा प्रयोग (experiment) द्वारा उनकी सत्यता प्रमाणित कर ली जाती है। यही बात धार्मिक क्षेत्र में भी हो सकती है और होनी चाहिये। विज्ञान के विषयों के सदृश धार्मिक अनुभव भी निरीक्षण तथा प्रयोग के विषय हैं।[1] अन्तर केवल इतना है कि धार्मिक प्रयोगों की शर्तें वैज्ञानिक प्रयोगों की शर्तों की अपेक्षा बहुत कठिन हैं। वैज्ञानिक प्रयोग प्रयोगशालाओं में भौतिक पदार्थों पर किये जाते हैं, किन्तु धार्मिक प्रयोग मनुष्य अपनी इन्द्रियों, मन, बुद्धि और आत्मा पर करता है। वैज्ञानिक प्रयोग की आवश्यकता के अनुसार भौतिक पदार्थों में परिवर्तन सरलता से किये जा सकते हैं। परन्तु, इन्द्रियों एवं मन का संयम और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकारों का त्याग धार्मिक प्रयोग की ऐसी शर्तें हैं जिन्हें पूरा करना अत्यन्त दुष्कर (कठिन) कार्य है। अस्तु, जब तक हम धार्मिक प्रयोगों की शर्तों को पूरा करने का साहस नहीं रखते और स्वयं धार्मिक अनुभवों को प्राप्त नहीं कर लेते तब तक हमें सन्तों एवं ऋषियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों के विषयों की सत्यता स्वीकार कर लेने में आपत्ति ही क्यों होनी चाहिये ?

(2) दूसरा आक्षेप धार्मिक-अनुभूति के तर्क के विरुद्ध यह किया गया है कि सभी सन्तों की अनुभूतियाँ एक सी नहीं होतीं; उनमें बड़ी विभिन्नता पायी जाती है। धार्मिक अनुभूतियों की यह विभिन्नता इस बात को प्रकट करती है कि ये अनुभूतियाँ सन्तों की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ थीं और इनके आधार पर एक सर्वमान्य सत्य को निर्धारित नहीं किया जा सकता। यदि ये अनुभूतियाँ एक सी होतीं, तब धर्म का सर्वत्र एक ही रूप होता और उसमें वस्तुगत सत्यता (objective reality) होती। परन्तु, इसके विपरीत हम देखते हैं कि संसार में अनेक प्रकार के धर्म हैं और उन धर्मों में ईश्वर की अनेक रूपों में उपासना की जाती है। अतः, आलोचकों का कहना है कि इस धार्मिक अनुभूति विषयक तर्क को ईश्वरास्तित्व का समुचित प्रमाण नहीं माना जा सकता।

धार्मिक विचारकों का मत है कि यह आक्षेप निर्मूल है। सन्तों की आध्यात्मिक अनुभूतियों की भिन्नता इस बात को सिद्ध नहीं करती कि वे (अनुभूतियाँ) असत्य थीं। इससे वस्तुतः यह सिद्ध होता है कि परम सत्ता या ईश्वर के अनन्त

1. "Religion is not a mere theory but something to be experimented in the laboratory of 'sadhana." अर्थात्, 'धर्म एक सिद्धान्त मात्र नहीं है, वरन् साधना की प्रयोगशाला में प्रयोग की जाने की वस्तु है।" (श्री स्वामी रामतीर्थ)।

रूप हैं। सन्तों की दृष्टि तथा भावना के अनुरूप वह परम सत्ता उन्हें भिन्न भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होती है। इसी तथ्य का उद्घाटन करते हुए विख्यात दार्शनिक कवि तुलसीदास कहते हैं :

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसीं।"

ऋग् वेद के निम्नलिखित शब्द भी इसी प्रसंग में बड़े मार्मिक हैं :

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" (ऋग् वेद,१.१६.४४)। (अर्थात् "सत्य एक है, मनीषियों ने इसे अनेक प्रकार से वर्णित किया है।") परम सत्ता का विविध रूपों में दृष्ट होना कोई असंगत बात भी नहीं है। वस्तुत: क्योंकि परम सत्ता या ईश्वर पूर्ण सत्ता है, अत: उसमें ऊपर से विरोधी प्रतीत होने वाले सभी रूपों को समन्वित कर उन्हें अपने अनन्त रूप में समा लेने की अद्भुत क्षमता है। इस सत्ता को ऐसा होना ही चाहिये।

7. मूल्य विषयक तर्क (Axiological Argument)

यह तर्क लेखक के अपने विनम्र विचार का फल है। ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष और विपक्ष के परस्पर विरोधी तर्कों पर जब हम निष्पक्षता पूर्वक गहराई से चिन्तन करते हैं तो कई बार बड़े असमञ्जस में पड़ जाते हैं और सोचने लगते हैं कि कौन पक्ष स्वीकार्य है और कौन पक्ष अस्वीकार्य है। मनीषियों ने ईश्वर के पक्ष में भी बड़ी प्रबल युक्तियाँ दी हैं और ईश्वर के विपक्ष में भी। मान लीजिये : युक्तियों की प्रबलता दोनों ओर समान है, और ईश्वरवादियों तथा अनीश्वरवादियों की संख्या का अनुपात भी 50, 50 प्रतिशत है।[1] एक ओर अनीश्वरवादी दार्शनिकों की घोषणा है कि ईश्वर या ईश्वर जैसी कोई जगन्नियन्त्री चेतन शक्ति नहीं है। अस्तु ईश्वर की प्राप्ति का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, और न ही प्रश्न उपस्थित होता है ईश्वर-प्राप्ति पर शाश्वत सुख की प्राप्ति का। दूसरी ओर ईश्वरवादी दार्शनिक तथा सन्त महात्मा ईश्वर के अस्तित्वमान होने का दावा करते हैं। यही नहीं, वे (सन्त महात्मा) बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि उन्होंने ईश्वर का साक्षात् दर्शन किया है; और ईश्वर का दर्शन कर उन्होंने उस पद की प्राप्ति की है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य संसार के सारे दुखों से सदा के लिए छूट जाता है और इस प्रकार वह जीवन की सर्वप्रमुख समस्या 'आत्यन्तिक दुखनिवृत्ति:' (Complete eradication of pain) का समाधान पा लेता है। ये सन्त लोग इससे भी आगे जाते हैं और हमें आश्वासन देते हैं कि वे हम सभी को ईश्वर का साक्षात्कार करा सकते हैं और सभी को शाश्वत सुख की पदस्थली तक ले जा सकते हैं।[2] प्रश्न उपस्थित

1. यद्यपि वास्तविकता यह है कि दर्शन के इतिहास में ईश्वरवादी दार्शनिक अनीश्वरवादी दार्शनिकों से संख्या में बहुत अधिक हैं।
2. पढ़िये: श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की प्रारम्भिक भेंट का विवरण। ('स्वामी विवेकानन्द चरित'–लेखक : श्री सत्येन्द्र नाथ मजूमदार)।

होता है कि हम सामान्य लोग क्या करें ? क्या हम नास्तिक दार्शनिकों की ओर जायें जिन्होंने ईश्वर एवं शाश्वत सुख की प्राप्ति की बात ही अपने दर्शन से हटा दी है, और इस प्रकार हमारी जीवन-समस्या समाधान करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया है ? क्या हम सदा सदा के लिए जीवन में निराश हो जायें और यह मान लें कि हमारे दुखों के अन्त होने का कदापि कोई मार्ग नहीं है ? अथवा, क्या हम दूसरी ओर सन्तों एवं ऋषियों का अनुसरण करें जो एकदम असन्दिग्ध शब्दों में हमें ईश्वर-साक्षात् कराने की आशा प्रदान करते हैं, और हमें इस बात का वचन देते हैं कि हमारे दुखों का शाश्वत काल के लिये अन्त हो सकता है ? निश्चित रूप से बुद्धि यही कहेगी कि हमें उसी ओर जाना चाहिये जिस ओर हमारी सर्वप्रमुख समस्या का समाधान हमें प्राप्त हो। अर्थात्, सन्त महात्माओं का ही अनुकरण हमें करना चाहिए। किन्तु, इस स्थान पर एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है : वह यह कि हम कैसे विश्वास करें कि सन्त महात्माओं ने अपनी अनुभूतियाँ सत्य ही वर्णित की हैं ? यद्यपि, जैसा कि हमने 'धार्मिक अनुभूति के तर्क' में निर्दिष्ट किया है, सन्तों के महान् पवित्र चरित्र से मिथ्या भाषण की अपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती; तथापि संशयवाद का विस्तार अवश्य उक्त सीमा तक हो सकता है। हमारे सम्मुख यह परिस्थिति उत्पन्न होती है कि एक ओर नास्तिक दार्शनिकों का पूर्ण निराशायुक्त स्पष्ट उत्तर, और दूसरी ओर ऋषियों एवं सन्तों के परम आशायुक्त शब्द, किन्तु जिनकी सत्यता के विषय में सन्देह किया जा सकता है – इन दोनों विकल्पों में हम कौन सा विकल्प चयन करें ? स्पष्ट ही है कि : अनीश्वरवाद की ओर जाकर शाश्वत काल के लिए निराशा एवं दुःख के गर्त में गिरने से क्या लाभ ? सन्तों का मत ही ग्राह्य एवं अनुकरणीय है। इस मार्ग में हमें कम से कम कुछ ऐसी आशा-रश्मियाँ (rays of hope) तो दृष्ट होती हैं जो यह आश्वासन देती हैं कि अवश्य ही एक दिन ऐसा आयेगा जब हमें उस परतत्व का साक्षात् दर्शन होगा और हम सर्वदा के लिए संसार के अगणित दुखों से छूट कर शाश्वत आनन्द की पदस्थली पर प्रतिष्ठित हो जायेंगे।

ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध

(Relation between God and the World)

ईश्वर का जगत् से क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न प्रकार से दिया है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण (Efficient cause) है; जैसे कि एक कुम्हार

घड़े का निमित्त कारण है अथवा स्वर्णकार स्वर्ण-आंभूषण का। उनके अनुसार ईश्वर और जगत् में केवल बाह्य सम्बन्ध है। इस मत को केवल-निमित्तेश्वरवाद या तटस्थ-ईश्वरवाद (Deism) की संज्ञा दी गई है। कुछ अन्य दार्शनिकों का कथन है कि ईश्वर जगत् का केवल उपादान कारण (Material cause) है; जैसे कि दूध दही का उपादान कारण है अथवा पानी बर्फ का। उनके मतानुसार ईश्वर और जगत् में परस्पर आन्तरिक सम्बन्ध है। दार्शनिकों का यह मत केवलोपादानेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के नाम से अंकित हुआ है। एक अन्य श्रेणी के दार्शनिक भी हैं जो यह प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर इस संसार का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी; जैसे कि एक मकड़ी जब अपना जाला बनाती है तो वह उस जाले का स्वयं ही निमित्त कारण भी होती है और उपादान कारण भी। इन दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर और संसार में बाह्य सम्बन्ध भी है और आन्तरिक सम्बन्ध भो। इस श्रेणी के दार्शनिकों में दो वर्ग हैं: एक वर्ग यह कहता है कि ईश्वर व्यक्तित्व-सम्पन्न है और दूसरे वर्ग की यह मान्यता है कि ईश्वर व्यक्तित्व-रहित है। प्रथम वर्ग का नाम ईश्वरवाद (Theism) दिया गया है, और 'दूसरे वर्ग को आन्तरातीत ईश्वरवाद अथवा निमित्तोपादनेश्वरवाद (Panentheism) के नाम से पुकारा गया है।

अब हम 'ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध' विषयक उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों की क्रमेण विवेचना करेंगे।

केवल - निमित्तेश्वरवाद या तटस्थ - ईश्वरवाद (Deism)

केवल - निमित्तेश्वरवाद की मान्यता है कि ईश्वर इस संसार का केवल निमित्त कारण है। संसार को उत्पन्न करने से पूर्व वह अनादि काल से अकेला था। एक निश्चित समय पर उसने शून्य से सृष्टि की रचना की। तब उसने आवश्यक शक्तियों (Necessary Forces) से संसार को भर दिया और साथ ही संसार के यथोचित संचालन हेतु आवश्यक नियमों का निर्माण भी किया। इन शक्तियों और नियमों के द्वारा संसार, बिना ईश्वर की आवश्यकता के, स्वयं ही चलता रहता है। ये संसार के द्वितीय कारण अथवा गौण कारण (Second causes) हैं, जबकि ईश्वर उसका प्रथम कारण अथवा आदि कारण (First cause) है।

इस सिद्धांत (केवल - निमित्तेश्वरवाद) की **निम्न चार प्रमुख विशेषतायें** हैं:

1. **एक निश्चित समय पर सृष्टि** : मार्टिन्यु (Martineau) अपने ग्रन्थ 'The study of Religion' में केवलनिमित्तेश्वरवाद की एक विशेषता को इंगित करते हुए कहते हैं कि इसके अनुसार "The world was created in time; prior to which its Divine Cause existed from eternity without it. In course of time it will perish like everything which has a beginning; after which its Divine Cause will exist to eternity without it." (अर्थात् "संसार की सृष्टि समय में की गई; इससे पूर्व इसका दैवी कारण अनादि काल से इसके बिना भी विद्यमान था । काल-क्रम में, प्रत्येक सादि वस्तु के सदृश, इसका भी अन्त होगा; और इसके पश्चात् इसका दैवी कारण, इसके बिना भी, शाश्वत काल के लिये विद्यमान रहेगा" ।) । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि केवलनिमित्तेश्ववाद की दृष्टि से ईश्वर ने इस विश्व का सृजन एक विशिष्ट समय पर किया; परन्तु, विश्व को उत्पन्न करने से पूर्व ईश्वर अनादि काल से विद्यमान था और विश्व का संहार करने के पश्चात् भी वह अनन्त काल तक विद्यमान रहेगा ।

2. **प्रथम कारण तथा द्वितीय कारण में भेद** : ईश्वर ने सृष्टि की रचना की, अस्तु वह सृष्टि का प्रथम अथवा आदि कारण है। रचना करने के पश्चात् उसने इसे आवश्यक शक्तियों तथा नियमों से पूरित कर दिया, जो बिना ईश्वर की सहायता के सामान्य स्थिति में इसका परिचालन करते रहते हैं; अत: ये शक्तियाँ और नियम सृष्टि के द्वितीय अथवा गौण कारण हैं ।

3. **यदा कदा ईश्वरीय हस्तक्षेप** : संसार का सृजन करने के पश्चात् ईश्वर संसार से पृथक हो जाता है और उसे अपने ऊपर छोड़ देता है । परन्तु, कालान्तर में जब कभी संसार में बुराइयों का बाहुल्य हो जाता है और संसार पतन की ओर अग्रसर होने लगता है, तब बीच में ही वह (ईश्वर) हस्तक्षेप करता है। वह अपनी दिव्य[1] शक्ति से प्राकृतिक शक्तियों और नियमों के कार्य को कुछ काल के लिए स्थगित कर देता है; और संसार में उत्पन्न हुई कमियों को दूर कर उसे सुधार देता है । ईश्वर के हस्तक्षेप की सुधार-सम्बन्धी अलौकि घटनायें जन साधारण में चमत्कारों (miracles) के नाम से प्रख्यात हो जाती हैं ।

4. **ईश्वर जगत् से पूर्ण रूपेण परे है** : जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, ईश्वर जगत् की रचना करने के अनन्तर स्वयं को उससे पृथक् कर लेता है, और केवल आवश्यकता होने पर ही यथा कदा उसके कार्यों में हस्तक्षेप करता है। अस्तु, स्पष्ट है कि ईश्वर जगत् में व्याप्त नहीं है, वरन् उससे सर्वथा अतीत (अर्थात् परे) है ।

1. Divine

केवलनिमित्तेश्वरवाद के सिद्धान्त को घड़ीसाज एवं घड़ी के दृष्टान्त (Analogy) ये अच्छी प्रकार समझा जा सकता है। एक घड़ीसाज घड़ी बनाने के उपरान्त उसमें चाबी देकर उससे पृथक् हो जाता है। तब घड़ी स्वयं चलती रहती है; और फिर चाबी समाप्त होने तक अथवा घड़ी चलने में गड़बड़ी आने तक घड़ीसाज का घड़ी से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसी प्रकार ईश्वर संसार रूपी घड़ी का निर्माण कर तथा उसमें आवश्यक शक्तियों एवं नियमों को भर उसे अपने ऊपर छोड़ देता है; और संसार में गड़बड़ी आने तक उसका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अन्तर केवल इतना है कि, प्रथम घड़ी-साज को घड़ी के निर्माण में लोहा, पीतल, आदि कुछ बाह्य उपकरणों पर आधारित रहना पड़ता है, परन्तु ईश्वर विश्व का निर्माण केवल शून्य से कर देता है; और, दूसरे, घड़ीसाज को प्रतिदिन या प्रतिसप्ताह या प्रतिमास घड़ी में चाबी देनी पड़ती है, परन्तु ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में ही आवश्यकतानुरूप उसे शक्तियों से भर देता है और उसको बार बार संसार रूपी खड़ी में चाबी नहीं भरनी पड़ती। तत्पश्चात् केवल गड़बड़ी आने पर जैसे घड़ीसाज को घड़ी की मरम्मत करनी पड़ती है उसी प्रकार संसार में बुराइयों का आधिक्य होने पर ईश्वर को भी हस्तक्षेप कर संसार को सुधारना पड़ता है।

धार्मिक जगत् के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि केवल-निमित्तेश्वरवाद के समर्थकों की संख्या बहुत ही न्यून है। भारतीय दर्शन में तो इस सिद्धान्त का प्रतिपादक कोई दीखता ही नहीं। पश्चिमी दर्शन में सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में केवल जॉन टोलैण्ड (John Toland), मैथ्यु टिण्डल (Methew Tindal) तथा टॉमस छब्ब (Thomas Chubb) के नाम केवल-निमित्तेश्वरवाद के समर्थकों में देखने में आते हैं।

आलोचना

(1) केवलनिमित्तेश्वरवाद का सिद्धान्त सामान्य अनुभव का सिद्धान्त है, जिसमें दार्शनिक प्रौढ़ता का अभाव प्रतीत होता है। जिस प्रकार संसार में यह देखा जाता है कि वस्तुओं के निर्माता वस्तुओं से पृथक् होते हैं, और केवल वस्तुओं में खराबी आने पर ही उनमें हस्तक्षेप करते तथा सुधारते हैं; उसी प्रकार इस सिद्धान्त में भी ईश्वर द्वारा जगत् के बाहर रहकर जगत् की रचना करने की कल्पना की गई है, और यह माना गया है कि केवल संसार में खराबियाँ उत्पन्न होने पर ही ईश्वर हस्तक्षेप करता है और उसे सुधारता है। परन्तु, वस्तुओं के निर्माताओं

की उपमा के आधार पर विश्व के निर्माता की कल्पना करना कदापि तर्क-संगत नहीं कहला सकता, क्योंकि सामान्य मनुष्यों और ईश्वर में आकाश और पाताल का अन्तर है।

(2) इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि एक निश्चित समय पर ईश्वर ने संसार का सृजन किया। प्रश्न उपस्थित होता है कि उससे पूर्व ईश्वर ने संसार का सृजन क्यों नहीं किया? क्या उसे अब कोई नयी आवश्यकता आ पड़ी थी? यदि कहा जाय: हाँ, तब यह मानना होगा कि केवलनिमित्तेश्वरवाद का ईश्वर आवश्यकताओं से रहित नहीं है, अर्थात् वह अपूर्ण है और उसे जगत् के साधारण प्राणियों के सदृश आवश्यकताओं की अनुभूति होती है। दूसरा प्रश्न इस सन्दर्भ में यह भी उत्पन्न होता है कि ईश्वर को अपनी अपूर्णता का अनुभव इससे पहिले क्यों नहीं हुआ, और उस अपूर्ण स्थिति में ही उसने सृष्टि के बिना अनादि काल से समय क्यों और कैसे बिता दिया? केवलनिमित्तेश्वरवाद के समर्थकों के पास इन प्रश्नों के कोई उत्तर नहीं हैं। अत:, हमें सतत सृष्टि के सिद्धान्त की ओर उन्मुख होना पड़ता है, और यह मानना पड़ता है कि ईश्वर और सृष्टि में एक अनिवार्य सम्बन्ध है।

(3) केवलनिमित्तेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर सृष्टि के परिचालन हेतु उसमें अपनी शक्तियों को भर कर उससे स्वयं को पृथक् कर लेता है, और तब जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। परन्तु, यह युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् को पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि ईश्वर की शक्तियाँ जगत् में वर्तमान रहती हैं तो हमें ईश्वर को भी जगत् में विद्यमान मानना पड़ेगा।

(4) ईश्वर को जगत् से पूर्ण रूपेण अतीत मानने की एक दूसरी बड़ी त्रुटि यह है कि ऐसा मानने से वह ससीम हो जाता है, क्योंकि वह जगत् की सीमा से केवल बाहर है, उसके अन्दर नहीं है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा स्वीकार की हुई ईश्वर की असीमता ही नष्ट हो जाती है।

(5) केवलनिमित्तेश्वरवादी कहते हैं कि संसार में बुराइयाँ उत्पन्न होने पर ईश्वर को उसमें हस्तक्षेप करना पड़ता है। यह समझ में नहीं आता कि सर्वशक्ति-सम्पन्न ईश्वर के बनाये हुए संसार में बुराइयाँ आ ही कैसे जाती हैं; विशेष रूप से उस स्थिति में जब कि ईश्वर ने संसार को आवश्यक शक्तियों से परिपूर्ण कर दिया हो।

(6) इस मत के अनुसार सृष्टि से पूर्व स्वचेतन ईश्वर (Self-conscious God) की सत्ता को माना गया है। इसका विरोध करते हुए हीगेल कहते हैं कि

केवलनिमित्तेश्वरवाद के सिद्धान्त में ईश्वर को सृष्टि से पूर्व स्वचेतन माना ही नहीं जा सकता । स्वचेतना के लिए विषयी (ज्ञाता) और विषय (ज्ञेय) का द्वैत अत्यन्त आवश्यक है । सृष्टि के पूर्व क्योंकि ईश्वर अकेला था, अतः उसमें स्वचेतना का होना सम्भव ही नहीं है ।

(7) केवलनिमित्तेश्वरवाद का ईश्वर हमारी धार्मिक भावनाओं को परितुष्ट करने में भी असमर्थ रहता है । जो ईश्वर संसार से परे है, तटस्थ एवं उदासीन है, उसके प्रति धार्मिक लोगों की श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम जागृत ही कैसे हो सकेंगे ? जो एक बार जगत् की रचना करने के पश्चात् जगत् से अपना सम्बन्ध ही नहीं रखता, वह भक्त को कैसे प्रेरणा प्रदान करेगा ? और भक्त उस से अपना प्रेम-सम्बन्ध तथा ऐक्य (Unity) कैसे स्थापित करेगा ?

केवलोपादानेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद (Pantheism)

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से केवलोपादानेश्वरवाद या सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त बहुतत्ववाद और केवलनिमित्तेश्वरवाद की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है । बहुतत्ववाद के विरुद्ध केवलोपादनेश्वरवाद एक-मात्र ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करता है और यह कहता है कि ईश्वर एक है, अनन्त है । और, केवलनिमित्तेश्वरवाद के विरुद्ध वह ईश्वर को जगत् से पृथक् न मानकर जगत् में व्याप्त मानता है । वह ईश्वर और जगत् के तादात्म्य की घोषणा करता है और कहता है कि ईश्वर ही जगत् है और जगत् ही ईश्वर है । उसके अनुसार, ईश्वर और विश्व एक दूसरे से अभिन्न एवं अविभाज्य हैं । जहाँ केवलनिमित्तेश्वरवाद ईश्वर के विश्व से पूर्णतया अतीत होने का प्रतिपादन करता है, वहाँ केवलोपादानेश्वरवाद ईश्वर के विश्व में पूर्णतया व्याप्त होने का समर्थन करता है । इन दोनों वादों की विपरीतता को व्यक्त करते हुए कनिंघम महोदय कहते हैं, "Pantheism is diametrically opposed to Deism. So far from separating God from the world as the Deist does, the Pantheist identifies God with the world-process." (अर्थात् "केवलोपादानेश्वरवाद केवलनिमित्तेश्वरवाद के पूर्णतया विपरीत सिद्धान्त है । ईश्वर को संसार से पृथक् करने के स्थान पर, जैसे कि केवलनिमित्तेश्वरवादी करता है, केवलोपादानेश्वरवादी ईश्वर की संसार-प्रक्रिया के साथ तदात्मता का प्रतिपादन करता है ।") ।

1. **ईश्वर और जगत् का तादात्म्य** — केवलोपादानेश्वरवाद जैसा, कि ऊपर संकेत किया गया है, ईश्वर और जगत् में तादात्म्य का सम्बन्ध स्थापित करता है । परन्तु, यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि ईश्वर और जगत् की एकता को मानते हुए भी वह 'ईश्वर' के प्रत्यय पर अधिक बल देता है और 'जगत्' या 'प्रकृति'[1] के

---

1. Nature

प्रत्यय पर कम। वह ईश्वर को प्रधान मानता है और प्रकृति को गौण। प्रकृति ईश्वर पर निर्भर करती है, ईश्वर प्रकृति पर नहीं। उसके अनुसार प्रकृति या विश्व ईश्वर की अभिव्यक्ति है, ईश्वर प्रकृति या विश्व की नहीं। इस प्रकार इस सिद्धान्त का मूल सृष्टि की पुष्टि नहीं वरन् एक तत्व ईश्वर की पुष्टि है। अतः जब कुछ लोगों ने इसे निरीश्वरवाद की संज्ञा दी है उनकी आलोचना सर्वथा निराधार ही प्रतीत होती है।

2 **जगत् ईश्वर की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है** — इस सिद्धान्त की मान्यता है कि ईश्वर अपनी इच्छा से संसार का सृजन नहीं करता, वरन् संसार का सृजन करना उसका स्वाभाविक धर्म है। जगत् उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यह कोई कालिक (temporal) घटना नहीं, अर्थात् ईश्वर ने एक विशिष्ट समय पर जगत् का निर्माण नहीं किया; वरन् ईश्वर के सदृश यह भी अनादि एवं काल-निरपेक्ष है।

3. **ईश्वर व्यक्तित्व-सम्पन्न नहीं** — केवलोपादनेश्वरवाद का ईश्वर व्यक्तित्व रहित है। उसमें किसी भी प्रकार की इच्छायें अथवा संकल्प विकल्प आदि नहीं हैं। उसकी जितनी भी क्रियायें हैं (जिसमें सृष्टि-रचना भी अर्न्तनिहित है) वे सभी उसके मूल स्वभाव का निश्चित एवं आवश्यक परिणाम (necessarry consequence) हैं।

4. **नियतत्त्ववाद[1] में आस्था** — केवलोपादानेश्वरवाद के प्रतिपादक विश्व की नियतत्ववादी व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार विश्व में कुछ भी आकस्मिक रूप से घटित नहीं हो रहा है और न ही किसी घटना का कोई दूरवर्ती या निकटवर्ती प्रयोजन है। विश्व के सभी पदार्थ और क्रियायें नियंत्रितता के लोह-पाश में आबद्ध हैं। यहाँ जो अब है अथवा आगे होगा वह सब पहिले ही से नियत (detemined) है।

5. **केवलोपादानेश्वरवाद का सर्वोत्तम उदाहरण** — इस सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें हॉलैण्ड के महान् दार्शनिक स्पिनोजा के दर्शन में उपलब्ध होता है। स्पिनोजा का कथन है कि विश्व की आधारभूत सत्ता एक है। इस सत्ता को वह 'द्रव्य' और 'ईश्वर' दोनों नामों से पुकारते हैं। द्रव्य या ईश्वर अनन्त, नित्य, स्वयंभू, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक तथा व्यक्तित्व-रहित है। उसके अनन्त गुण[2] हैं; परन्तु मानव बुद्धि को उनमें से केवल दो का ही ज्ञान होता है। ये दो गुण हैं—

---

1. Determinism.
2. Attributes.

(1) विचार (Thought) तथा (2) विस्तार (Extension)। विचार और विस्तार दोनों गुण स्वयं में भी अनन्त हैं। ये दोनों एक दूसरे के समानान्तर हैं। संसार में जो कुछ भी है यह सब विचार तथा विस्तार का ही विकार है। जीवात्मायें (Souls) विचार के प्रकार (Modes) हैं और संसार की जड़ वस्तुएँ (जिनमें प्राणियों के शरीर भी सम्मिलित हैं) विस्तार के प्रकार (Modes) हैं। स्पिनोजा के मतानुसार सृष्टि की रचना किसी एक निश्चित समय पर नहीं हुई, वरन् यह ईश्वर की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।[1] ईश्वर व्यक्तित्व–रहित होने के कारण उसमें इच्छा अथवा संकल्प होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वर ने संसार का सृजन अपनी इच्छा या किसी उद्देश्य से किया था। वास्तविकता यह है कि संसार ईश्वर का अनिवार्य परिणाम है।

आलोचना

(1) केवलोपादानेश्वरवाद कहता है कि जगत् ईश्वर की अभिव्यक्ति है। ऐसा मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ईश्वर और जगत् के लक्षणों में परस्पर विरोध है। जैसे कि ईश्वर असीम है जगत् ससीम; ईश्वर नित्य है जगत् अनित्य; ईश्वर एक है और जगत् में अनेकता का साम्राज्य छाया हुआ है। इन विरोधी लक्षणों के होते हुए ईश्वर और जगत् का तादात्म्य स्थापित करना सम्भव ही नहीं है।

(2) ईश्वर और जगत् में ऐक्य होने की एक कड़ी कठिनाई यह है कि जगत् के विविध प्रकार के दोष जैसे कि पुण्य-पाप, सुख-दुख आदि ईश्वर पर भी आरोपित हो जाते हैं; जिससे ईश्वर के ईश्वरत्व की ही परिसमाप्ति हो जाती है।

(3) केवलोपादानेश्वरवाद के ईश्वर को केवल विश्वव्यापक मानने और विश्वातीत न मानने के कारण इस सिद्धान्त में अनेक प्रकार की और त्रुटियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। संसार में प्रतिक्षण होने वाले अगणित परिवर्तनों की व्याख्या केवलोपादानेश्वरवाद के दृष्टिकोण से हो ही नहीं सकती; क्योंकि ईश्वर और जगत् में भेद न होने के कारण जगत् के परिवर्तन ईश्वर को भी परिवर्तनशील बना देते हैं और इस प्रकार ईश्वर की ईश्वरता को ही नष्ट कर देते हैं।

---

1. Everything follows by inevitable necessity from the divine nature of God." (अर्थात् 'प्रत्येक वस्तु अनिवार्य रूप से ईश्वर के स्वभाव से ही उद्भूत होता है'।)।

(4) इस सिद्धान्त में धार्मिक दृष्टि से भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। ईश्वर से जगत् की एकता होने से उपासक और उपास्य का भेद नष्ट हो जाता है, जिससे उपासना असम्भव हो जाती है। कारण यह है कि उपासना के लिए द्वैत होने की नितान्त आवश्यकता है। इस तथ्य का समर्थन पाश्चात्य विचारक श्री प्रिंगिल पैटिसन ने भी किया है, "It requires two to love and to be loved, to worship and to be worshipped." पुनः इस सिद्धान्त में ईश्वर को व्यक्तित्वरहित माना गया है, जिससे धार्मिक लोगों की भावनाओं की परितुष्टि करने में वह (ईश्वर) असमर्थ रहता है।

(5) नैतिकता का भी इस सिद्धान्त में निर्मूलन (rooting out) हो जाता है। नैतिक जीवन के लिए संकल्प-स्वातंत्र्य की अत्यन्त आवश्यकता है; उसके अभाव में शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप तथा नैतिक उत्तरदायित्व (moral responsibility) का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। स्पष्ट ही है कि यदि हम कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हैं तो हमें उनके लिए उत्तरदायी कैसे ठहराया जा सकता है। केवलोपादानेश्वरवाद का नियतत्ववाद में विश्वास होने के कारण यहाँ मनुष्य के संकल्प-स्वातन्त्रय को कोई स्थान नहीं है, और उसके परिणामस्वरूप नैतिकता को भी कोई स्थान नहीं हो सकता।

(6) केवलोपादानेश्वरवाद के नियतत्ववादी दृष्टिकोण के कारण एक और कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि जगत् में जो बुराइयाँ (evils) विद्यमान हैं उनसे छुटकारा होना कभी भी सम्भव नहीं है। अतः मनुष्य सदा के लिए निराशावाद के गर्त में पड़ा रहता है।

ईश्वरवाद (Theism)

ईश्वरवाद शब्द का एक व्यापक अर्थ है जिसके अनुसार वे सभी सिद्धान्त जो ईश्वर की सत्ता (चाहे उसका कोई भी रूप हो) में विश्वास रखते हैं ईश्वरवाद के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। परन्तु, जब ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध के प्रसंग में ईश्वरवाद की चर्चा की जाती है, तो इसका एक विशेष अर्थ होता है। इस सम्बन्ध में ईश्वर का अभिप्राय उस मत से होता है जो ईश्वर को विश्वव्यापक और विश्वातीत दोनों मानता है। इस मत के अनुसार ईश्वर अनन्त सत्ता होते हुए भी व्यक्तित्व-सम्पन्न है। वह जगत् का सृष्टा, पालक एवं संहारकर्त्ता है। वह जगत् का निमित्त- कारण भी है और उपादान कारण भी। वह भक्तों की पूजा, सेवा, अर्चना आदि को स्वीकार करता है और उनका प्रत्युत्तर देता है। जिस प्रकार उसके उपासक उसे प्रेम करते हैं उसी प्रकार वह भी उन्हें प्रेम करता है।

1. **ईश्वर की विश्वातीतता एवं विश्वव्यापकता का अर्थ** — ईश्वरवाद के कुछ प्रतिष्ठित समर्थकों, जैसे कि मार्टिन्यु, लोट्जे आदि का कथन है कि यद्यपि ईश्वर जगत् से अतीत भी है और उसमें व्यापक भी; परन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि वह सान्त अन्तःकरणों से सर्वथा अतीत है, अर्थात् सान्त अन्तःकरण कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। ईश्वरवाद की मान्यता है कि यद्यपि सान्त अन्तःकरणों का सृजन ईश्वर द्वारा अवश्य किया गया है, तथापि उन्हें संकल्प-स्वातन्त्रय एवं कर्म-स्वातन्त्रय प्रदान किया गया है।[1]

2. **दर्शन के इतिहास में ईश्वरवाद के उदाहरण** – पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों ही दर्शनों में (कुछ अवान्तर सूक्ष्म भेदों के साथ) ईश्वरवाद के अनेक उदाहरण मिलते हैं। पश्चिमी दार्शनिकों में डैकार्टे, लॉक, बर्कले, जेम्स वार्ड तथा प्रिंगिल पैटिसन ईश्वरवादी सिद्धान्त के समर्थक हुए हैं। भारतीय दर्शन में श्री रामानजाचार्य, वल्लभाचार्य, निर्म्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि ने ईश्वरवाद का प्रतिपादन किया है। हिन्दी साहित्य में भक्ति मार्ग के अनेक कवि भी ईश्वरवाद के अनुयायी हुए हैं।

आलोचना

(1) ईश्वरवाद के विरुद्ध यह आलोचना की गई है कि व्यक्तित्व-सम्पन्न

---

1. ईश्वर की विश्वातीतता एवं विश्वव्यापकता की एक संगत व्याख्या प्रस्तुत करते हुए श्री मार्टिन्यु ईश्वर के विषय में निम्न दो शर्तों का उल्लेख करते हैं: (1) "It (God) must not annex and absorb the faculties of created minds, but leave room for their personality; (2) though pervading the rest of the world, It (God) must not stop at the cosmical limits, but spread beyond them as an infinite sea of possibilities other than the realised legislation of reason, righteousness and love." (अर्थात् "(1) उस (ईश्वर) को सृष्ट अन्तःकरणों की शक्तियों को अपने में ही अनुबद्ध तथा आत्मसात नहीं कर लेना चाहिये, वरन् उनके व्यक्तित्व के लिए कुछ स्थान छोड़ देना चाहिए; (2) शेष जगत् में व्याप्त होते हुए भी उसे (ईश्वर को) ब्रह्माण्ड की सीमाओं पर रुक नहीं जाना जाहिये, वरन् उनसे भी परे ऐसी संभावनाओं के अनन्त सागर के रूप में स्वयं को प्रसारित कर देना चाहिए जो (संभावनायें) तर्क, नीतिपरायणता तथा प्रेम के उपलब्ध विधान से अन्य हों"।)। 'दि स्टडि ऑफ रिलीजन' (The Study of Religion)।

ईश्वर अनन्त एवं असीम नहीं हो सकता। ईश्वर में कुछ विशिष्ट गुणों का आरोप करने का अर्थ है उसके विरोधी गुणों का उसमें निषेध करना। हॉलैण्ड के महान् दार्शनिक स्पिनोजा कहते हैं, "All determination is negation" अर्थात्, किसी वस्तु में गुणों का आरोप करना ही उसे सीमित कर देना है।

ईश्वरवाद के पोषक दार्शनिकों ने इस तर्क के उत्तर में यह कहा है कि विरोध का नियम (Law of Contradiction) संसार की सामान्य वस्तुओं के विषय में तो अवश्य लागू होता है; परन्तु ईश्वर पर इसे लागू करना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ईश्वर को जगत् की साधारण वस्तुओं की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। ईश्वर को 'विरोध के नियम' के अन्तर्गत कहना ईश्वर की ईश्वरता को ही समाप्त कर देना है। ईश्वर तो सर्वशक्तियुक्त एवं सर्व प्रकारेण पूर्ण तत्व है; उसमें सभी प्रकार के गुणों का होना नितान्त स्वाभाविक है।

(2) सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में भी ईश्वरवाद के सिद्धान्त में कुछ महत्व-पूर्ण कठिनाइयों का निर्देश किया गया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर ने विश्व का निर्माण क्यों किया? उसे इसकी क्या आवश्यकता थी? यदि कहा जाय कि ईश्वर को इसकी आवश्यकता थी, तो ईश्वर अपूर्ण हो जायेगा। और, दूसरी ओर, यदि यह प्रतिपादित किया जाय कि ईश्वर को इसकी आवश्यकता नहीं थी, तो व्यर्थ में उस (ईश्वर) ने इसके सृजन में अपनी शक्ति को क्यों लगाया?

इन कठिनाइयों का निराकरण करते हुए ईश्वरवाद के समर्थक कहते हैं कि ईश्वर संसार का सृजन इसलिए नहीं करता कि उसमें किसी प्रकार का अभाव था जिसकी पूर्ति वह इस प्रकार करता है। ईश्वर संसार का सृजन इसलिए करता है कि ऐसा करना उसका स्वभाव है, उसका धर्म (nature) है। ईश्वर स्वभाव से ही लीलामय है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव है उष्णत्व (heat) प्रदान करना और सूर्य का स्वभाव है प्रकाश का विस्तार करना, उसी प्रकार विश्व की रचना करना ईश्वर का स्वाभाविक धर्म है।

(3) ईश्वरवाद के विरुद्ध एक यह आक्षेप किया गया है कि इस सिद्धान्त में क्योंकि ईश्वर को विश्व में व्याप्त माना गया है अतः विश्व के सुख दुःख आदि का ईश्वर को आच्छादित करना नितान्त अनिवार्य है, जिससे ईश्वर का ईश्वरत्व ही नष्ट हो जाता है।

हमने ऊपर यह बताया है कि यही आक्षेप केवलोपादानेश्वरवाद के विरुद्ध भी प्रस्तुत किया गया है, परन्तु उस सिद्धान्त में इसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं होता। ईश्वरवादी दार्शनिक इस स्थान पर कहते हैं कि संसार के सभी जीव कर्म करने में स्वतन्त्र हे, अतः शुभ एवं अशुभ कर्म करने का उत्तरदायित्व

स्वयं उनके ही कन्धों पर है। ऐसी स्थिति में अपने कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के सुख दुख आदि के भोग का भार भी उन पर ही होना पूर्णतया युक्ति-संगत है। ईश्वर को संसार के इन सुख दुखों का दोषी ठहराना सर्वथा अनुचित है।

(4) कुछ आलोचकों ने ईश्वरवाद के सिद्धान्त में मानव के संकल्प-स्वातंत्र्य को अवास्तविक बताया है। उनका कथन है कि जीवों में संकल्प की स्वतन्त्रता ईश्वर के द्वारा दी गई है, अतः उसे जीवों की स्वरूपगत स्वतन्त्रता अर्थात् वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता।

ईश्वरवाद के समर्थक इस आलोचना का प्रतिकार करते हुए कहते हैं कि जब जीव की संकल्प-स्वतन्त्रता को ईश्वर की देन कहा जाता है उससे अभिप्राय केवल यही होता है कि इस (जीव) की संकल्प-स्वतन्त्रता उसके अपने स्वभाव का एक अंग है। और जब वह (संकल्प-स्वतन्त्रता) उसके स्वभाव का एक अंग है, तो उसे अवास्तविक कैसे कहा जा सकता है?

(5) ऊपर यह कहा गया है कि कुछ ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर सान्त अन्तःकरणों से पूर्णतया अतीत है क्योंकि उनका मत है कि यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो सान्त अन्तःकरणों की संकल्प-स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती। ये विचारक यह भूल जाते हैं कि यदि ईश्वर को सान्त अन्तःकरणों से सर्वथा पृथक् कर दिया जायेगा, तो ईश्वर की सीमायें निर्धारित हो जायेंगी। और, ईश्वर की सीमायें निर्धारित करना ईश्वर की ईश्वरता (अर्थात् अनन्तता, पूर्णता आदि) को ही समाप्त कर देना है। पुनः हमारा साधारण अनुभव यह बताता है कि मनुष्य को संकल्प की स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से प्राप्त है ही नहीं[1]। मानवीय इच्छायें भौतिक जगत् की अगणित परिस्थितियों से नियन्त्रित (determined) हुआ करती हैं; अतः उन्हें सर्वथा स्वतन्त्र कहा ही नहीं जा सकता।

निमित्तोपादानेश्वरवाद या आन्तरातीत ईश्वरवाद (Panentheism)

हमने 'ईश्वर और जगत् का सम्बन्ध' विषयक जिन सिद्धान्तों की ऊपर विवेचना की है उनसे यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि इन सिद्धान्तों की भिन्नता मुख्य रूप से इसी प्रश्न पर अवलम्बित है कि क्या ईश्वर जगत् से अतीत है, अथवा उसमें व्याप्त, अथवा अतीत एवं व्याप्त दोनों? पुनः, ईश्वर की जगत् से अतीतता तथा व्याप्तता की क्या सीमायें हैं? केवलनिमित्तेश्वरवाद ईश्वर को जगत् तथा सान्त अन्तःकरणों (या जीवात्माओं) से पूर्णतया अतीत मानता है। केवलोपादानेश्वरवाद ईश्वर को जगत् तथा सान्त अन्तःकरणों दोनों

1. इस विषय का विस्तार बारहवें अध्याय में किया जा चुका है।

में व्याप्त कहता है। ईश्वरवाद का दृष्टिकोण है कि ईश्वर जगत् से अतीत भी है और उसमें व्याप्त भी, परन्तु सान्त अन्त:करणों से सर्वथा परे है। निमित्तोपादानेश्वर उपर्युक्त सभी वादों के विरोध को समाप्त कर उन सब में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। उसका कथन है कि ईश्वर जगत् और सान्त अन्त:करणों दोनों से अततीत भी और दोनों में व्याप्त भी। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि निमित्तोपादानेश्वरवाद के अनुसार 'विश्व' अथवा 'सब कुछ' ईश्वर में है : ['Pan'=All (सब कुछ), 'en'=in (में), Theos=God (ईश्वर)], परन्तु विश्व अथवा 'सब कुछ' ईश्वर नहीं है।

1. **ईश्वर जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी**—निमित्तोपादानेश्वरवाद की मान्यता हैं कि ईश्वर जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण इसलिए है कि वह जगत् का निर्माण कर उससे उसी प्रकार से पृथक् रहता है जैसे कि एक स्वर्णकार स्वर्णाभूषण बनाने के पश्चात् और एक शिल्पकार मूर्ति बनाने के पश्चात्। ईश्वर जगत् का उपादान कारण इसलिए है कि उसे जगत की रचना करने के लिए किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती; वह अपने संकल्प से ही जगत् की रचना कर देता है। जगत् ईश्वर के स्वभाव की ही परिणति (transformation) या अभिव्यक्ति (manifestation) है। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण एवं उपादान कारण दोनों है इस तथ्य को मकड़ी और जाले के दृष्टान्त (analogy) से अच्छी प्रकार समझा जा सकता है[1]। मकड़ी स्वयं अपना जाला बनाती है, अत: स्वयं उसका निमित्त कारण है; पुन:, जाला बनाने के लिए मकड़ी को कोई बाह्य सामग्री जुटाना नहीं पड़ती, वरन् वह अपनी प्रकृति (शरीर) से ही उसे बना देती है, अत: वह स्वयं ही जाले का उपादान कारण भी है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर ने विश्व की स्वयं ही रचना की है, अत: वह विश्व का निमित्त कारण है; और उसने क्योंकि किसी बाह्य उपादान (material) से नहीं वरन् अपने स्वभाव से ही विश्व का सृजन किया है, अत: वह उसका उपादान कारण भी है।

2. **ईश्वर विश्वातीत एवं विश्वव्यापक दोनों है**—निमित्तोपादानेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर क्योंकि विश्व का निमित्त कारण है इसलिये वह विश्व से अतीत या परे है; और क्योंकि वह विश्व का उपादान कारण भी है इसलिये वह विश्व में व्याप्त भी है। जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है निमित्तोपादानेश्वरवाद या आन्तरातीत ईश्वरवाद के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ईश्वर में है, किन्तु वह ईश्वर नहीं है। इसका

1. भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में इस दृष्टान्त का बहुत अधिक प्रयोग किया गया है।

अर्थ यह है कि जगत् ईश्वर का अंश है, और इस कारण ईश्वर से पृथक् या स्वतंत्र उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। जगत् सर्वप्रकारेण ईश्वर पर आधारित है; परन्तु ईश्वर जगत् से परे या अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है; उसकी सत्ता जगत् तक ही समाप्त (exhausted) नहीं हो जाती। सार रूप में यह कहना होगा कि ईश्वर और विश्व का समीकरण[1] कदापि नहीं किया जा सकता, जैसा कि केवलोपादानेश्वरवादी दार्शनिक करने का प्रयास करते हैं।

3. **ईश्वर व्यक्तित्व सम्पन्न नहीं है** — निमित्तोपादानेश्वरवाद ईश्वर को ही एकमात्र परम सत्ता या पारमार्थिक सत्ता[2] के रूप में प्रतिपादित करता है। ईश्वर ही, इसके अनुसार, ब्रह्माण्ड का सृष्टा, नियन्ता एवं पालक तथा संहारकर्ता है। वह असीम, अनन्त एवं स्वयंभू हैं। इन सभी बातों में ईश्वरवाद के सदृश होते भी निमित्तोपादानेश्वरवाद ईश्वरवाद के विरुद्ध यह घोषित करता है कि ईश्वर व्यक्तित्व-सम्पन्न नहीं, प्रत्युत व्यक्तित्वरहित है।

4. **ऐतिहासिक पृष्ठभूमि** — पाश्चात्य दर्शन में निमित्तोपादानेश्वरवाद का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण जर्मन दार्शनिक हीगेल के सिद्धान्त में प्राप्त होता है। हीगेल के मतानुसार ईश्वर विश्वव्यापी होते हुए भी सर्वथा निरपेक्ष सत्ता है। विश्व की रचना करना ईश्वर का स्वभाव है। सृष्टि-क्रम उस (ईश्वर) की आवश्यक अभिव्यक्ति है। भारतीय दर्शन में आचार्य शंकर का दर्शन निमित्तोपादानेश्वरवाद का सर्वोत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। आचार्य शंकर स्पष्ट रूप से ब्रह्म को विश्वातीत एवं विश्वव्यापक सत्ता घोषित करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म इस सृष्टि का निमित्त कारण एवं उपादान कारण दोनों है। वह तथा हीगेल दोनों ही परम सत्ता को व्यक्तित्व-रहित कहते हैं। किन्तु, इस स्थान पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हीगेल के दर्शन तथा शंकर के दर्शन में एक महत्वपूर्ण भेद भी है। जब कि सृष्टि, हीगेल के अनुसार, ईश्वर की वास्तविक अभिव्यक्ति है; शंकर के अनुसार, सृष्टि ब्रह्म की सत्य अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् अज्ञान के कारण ब्रह्म में भासित हो रही[3] है।

समालोचना

(1) निमित्तोपादानेश्वरवाद यद्यपि ईश्वर को विश्वातीत मानता है, परन्तु क्योंकि सर्वेश्वरवाद के सदृश उसमें ईश्वर को विश्वव्यापी भी कहा गया है, अतः

1. Putting on a par
2. Transcendental Reality
3. Illusorily appearing

सर्वेश्वरवाद की अनेक कठिनाइयों का उसे भी सामना करना पड़ता है। उसके विरुद्ध यह कहा गया है कि जब संसार ईश्वर की ही बाह्य अभिव्यक्ति है तो मनुष्य जीवन को भी ईश्वरीय शक्ति का ही एक अंश मानना होगा। ऐसी स्थिति में मानवीय व्यक्तित्व (Human Personality) तथा संकल्प-स्वातन्त्र्य को स्थान कहाँ रह जाता है ? और तब मनुष्य के लिए अपने दोषों को दूर करने और संसार के अगणित दुखों से छुटकारा पाने की सम्भावना कैसे रह सकती है ?

इन कठिनाइयों का उत्तर देते हुए निमित्तोपादानेश्वरवाद के समर्थक दार्शनिकों ने यह कहा है कि इस प्रकार की आपत्तियाँ 'संकल्प-स्वातन्त्र्य' के प्रत्यय (concept) को न समझने के कारण ही उत्पन्न होती हैं। 'स्वतन्त्रता' का अर्थ सर्वथा 'अकारण क्रियाशीलता' (unmotived action) कदापि नहीं है, जैसा कि निमित्तोपादानेश्वरवाद के अनेक आलोचकों, मार्टिन्यु एवं सेठ (Seth) आदि, ने समझा है। बौद्धिक आत्मा (Rational self) ही मनुष्य का वास्तविक आत्मा (Real self) है, और वही विश्वात्मा या समष्टि-बुद्धि (Universal Self or Universal Reason) की मनुष्य में वास्तविक अभिव्यक्ति है। जितना ही अधिक मनुष्य अपने बौद्धिक आत्मा के नियमों के अनुकूल कार्य करता है उतना ही अधिक उसके व्यक्तित्व में विश्वात्मा या समष्टि-बुद्धि का प्रकटीकरण होता है। और, बौद्धिक आत्मा या बुद्धि (reason) के आदेशों के अनुकरण करने को परतन्त्रता कदापि नहीं कहा जा सकता; वह तो सच्चे अर्थों में मानव की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार, स्पष्ट रूप से यह तथ्य बुद्धिगम्य हो जाता है कि मानवीय व्यक्तित्व के ईश्वरीय अंश होने से उसकी स्वतन्त्रता किञ्चिदपि नष्ट नहीं होती।

(2) दूसरा दोष निमित्तोपादानेश्वरवाद के सिद्धान्त में यह बताया गया है कि क्योंकि इसमें ईश्वर को व्यक्तित्व-रहित माना गया है अतः इसका ईश्वर मनुष्य की धर्म भावनाओं को सन्तुष्ट नहीं करता। आचार्य शंकर ने अपने सिद्धान्त को इस दोष से मुक्त रखने के हेतु व्यावहारिक स्तर (Empirical level) पर सगुण ब्रह्म अर्थात् व्यक्तित्व-सम्पन्न ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर सभी मनुष्यों की पूजा एवं अर्चना का विषय है। वह दया एवं करुणा का सागर है और हमारी प्रार्थनाओं को सुनता तथा स्वीकार करता है। जिस प्रकार हम उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति और प्रेम रखते हैं, उसी प्रकार वह भी हम पर अपने स्नेह एवं कृपा की वृष्टि करता रहता है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

(1) ईश्वर के अस्तित्व के क्या क्या प्रमाण हैं ? उनकी समीक्षा कीजिए ।
What are the proofs for the existence of God ? Critically examine them.

(2) क्या ईश्वर का अस्तित्व बौद्धिक तर्कों द्वारा पूर्णतया सिद्ध किया जा सकता है ? यदि नहीं तब उन तर्कों की क्या उपयोगिता है ?
Can the existence of God be fully proved on the basis of logical arguments ? If not, then what is the value of those arguments ?

(3) ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में आदि-कारण विषयक तर्क तथा सत्ता मीमांसीय तर्क की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ।
Critically discuss the Causal Argument and the Ontological Argument in favour of the existence of God.

(4) ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि में बुद्धि की असमर्थता को प्रदर्शित करते हुए धार्मिक अनुभूति विषयक तर्क तथा मूल्यमीमांसीय तर्क की व्याख्या कीजिये ।
Showing the incompetence of intellect in proving the existence of God explain the Argument from religious consciousness and the Axiological argument.

(5) ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध के विषय में कौन कौन सिद्धान्त हैं ?
What are the various theories in regard to the relation between God and the world ?

(6) केवलनिमित्तेश्वरवाद और केवलोपादानेश्वरवाद की तुलनात्मक व्याख्या कीजिए ।
Explain and compare Deism and Pantheism.

(7) केवलनिमित्तेश्वरवाद और ईश्वरवाद की तुलना कीजिए ।
Compare and contrast Deism and theism.

(8) निमित्तोपादानेश्वरवाद किस प्रकार केवलोपादानेश्वरवाद की कमियों को पूरा करता है ? क्या आपके विचार से निमित्तोपादानेश्वरवाद ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध की समस्या का सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत करता है ?
How does Panentheism remove the short-comings of Pantheism? Do you think that Panentheism gives a satisfactory solution of the problem of the relation of God to the world ?

पञ्चदश अध्याय

मूल्य मीमांसा

(Axiology)

जब हम मानव जीवन की गति विधि पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि प्रायः हम वस्तुओं में चयन (choice) करते रहते हैं। हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु से अच्छी सझमते हैं; एक की चाहना करते हैं और दूसरी की नहीं। उदाहरण के रूप में हम स्वस्थ रहना चाहते हैं अस्वस्थ नहीं, धन चाहते हैं दारिद्र्य (poverty) नहीं, मान चाहते हैं अपमान (dishonour) नहीं, सुन्दरता चाहते हैं कुरूपता नहीं। संसार का प्रत्येक व्यक्ति सुख की कामना करता है और दुख की अनिच्छा; वह उन वस्तुओं का चयन करता है जो उसे सुख प्रदान करती हैं और उन वस्तुओं से दूर रहने का प्रयास करता है जिनसे उसे दुःख मिलने की सम्भावना है। वस्तुओं में इस प्रकार के चयन को मूल्यांकन (Valuation) कहा जाता है। यह मूल्यांकन पशु-जगत् और मानव-जगत् दोनों में ही निरन्तर होता रहता है। यह बात अवश्य है कि पशु-जगत् में यह अविकसित विचार के आधार पर होता है और मानव-जगत् में विकसित विचार के आधार पर। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि मनुष्य केवल जानता ही नहीं है, वरन् मूल्यांकन भी करता है, और मूल्य हमारे जीवन का एक मूलभूत एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण संप्रत्यय (concept) है।

इस महत्वपूर्ण संप्रत्यय (अर्थात् 'मूल्य') से सम्बद्ध कई प्रकार की समस्यायें हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। जैसे कि : मूल्य का क्या स्वरूप है ? क्या मूल्य आत्मागत (subjective) होते हैं या विषयगत (objective)[1] ? अर्थात्, क्या मूल्य व्यक्ति के केवल मनः सन्तोष पर ही निर्भर करते हैं या वे सचमुच वस्तुओं में विद्यमान रहते हैं ? मूल्य का तत्व या सत्ता (Reality) से क्या सम्बन्ध है ? मूल्यों के क्या क्या प्रकार (kinds) हैं ? जीवन के उच्चतर मूल्य (Higher values) क्या हैं और उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? क्या जीवन में कोई सर्वोच्च मूल्य

---

1. वस्तुतः यह प्रश्न मूल्य के स्वरूप में ही सन्निहित है।

है ? यदि है, तो क्या ? आगामी पंक्तियों में हम इन सभी समस्याओं पर संक्षेप में विचार करेंगे ।

मूल्य का स्वरूप
(Nature of Value)

मूल्य का स्वरूप समझने के लिए दो प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है — प्रथम, यह कि मूल्य (Value) का तथ्य (Fact) से क्या अन्तर है ? दूसरे, यह कि मूल्य आत्मगत (subjective) है या विषयगत (objective)? हम क्रमेण इन्हीं दोनों प्रश्नों को लेते हैं ।

मूल्य और तथ्य में अन्तर (Difference between Value and Fact)

एक ही वस्तु के दो पक्ष होते हैं । एक है वस्तु का तथ्य-पक्ष (factual aspect) और दूसरा है उसका मूल्य-पक्ष (value aspect) । जब हम वस्तु का उसी रूप में वर्णन करते हैं जैसा कि हमें उसका प्रत्यक्ष होता है, तब वस्तु का वह पक्ष तथ्य-पक्ष कहलाता है और उस समय हमारे निर्णय तथ्य-निर्णय (judgments of fact) कहलाते हैं । पुनः, जब हम वस्तु का गुणावधारण (appreciation) करते हैं, तब वस्तु का वह पक्ष मूल्य-पक्ष कहलाता है और उस समय हमारे निर्णय मूल्य - निर्णय (judgments of value) कहलाते हैं । वस्तु का तथ्य-पक्ष वस्तु से नियंत्रित होता है, किन्तु वस्तु का मूल्य-पक्ष किसी सीमा तक व्यक्ति के विचारों तथा भावनाओं पर भी निर्भर करता है । दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि 'तथ्य' ('fact') पूर्णरूपेण वस्तुनिष्ठ है और व्यक्ति के नियंत्रण से मुक्त है, और 'मूल्य' (value') पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ न होकर किसी परिमाण में व्यक्ति पर भी निर्भर है । तथ्य पहिले ही से विद्यमान रहता है, परन्तु मूल्य का निर्धारण व्यक्ति के द्वारा होता है । तथ्य-विषयक निर्णय में वस्तु के स्वरूप का ज्यों का त्यों वर्णन होता है । दूसरी ओर, मूल्य-विषयक निर्णय में किसी आदर्श (Ideal) से उसकी तुलना कर उसका गुणावधारण किया जाता है, और इस प्रकार का गुणावधारण ही उस वस्तु का 'मूल्यांकन' कहलाता है । उदाहरण के रूप में जब हम यह कहते हैं कि 'यह एक भवन है' या 'यह एक मनुष्य है', तब हमारे निर्णय तथ्य - विषयक होते हैं । किन्तु, जब हम यह कहते हैं कि 'यह एक सुन्दर भवन है' या 'यह एक अच्छा मनुष्य है', तब हमारे निर्णय मूल्य-विषयक होते हैं । स्पष्ट है कि प्रथम प्रकार के निर्णयों में वस्तु-स्थिति का ज्यों का त्यों कथन किया गया है, परन्तु

दूसरे प्रकार के निर्णयों में 'सौन्दर्य' और 'अच्छाई' के आदर्शों से तुलना कर गुणावधारण किया गया है।

मूल्य आत्मगत हैं या विषयगत ? (Are Values Subjective or Objective?)

प्रारम्भ से ही दर्शनिकों में इस प्रश्न पर विवाद होता रहा है कि मूल्य आत्मगत हैं या विषयगत ? कुछ दार्शनिकों ने मूल्यों को आत्मगत बताया है और कुछ ने विषयगत। हम निम्नलिखित पंक्तियों में इन दोनों मतों को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

मूल्यों को आत्मगत प्रतिपादन करने वाले दार्शनिकों का कथन है कि मूल्य व्यक्ति के सन्तोष पर निर्भर है। संसार की कोई भी वस्तु स्वयं में मूल्यवान नहीं है। जब हम किसी वस्तु को मूल्यवान कहते हैं उसका अभिप्राय केवल इतना ही होता है कि उस वस्तु को प्राप्त कर लेने पर हमें सन्तोष मिलता है, वह हमें आवश्यक या लाभदायक है, या उससे हमारी इच्छा की पूर्ति होती है। इसीलिए अर्बन (Urban) मूल्य की परिभाषा करते हुए कहते हैं "मूल्य वह है जो मानव इच्छा की पूर्ति करता है"[1]। वास्तविकता यह है कि मूल्य का रुचि से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति या समाज की जिस वस्तु में रुचि होती है उसे वही मूल्यवान प्रतीत होती है। पैरी (Perry) का कथन है कि, "रुचि की विषय-वस्तु स्वभावत: मूल्यवान होती है। कोई भी वस्तु चाहे वह कुछ भी हो रुचि हो जाने पर मूल्यवान हो जाती है, जिस प्रकार कोई भी वस्तु चाहे वह कैसी भी हो लक्ष्य बन जाती है जब कोई भी व्यक्ति उसकी ओर लक्ष्य कर लेता है"[2]। रुचि में भेद हो जाने से व्यक्तियों के मूल्यों में भी भेद हो जाता है। जहाँ विद्वानों एवं विचारकों को पुस्तकें अत्यन्त मूल्यवान प्रतीत होती हैं वहाँ अशिक्षित एवं गंवारों के लिए उनका कोई मूल्य नहीं होता। विद्वानों में भी, विषय भेद-से, भिन्न भिन्न विषयों के विद्वानों को अपने अपने विषय की पुस्तकें अधिक मूल्यवान दृष्ट होती हैं। बालकों को अपने क्रीड़ा-उपकरण ही सर्वाधिक मूल्यवान लगते हैं, किन्तु प्रौढ़ों के लिए उनका कोई भी मूल्य नहीं होता। पुनः, अवसर के भेद से भी वस्तुओं के मूल्यों में अन्तर पड़ जाता है। एक ही व्यक्ति को एक अवसर पर जो वस्तु अच्छी लगती है

---

1. "Value is that which satisfies human desire" (W. M. Urban).
2. "That which is an object of interest is 'eo ipso' invested with value. Any object, whatever it be, acquires value when any interest, whatever it be, is taken in it, just as anything whatsoever becomes a target when anyone whosever aims at it."(R. B. Perry).

वही उसे दूसरे अवसर पर बुरी लगती है । सुख के समय जो गीत बहुत अच्छा लगता है वही दुख के समय बुरा लगने लगता हैं । जो वस्त्र और आभूषण हर्ष के समय अत्यन्त प्रिय प्रतीत होते हैं वही शोक के क्षणों में बहुत अप्रिय प्रतीत होते हैं । स्थान के अन्तर से भी मूल्यों में परिवर्तन हो जाता है । एक स्थान या देश में जो वस्तु अच्छी मानी जाती है वही दूसरे स्थान या देश में बुरी समझी जाती है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यों को न तो सर्वजनगृहीत कहा जा सकता है और न ही नित्य । वे पूर्णतया विषयी (subject) की रुचि एवं मानसिक स्थिति पर निर्भर करते हैं और देश काल के अनुसार उनमें परिवर्तन होते रहते हैं । हॉलैण्ड के महान् दार्शनिक स्पिनोजा का कथन है कि हम किसी वस्तु की इच्छा इस कारण नहीं करते कि वह स्वयं में मूल्यवान है, प्रत्युत इसके विपरीत हम उसे मूल्यवान इसलिए समझते हैं कि हम उसकी इच्छा करते हैं[1] ।

मूल्यों को आत्मगत प्रतिपादित करने वाले विचारकों में कुछ यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यदि मूल्य सचमुच वस्तुओं में होते तो वस्तुओं के अन्य गुणों के साथ हमें उनका भी अनुभव होता । किन्तु, सब जानते हैं कि मूल्यों का किसी को कोई प्रत्यक्ष नहीं होता । इससे स्पष्टतया यह प्रमाणित होता है कि स्वयं वस्तुओं में मूल्य नहीं हैं ।

विख्यात प्रयोगवादी दार्शनिक जॉन डैवी (John Dewy) का मत है कि मूल्य न तो वस्तुगत हैं और न ही उन्हें नित्य कहा जा सकता है । संसार में जो लोग प्रगति के विरोधी हैं और प्राचीन रूढ़ियों में परिवर्तन नहीं करना चाहते वे ही मूल्यों के नित्य होने का प्रचार करते हैं । ऐसे लोग न्यायालयों को स्थित (कायम) रखने के लिए न्याय की नित्यता की घोषणा करते हैं और पादरियों एवं पुजारियों के हितों की रक्षा के लिए धर्म के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हैं ।

लोट्जे (Lotze) का कथन है कि मूल्य हमारी परितृप्ति की अनुभूति (feeling of satisfaction) पर आधारित हैं । जिन वस्तुओं से हमें परितृप्ति की अनुभूति होती है, अर्थात् दूसरे शब्दों में, जो वस्तुएँ हमें आनन्द प्रदान करती हैं वही हमें मूल्यवान दृष्ट होती हैं । जीवन के उच्चतर मूल्यों (Higher values of life) — सत्यम् (Truth), शिवम् (Good) एवं सुन्दरम् (Beauty) के विषय में भी यही तथ्य है कि वे मूल्य इस हेतु हैं कि वे हमें आनन्दप्रद हैं । अब क्योंकि

1. "In no case do we strive for, wish for, long for or desire any thing, because we deem it to be good, but on the other hand we deem a thing to be good, because we strive for it, wish for it or desire it."

आनन्द की अनुभूति व्यक्तिगत होती है, अतः यह प्रमाणित होता है कि सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दम् भी व्यक्तिगत या आत्मगत ही हैं।

उपर्युक्त विचारधारा से भिन्न, जैसा कि पहले इंगित किया गया है, कुछ दूसरे दार्शनिकों के अनुसार मूल्य आत्मगत न होकर विषयगत हैं। इन दार्शनिकों, जिनमें प्रो० मूर (Prof Moore), लेयर्ड (Laird) आदि नव्य वस्तुस्वातन्त्र्य-वादी सम्मिलित हैं, का मत है कि हमें जिस प्रकार वस्तु के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध की अनुभूति होती है, उसी प्रकार उसके 'मूल्य' की भी अनुभूति होती है। जिस प्रकार वस्तु के ठोसपन (solidity), आकार, गठन आदि गुण उसमें विद्यमान रहते हैं और आत्मगत नहीं होते, उसी प्रकार वस्तु का मूल्य भी उसका एक ऐसा गुण है जो उसी में विद्यमान रहता है और जो आत्मगत या विषयीगत नहीं कहा जा सकता। साधारण अनुभव भी हमें यह बताता है कि मूल्य वस्तुओं में रहते हैं बुद्धि के अन्दर नहीं। उदाहरण के रूप में जब हम यह कहते हैं कि 'यह पुष्प सुन्दर है' या 'गरीबों की सहायता करना अच्छा है', तब हमारे निर्णयों को हमारी अभिरुचि के यदृच्छ निर्णय (arbitrary judgments) नहीं कहा जा सकता। पुष्प में निश्चय ही कोई ऐसी विशेषता है जिसके कारण हम उसे सुन्दर कहते हैं; और इसी प्रकार गरीबों की सहायता के कार्य में भी अवश्य ही कोई ऐसी बात है जिससे हम उसे शुभ कहते हैं। विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि मूल्य हमारी पसन्द नापसन्द से सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र हैं; वे वस्तुओं में ही रहते हैं, वस्तुओं से बाहर उनका कोई अर्थ ही नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य कही जा सकती है कि जब हम मूल्यात्मक निर्णय देते हैं तब हमारे वे निर्णय वस्तुओं की उन विशेषताओं की ओर इंगित करते हैं जो हमारे अन्दर प्रशंसा या निन्दा की प्रतिक्रियायें उत्पन्न करती हैं।

इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र विचार यह है कि मूल्य किसी सीमा तक आत्मगत हैं और किसी सीमा तक विषयगत। वे न केवल बुद्धि में रहते हैं और न ही केवल वस्तुओं में। मूल्यात्मक निर्णय बुद्धि की एक ऐसी प्रतिक्रिया है जो एक विशेष परिवेषगत परिस्थिति (environmental situation) के प्रति होती है। इसमें सन्देह नहीं कि मूल्यों का निर्धारण बुद्धि करती है, किन्तु इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि वे बुद्धि के यदृच्छ वरण (arbitrary choice) या उस (बुद्धि) की सनक (caprice) पर निर्भर हैं। जिस प्रकार तार्किक निर्णयों में प्रामाण्य का आदर्श (Ideal of true knowledge) छिपा रहता है, उसी प्रकार मूल्यात्मक निर्णयों में भी शुभ का आदर्श (Ideal of Good) छिपा रहता है।

यह माना जा सकता है कि किसी अंश में मूल्य मनुष्य की व्यक्तिगत अभि-

रुचि पर भी निर्भर करता है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति के लिए अत्यन्त मूल्यवान होती है, और दूसरे के लिये उसका कोई भी मूल्य नहीं होता। परन्तु, मनुष्य की रुचि का एक सार्वजनिक एवं सर्वग्राह्य रूप भी है। उदाहरण के रूप में एक चित्र-कार अपनी रुचि के अनुसार एक चित्र का निर्माण करता है, एक कवि अपनी अनुभूति के अनुरूप अपनी काव्य-रचना करता है और एक गायक अपनी भावना के अनुकूल गीत-सृष्टि करता है। किन्तु हम देखते हैं कि ये रचनायें प्राय: सभी के हृदयों को आकृष्ट करती हैं, सभी को प्रिय होती हैं। इनका मूल्य विश्वव्यापी (Universal) होता है, इनकी महत्ता सार्वदैशिक एवं सार्वकालिक होती है। कालिदास, भवभूति, शेक्सपीयर (Shakespeare) और गैटे (Goethe) के काव्यों से और तानसेन की संगीत-सृष्टि से जो आनन्द स्वयं उन्हें तथा उनके समकालीन लोगों को प्राप्त होता था वही आनन्द आज हमें भी प्राप्त होता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उक्त महान् मनीषियों एवं कलाकारों की रचनाय व्यक्तिगत होते हुए भी सर्वग्राह्य हैं, और सर्वग्राह्य होने का अर्थ ही यह है कि वे विषयगत भी हैं।

हम ने ऊपर कहा है कि दार्शनिकों का एक वर्ग यह प्रतिपादित करता है कि जिस वस्तु की प्राप्ति करके हमें सन्तोष मिलता है या परितृप्ति होती है वही वस्तुत: हमारे लिये मूल्यवान होती है। किन्तु, प्रश्न यह है कि कौन वस्तु, हमें सन्तोष या परितृप्ति प्रदान करेगी और कौन नहीं — यह बात क्या मनुष्य पर निर्भर करती है या वस्तु के स्वभाव पर ? हमारा मत है कि आंशिक रूप से दोनों बातें सत्य हैं। किसी अंश में व्यक्ति का सन्तोष और उसकी परितृप्ति उसके अपने स्वभाव पर निर्भर करते हैं, और किसी अंश में वे वस्तु के स्वभाव पर निर्भर करते हैं। अस्तु यही कहना अधिक उपयुक्त दृष्ट होता है कि मूल्य आत्मगत और विषयगत दोनों हैं।

गम्भीरता से विचार करने पर इस सम्बन्ध में एक और तथ्य प्रकट होता है। वह यह कि मनुष्य का चरित्र और उसके जीवन की सम्पूर्ण गति-विधियाँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि उसके जीवन-मूल्य (Values of life) क्या हैं। यदि किसी व्यक्ति के जीवन मूल्य निम्न स्तर के हैं तो उसका चरित्र और व्यवहार दोनों भी निम्न स्तर के होंगे, और यदि किसी के जीवन-मूल्य उच्च स्तर के हैं तो उसका चरित्र और व्यवहार भी उच्च स्तर के ही होंगे। वास्तविकता यह है कि मनुष्य की सम्पूर्ण प्रगति एवं उत्कर्ष उसके जीवन-मूल्यों की उच्चता एवं सत्यता पर ही आधारित होते हैं। यदि मूल्य केवल आत्मगत ही होते और साथ साथ वस्तुगत न होते तो मनुष्य की प्रगति उन पर कदापि आधारित न होती।

मूल्य और तत्त्व
(Value and Reality)

मूल्यों के सम्बन्ध में यह प्रश्न एक बड़े महत्व का है कि मूल्यों का सम्बन्ध केवल व्यावहारिक जगत् मात्र से है अथवा पारमार्थिक जगत् में भी उनका कोई स्थान है ? हम देखते हैं कि इस प्रश्न पर भी दार्शनिकों में परस्पर बड़ा मतभेद रहा है । कुछ दार्शनिकों, जिसमें ब्रैड्ले (Bradley) तथा शंकर के नाम मुख्य हैं, का मत है कि मूल्य केवल व्यावहारिक जगत् मात्र से सम्बंधित हैं, उनका पारमार्थिक जगत् या पारमार्थिक सत्ता से कोई सम्बन्ध नहीं है । ये दार्शनिक कहते हैं कि पारमार्थिक सत्ता या परम तत्व एक निर्विशेष तत्व है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय, कर्ता और कर्म, भोक्ता और भोग्य आदि किसी प्रकार के भेद (distinctions) नहीं हैं । अतः उस तत्व में मूल्यावधारण (Valuation) का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ? मूल्य किसी विषय (object) का हुआ करता है, और विषय का यह मूल्यात्मक ज्ञान किसी विषयी (subject) को होता है । परन्तु पारमार्थिक सत्ता निर्विशेष होने के कारण विषय और विषयी के भेद से परे है । अत:; उसमें मूल्यों की स्थिति होना ही असम्भव है । पुन:, यह तो स्पष्ट ही है कि सभी मूल्यावधारण में आदर्श (Ideal) और वस्तुस्थिति (Actual) का भेद होना निश्चित है । हमारे व्यावहारिक जगत् जो एक सीमित क्षेत्र है, में आदर्श-प्राप्ति की बात सार्थक है; किन्तु पारमार्थिक सत्ता, जो एक निस्सीम सत्ता है, में इस प्रकार की वार्ता पूर्णतया अर्थहीन है । इसके अतिरिक्त, उक्त दार्शनिकों का मत है कि हमारा व्यावहारिक संसार सत्य नहीं प्रत्युत आभास (Appearance) है, अतः समस्त मूल्य भी केवल आभास हैं, पारमर्थिक जगत् में उनका कोई स्थान नहीं है ।

मूल्य और तत्व के सम्बन्ध के विषय में दार्शनिकों का दूसरा वर्ग यह प्रतिपादित करता है कि मूल्य पारमार्थिक सत्ता के ही रूप हैं ; उन्हें आभास मात्र कहना सर्वथा अनुचित है । उपर्युक्त मत के विरुद्ध इनका यह कथन है कि यदि परम तत्व में सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् का अनस्तित्व है तो वह अपूर्ण है और हमारे लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। यदि आदर्श हमारी कल्पना मात्र हैं, अनित्य हैं तो हम उनकी प्राप्ति हेतु किसी, भी प्रकार का प्रयास ही क्यों करेंगे ? आदर्शों को परमार्थ-सत्ता से दूर रखने का अर्थ है मनुष्य को उच्च जीवन की ओर अग्रसर होने से रोकना और इस प्रकार सम्पूर्ण मानव प्रगति को अवरुद्ध कर देना ।

हमारा विचार है कि शंकर तथा ब्रैड्ले आदि के सदृश परम सत्ता को निर्विशेष तत्व मानते हुए भी हमारे जीवन में मूल्यों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है ।

जब यह कहा जाता है कि मूल्यों का सम्बन्ध केवल व्यावहारिक जगत् से है पारमार्थिक सत्ता से नहीं, इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मूल्यों का जीवन में कोई महत्व ही नहीं है। यह ठीक है कि परम सत्ता एक निर्विशेष सत्ता है जिसमें कर्त्ता एवं कर्म, भोक्ता एवं भोग्य तथा आदर्श एवं वस्तु स्थिति आदि के कोई भेद विद्यमान नहीं है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यावहारिक स्तर पर भी इन भेदों को लोप है। व्यावहारिक स्तर पर जिस प्रकार संसार के अन्य भेद सत्य हैं, उसी प्रकार मूल्य भी सत्य हैं। इस स्तर पर ये आभास या कल्पना कदापि नहीं हैं, और हमारे जीवन को उत्कर्ष की ओर प्रेरित करने के लिए पूर्ण सशक्त हैं। जब तक हमारा सम्बन्ध व्यावहारिक जगत् से रहता है तब तक सत्यम्, शिवम्, एवं सुन्दरम् के आदर्श हमारे जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करते हैं और प्रगति-पथ पर अग्रगामी होने के लिये हमें अमित उत्साह प्रदान करते हैं।

मूल्यों के प्रकार-भेद
(Kinds of Values)

मूल्यों को मुख्य रूप से दो भागों में वर्गीकृत किया गया है : (१) स्वतः मूल्य या आन्तरिक मूल्य (Intrinsic values) तथा (२) परतः मूल्य या बाह्य मूल्य (Extrinsic values)। जगत में कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिये हम इस कारण प्रयत्न नहीं करते कि उनकी प्राप्ति से हमारे कुछ अन्य उद्देश्यों की पूर्ति होती है, प्रत्युत इसलिए प्रयत्न करते हैं कि स्वतः उन्हें प्राप्त करना ही हमारा उद्देश्य होता है। दूसरी ओर, कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिन्हें प्राप्त करना हमारा उद्देश्य नहीं होता, प्रत्युत उन्हें प्राप्त करने के लिए हम इसलिए चेष्टा करते हैं कि उनके द्वारा हमारे कुछ अन्य उद्देश्यों की पूर्ति होती है। प्रथम प्रकार की वस्तुएँ क्योंकि स्वयं में ही मूल्यवान होती हैं, अतः वे 'स्वतः मूल्य' कहलाती हैं; और दूसरे प्रकार की वस्तुएँ क्योंकि स्वयं में मूल्यवान न होकर कुछ अन्य परवर्ती उद्देश्यों की पूर्ति में साधन होती हैं, अतः वे 'परतः मूल्य' कहलाती हैं। स्वतः मूल्यों और परतः मूल्यों का अन्तर बताते हुए राइट महोदय (Mr. Wright) कहते हैं, "An intrinsic value is of worth on its own account; an instrumental (i. e., extrinsic) value because of its consequence." (अर्थात्, 'एक स्वतः मूल्य स्वयं अपने ही कारण मूल्यवान् है; और एक परतः मूल्य अपने परिणाम के कारण मूल्यवान है")। सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् स्वतः मूल्य हैं, क्योंकि हम सत्य को सत्य के लिए, शिव को शिव के लिए और

सौन्दर्य को सौन्दर्य्य के लिये ही चाहते हैं किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये नहीं। दूसरी ओर हमारा शारीरिक स्वास्थ्य, रुपया पैसा, मकान, वस्त्र आदि परतः मूल्य हैं, क्योंकि इन वस्तुओं की चाहना हम इस कारण नहीं करते कि वे स्वयं में ही हमें प्रिय हैं वरन् इस कारण करते हैं कि उनके द्वारा हमारे लक्ष्यों की प्राप्ति होती है।

परतः मूल्य (Extrinsic Values)

परतः मूल्य प्रायः दो प्रकार के होते हैं : (1) दैहिक मूल्य (Physical values) और (2) आर्थिक मूल्य (Economic values)।

(1) दैहिक मूल्य (Physical Values)

जीवन के उच्च मूल्यों की प्राप्ति के लिए शरीर को स्वस्थ एवं सुरक्षित रखना आवश्यक है। यद्यपि शरीर नाशवान है, तथापि इसके अभाव में अथवा इसकी रुग्णावस्था में उच्च मूल्यों को प्राप्त करना सम्भव ही नहीं है। इसीलिए मनीषियों ने सर्वदा ही इसके महत्व को स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास कहते हैं : "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" (अर्थात्, "शरीर ही धर्म के साधन का मूल है")। इसी भाव की अभिव्यक्ति करने वाले महामना सन्त तुलसीदास के भी शब्द देखिए :

"साधनधाम मोच्छ करि द्वारा"

वास्तविकता यही है कि जीवन में महान् आदर्शों की प्राप्ति के लिए स्वस्थ शरीर ही साधन है। जब तक हम इसे ठीक न रखेंगे तब तक हम उन्नति के पथ पर कदापि अग्रसर न हो सकेंगे। यद्यपि मूल्यों की शृंखला में इसका स्थान बहुत ही निम्न स्तर पर है, तथापि इसकी महत्ता को कोई भी विचारवान् व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु दूसरी ओर, हमें यह स्मरण रखना होगा कि देह को ही सब कुछ मानकर उसी को सुन्दर बनाने और सुसज्जित करने में अहर्निश संलग्न रहना भी जीवन के गहनतम रहस्यों को न समझना है।

(2) आर्थिक मूल्य (Economic Values)

शरीर को स्वस्थ एवं शक्ति-सम्पन्न रखने हेतु जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उन्हें आर्थिक मूल्यों की संज्ञा दी जाती है। इन मूल्यों का भी जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन के उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति के लिए क्योंकि शरीर की आवश्यकता है, अतः शरीर को स्वस्थ रखने के लिये जिन वस्तुओं की अपेक्षा है उनकी भी महत्ता नितान्त स्वाभाविक है। किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि आर्थिक मूल्यों को ही हमें जीवन का अन्तिम लक्ष्य अथवा साध्य कदापि नहीं बना लेना चाहिए। "धनाद् धर्मम्" की संस्कृत सूक्ति के अनुसार हमें आर्थिक मूल्यों की उपलब्धि के हेतु उसी सीमा तक प्रयत्न करना उचित है जिस सीमा तक वे हमें

उच्चतर मूल्यों की प्राप्ति में सहायक होते हैं; परन्तु, यदि आर्थिक मूल्यों की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य बन जाता है तो उसमे निश्चय ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकार का जीवन पतन की ओर अग्रसर होता है।

स्वतः मूल्य (Intrinsic Values)

हमने ऊपर परत: मूल्यों और स्वत: मूल्यों में अन्तर स्पष्ट करते हुए स्वत: मूल्यों का स्वरूप भी इंगित किया है। जैसा कि हमने कहा है, स्वतः मूल्य वे हैं जिनकी प्राप्ति हम किन्हीं अन्य परवर्ती उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नहीं करना चाहते, वरन् इसलिए करना चाहते हैं कि वे स्वयं में ही हमारे लिए मूल्यवान हैं। सत्यम् (Truth), शिवम् (Goodness) तथा सुन्दरम् (Beauty) ही ऐसे मूल्य हैं जो स्वयं में ही मूल्यवान हैं; वे अन्य मूल्यों की प्राप्ति के साधन नहीं वरन् स्वयं ही साध्य हैं। हम उन्हें उनके लिए ही चाहते हैं किन्हीं अन्य वस्तुओं के लिये नहीं। मानव मन की तीन मौलिक वृत्तियाँ हैं — ज्ञानात्मक वृत्ति (Knowing process), भावात्मक वृत्ति (Feeling psocess) तथा क्रियात्मक वृत्ति (Willing process)। सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् के आदर्श मन के इन्हीं पहलुओं (aspects) को सन्तोष प्रदान करते हैं। सत्य ज्ञानात्मक या विचारात्मक पहलू को सन्तुष्ट करता है, सौन्दर्य्य भावात्मक पहलू को और शिव या शुभ क्रियात्मक पहलू को।

परम मूल्य

(Ultimate or Highest Value)

परत: मूल्यों और स्वत: मूल्यों के सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के पश्चात् यहाँ सम्भवत: यह अप्रासंगिक न होगा कि इस विषय में हम भारतीय दृष्टिकोण से भी, संक्षेप में, विचार कर लें। भारतीय दर्शन में मूल्यों को "पुरुषार्थ" कहा गया है। ये पुरुषार्थ भारतीय विचारकों द्वारा चार माने गये हैं — (1) धर्म (Virtue), (2) अर्थ (Wealth), (3) काम (Desire) तथा (4) मोक्ष (Liberation)। इनमें प्रथम तीन को साधन मूल्यों या परत: मूल्यों (Instrumental values or Extrinsic values) के रूप में स्वीकार किया गया है, और केवल चतुर्थ को अन्तिम रूप से साध्य मूल्य या स्वत: मूल्य (Intrinsic Value) के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अवान्तर रूप से यों तो कई बार अर्थ और काम को साधन मूल्य और धर्म को साध्य मूल्य भी कहा गया है। परन्तु अन्तिम दृष्टिकोण यही है कि "मोक्ष" ही वस्तुत: परम साध्य है, परम मूल्य है, परम पुरुषार्थ है। भारतीय दार्शनिकों का कथन है कि सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम्

परम ब्रह्म (Supreme eality) की ही त्रिविध अभिव्यक्ति है। विचारणीय बात यह है कि जब यह कहा जाता है कि सत्य, शिव, एवं सौन्दर्य स्वतः मूल्य हैं क्योंकि वे स्वयं ही हमें सन्तोष प्रदान करते हैं, इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि वस्तुत: सन्तोष, शान्ति या सुख ही हमारे जीवन का साध्य है, लक्ष्य है। हम सत्य, शिव एवं सौन्दर्य्य को भी इसीलिए चाहते हैं कि उनकी प्राप्ति में हमें सुख एवं शान्ति की अनुभूति होती है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थिति होता है कि क्या हमारी यह चाह क्षणिक एवं सान्त सुख की है या शाश्वत एवं अनन्त सुख की ? भारतीय मनीषी कहते हैं कि मनोविश्लेषण के आधार पर यह एक ध्रुव सत्य निश्चित होता है कि विश्व का कोई भी प्राणी क्षण भर के लिये भी दुःख या अशान्ति नहीं चाहता। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि विश्व के सभी प्राणी सदा सर्वदा एक ऐसे सुख या शान्ति की खोज में हैं जिसका कभी अवसान (अर्थात् अन्त) न हो। अस्तु, यह सिद्ध होता है कि संसार के सभी व्यक्तियों का सर्वोपरि या अन्तिम उद्देश्य है शाश्वत सुख एवं शान्ति की प्राप्ति। इसी शाश्वत् सुख एवं शान्ति को 'मोक्ष' की संज्ञा प्रदान की जाती है। मोक्ष प्राप्ति ब्रह्म-साक्षात् या आत्म-साक्षात् का ही प्रतिफल है जिसमें सत्य, शिव और सौन्दर्य्य तीनों का पूर्ण समन्वय समाहित है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित जीवन के उच्चतर मूल्यों (Higher values) (अर्थात्, सत्य, शिव एवं सौन्दर्य्य) की पृष्ठभूमि में भी भारतीय दर्शन द्वारा उद्घोषित परम मूल्य (Highest or Ultimate Value) की ही खोज छिपी है। किन्तु, यह अवश्य कहना होगा कि पाश्चात्य दार्शनिकों का अन्वेषण केवल उच्चतर मूल्यों तक ही सीमित रहा, परम या उच्चतम मूल्य की चेतना उन्हें न हो पायी।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में पूछे गये प्रश्न

1. 'मूल्य' का क्या अर्थ है ? क्या मूल्य आत्मगत हैं या विषयगत ?
   What is the meaning of 'Value' ? Are values subjective, or objective ?

2. निम्नलिखित कथन की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए — "इच्छा ही मूल्य का आधार है; जब तक इच्छा की तृप्ति न हो मूल्य का स्वयं में कोई अस्तित्व नहीं है"।
   Examine critically the following statement — "Desire is the only basis of value; value itself does not exist until desire is being satisfied."

3. मूल्य से आप क्या समझते हैं ? मूल्यों के क्या क्या प्रकार-भेद हैं ? उनका अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
   What do you understand by value ? What are the various kinds of values ? Clearly differentiate amongst them.

4. मूल्यों के वर्गीकरण की विवेचना कीजिये।
   Discuss the classification of Values.

5. "मूल्य न ही तथ्य हैं न कल्पनायें"। तब मूल्यों का सद्वस्तु या तत्व में क्या स्थान है ? विभिन्न विचारधाराओं की विवेचना कीजिए ।
   "Values are neither facts nor fiction." What, then, is the place of values in Reality ? Discuss the different views.

6. मूल्य क्या है; मूल्यों के प्रकार-भेदों को संक्षेप में निर्दिष्ट कीजिए । मूल्य का तत्व से क्या सम्बन्ध है ?
   What is Value ? Indicate briefly the various kinds of value. What is the relation of Value with Reality ?

पारिभाषिक शब्दावली

जैसा कि इस पुस्तक के प्राक्कथन में कहा गया था हम यहाँ अध्येताओं की सुविधा हेतु पारिभाषिक शब्दावली प्रस्तुत कर रहे हैं। इस शब्दावली में यद्यपि प्रमुख रूप से पारिभाषिक शब्द हैं, तथापि कुछ ऐसे शब्दों के रूपान्तर भी दिये गये हैं जो सामान्य अध्येताओं के लिए कदाचित् कुछ क्लिष्ट हों, किन्तु जिनका प्रयोग भाषा-सौष्ठव के कारण पुस्तक में आवश्यक समझा गया है। अस्तु हमारा विश्वास है कि यह शब्दावली सभी पाठकों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्धि होगी।

A

Abiogenesis	स्वत: उत्पत्ति
Absolute	निरपेक्ष
Absolute Idealism	निरपेक्ष विज्ञानवाद
Absolutism	निरपेक्ष सत्तावाद, परब्रह्मवाद
Abstract	अमूर्त्त
Adaptation	अनुकूलन
Additive	योगात्मक
Adjustment	समायोजन
Adventitious	आगन्तुक
Affirmative	विधेयात्मक
Aggregate	संघात
Agnosticism	अज्ञेयवाद
Analogy	दृष्टान्त
Analysis	विश्लेषण
Anatomy	शरीर-विज्ञान
Antacedent	पूर्ववर्ती
Antithesis	प्रतिपक्ष
Appearance	आभास, प्रतीति
Apperception	संप्रत्यक्षण
Appreciation	गुणावधारण, गुण-विवेचन, आशंसन
Apriori	प्रागनुभव
Architect	शिल्पकार
Arithmetic progression	समानान्तर श्रेणी
Ascertaining	निश्चयीकरण
Aspect	रूप
Assimilation	सदृशीकरण
Assumed	पूर्वगृहीत
Axiology	मूल्य मीमांसा
Axiom	स्वयंसिद्ध प्रत्यय

B

Basic entity	मूलभूत तत्त्व
Bio-centric	जीवन-केन्द्रिय
Block Universe	शिलाकल्प विश्व

Brain मस्तिष्क
Bye-product आनुषंगिक उत्पत्ति

C

Cancellation बाध
Carbon-di-oxide आंगार द्विजारेय
Categorical निरपेक्ष
Categories कोटियाँ
Causal agent कारण-यन्त्र
Cell कोशिका
Certain निश्चित

Choice वरण
Circumference परिधि
Circumspection पर्य्यवेक्षण
Cloud-dust मेघ-रेणु
Co-existent सह-भावी
Cogito ergo sum चिन्तये अतोऽस्मि
Coherent संसक्त
Coloured रञ्जित
Compensation क्षतिपूर्त्ति
Complex जटिल
Compound सांश,मिश्रित
Concept प्रत्यय, संप्रत्यय, धारणा
Conception संप्रत्ययन
Conceptual संप्रत्ययात्मक
Concrete मूर्त्त
Condensed घनोभूत
Connotation गुणार्थ
Connotative गुणार्थक
Consevation of energy शक्ति-संरक्षण
Consistent संगत
Contraint बाध्यता
Constext संदर्भ
Contingent आपातिक
Continuity सातत्य, निरन्तरता
Conviction दृढ़ निश्चय
Copy प्रतिरूप
Correspondence संविादिता, संवाद
Cortical vibration वल्कुटीय कंपन
Cosmology विश्व मीमांसा
Critical examination मीमांसा
Critical Theory or Criticism विचारवाद, समीक्षावाद
Critique संपरीक्षा, समालोचना

D

Deduction निगमन
Deism केवलनिमित्तेश्वरवाद, तटस्थ-ईश्वरवाद
Deity देव-सत्व
Density घनत्व
Description निर्वचन
Determination निश्चयीकरण
Determinism नियतत्ववाद, नियंत्रणवाद
Deus ex Machina यंत्र मात्र
Dialectical द्वन्द्वात्मक
Diameter व्यास
Differentiation विभेदीकरण
Dilemma द्विविधा, उभयतः पाश
Direct प्रत्यक्ष, अपरोक्ष

Direct realisation	अपरोक्ष अनुभूति
Discrete	पृथक्
Discrimination	विवेकीकरण
Disintegration	विगठन
Distinct	विविक्त
Divine	दैवी, दिव्य
Dualism	द्वैतवाद, द्वितत्त्ववाद

E

Effect	कार्य
Efficacy	कार्यकारिता
Efficiency	दक्षता
Efficient cause	निमित्तकारण
Ego-centric Predicament	आत्मकेन्द्रित प्रवणता, आत्ममुखी प्रवणता
Elan Vital	जीवन-शक्ति
Electron	विद्युदणु
Emergent Evolution	उन्मेषवाद, नव्योत्क्रान्तिवाद
Empirical	व्यावहारिक
Empiricism	अनुभववाद
Entelechy	अन्तस्तत्त्व
Environment	परिवेश, पर्य्यावरण, वातावरण
Epiphenomenalism	उपोत्पादनवाद
Epiphenomenon	उपोत्पाद
Epistemology or Theory of Knowledge	ज्ञान मीमांसा, ज्ञान-विज्ञान
Equative	समतात्मक
Exactness	यथाभूतता
Experiment	प्रयोग
Extension	प्रसार, विस्तार

F

Fact	तथ्य
Factitious	कृत्रिम
Factor	कारक, अंग
Fallacy of Infinite Regress	अनवस्था दोष
Final cause	प्रयोजनात्मक कारण
Finite	सीमित, सान्त
Fore-knowledge	प्राग्ज्ञान
Form	आकार, रूप
Formal	आकारात्मक
Former	पूर्व
Formulation	प्रतिपादन
Freedom of Will	इच्छा-स्वातन्त्र्य संकल्प-स्वातन्त्र्य

G

Generalisation	सामान्यीकरण
Genus	जाति
Geometric progression	गुणोत्तर श्रेणी
Gland	ग्रन्थि
Gnosticism	प्रज्ञानवाद
God-intoxicated	ईश्वरोन्मत्त
Goodness	शिवम्
Gospel	दैवी सन्देश

H

Hallucination	विभ्रम
Halo	प्रकाश-पुञ्ज, प्रकाश-वृत्त
Heredity	आनुवंशिकता, वंशानुक्रमण

Heterogeneity	विजातीयता
Homogeneity	सजातीयता, एकरसता
Hydrogen	उद्जन
Hypothesis	प्राक्-कल्पना
	I
Idea	प्रत्यय, विचार
Idea-in-itself	स्व-स्थित विज्ञान
Idealism	प्रत्ययवाद, अध्यात्म-वाद, आदर्शवाद
Identity	तदात्मता, तादात्म्य
Illusion	भ्रम
Image	प्रतिच्छाया
Immanent	व्यापक
Immediate	अव्यवहित
Impression	मुद्रण, संस्कार
Incoherent	असंसक्त
Inconsistent	असंगत
Indirect	परोक्ष
Individual soul	जीवात्मा
Inherent	अन्तर्निहित
Inherited	वंशागत
Initiative	उपक्रम, स्वोपक्रम
Innate	जन्मजात, जन्मगत
Innervation	तन्त्रिकोत्तेजन
Instinct	मूल-प्रवृत्ति
Instrument	करण
Interaction	अन्तर्क्रिया
Interactionism	अन्तर्क्रियावाद
Internal organ	अन्त: इन्द्रिय
Intuition	अन्त:प्रज्ञा, सहज ज्ञान
Intuitionism	अन्त:प्रज्ञावाद, सहजज्ञानवाद
Inverted	विपर्य्यस्त
	J
Judgment	निर्णय
	K
Kinetic energy	गतिज ऊर्जा
Knowledge	ज्ञान
	L
Langour	क्लान्ति
Lassitude	शिथिलता
Linear	रेखीय
Logical Positivism	तार्किक भाववाद
Logistic	तर्कगणित
	M
Manifestation	अभिव्यक्ति
Mariners compass	दिशासूचक यन्त्र
Matter	पुद्गल, जड़तत्त्व
Mechanism	यन्त्रवाद
Mental gymnastic	मानसिक कलाबाजी
Mentalism	मनस्वाद
Metaphysical	तात्त्विक
Metaphysics	तत्त्वज्ञान
Miracle	अतिप्राकृत घटना
Modality	निश्चय-मात्रा
Modes	प्रकार, विकार
Monad	चिद्विन्दु
Monadology	चिद्विन्दुवाद
Mysterious	रहस्यमय
Mysticism	रहस्यवाद
	N
Naturalism	प्रकृतिवाद

Nebulae	नीहारिकायें
Necessary	आवश्यक, अवश्यंभावी, अनिवार्य
Necessary postulate	आवश्यक मान्यता
Negation	निषेधात्मकता
Neo-realist	नव्य-वस्तुस्वातन्त्र्यवादी
Nervous-system	स्नायु-मण्डल, स्नायु-संस्थान
Neutral	तटस्थ
Nisus	तेजना, अन्त: प्रवृत्ति
Noetic quality	स्वत:प्रामाण्यता का गुण
Non-entity	असत्, शून्य
Notion	धारणा, प्रत्यय
Noumenal world	पारमार्थिक जगत्
Noumenon	परमार्थ सत्, प्रपञ्चातीत तत्त्व
Nucleus	केन्द्रिक

O

Object	विषय, ज्ञेय
Objective	वस्तुगत, वस्तुनिष्ठ
Observation	निरीक्षण
Occasionalism	यथावसरवाद
Occultism	गुह्य तन्त्र, गुह्य विद्या
Ontology	सत्ता-मीमांसा
Orchestra	एकताल संगीत
Organic	सावयव
Organism	अंगी
Oxygen	जारक

P

Panentheism	निमित्तोपादानेश्वरवाद, भ्रान्तरातीत ईश्वरवाद
Panpsychism	सर्वचित्तवाद
Pantheism	केवलोपादानेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद
Parallelism	समानान्तरता
Parallogism, Fallacy of	तर्काभास का दोष
Parsimony, Law of	लाघव-न्याय, सरलतम व्याख्या का सिद्धान्त
Perspective	परिप्रेक्ष्य
Petitio principii, Fallacy of	आत्माश्रय दोष
Phenomenon	प्रपञ्च
Philosophy of Mind	मनस् दर्शन
Physiology	शरीरक्रिया विज्ञान
Planets	ग्रह
Postulate	अभ्युपगम
Potentially	बीजभूत रूप में
Pragmatism	व्यवहारवाद
Prcedence	क्रम
Prediction	प्रागुक्ति
Premise	आधारवाक्य
Premise, Major	साध्य आधारवाक्य
Premise, Minor	पक्ष आधारवाक्य
Presupposition	पूर्वमान्यता
Probability	संभाव्यता, प्रसंभाव्यता, प्रायिकता
Process	प्रक्रम
Proposition	तर्कवाक्य
Protoplasm	जीव-द्रव्य
Psychic Research	आध्यात्मिक गवेषणा

Psycho-physical मनोदैहिक
Psychoid चित्तकल्प
Pyramid सूचीस्तम्भ

Q

Quality गुण
Quantity परिमाण

R

Radius अर्ध-व्यास
Range परास
Rational तर्कबुद्धिमूलक
Rationalism बुद्धिवाद
Rationality तर्कबुद्धिपरकता
Realism वस्तुस्वातंत्र्यवाद
Reason, Faculty of विवेक शक्ति
Reflex प्रतिवर्त्त
Reflex action सहज क्रिया
Representationist प्रतिनिधानवादी
Representative Theory पुनरुपस्थापन सिद्धांत
Reproduction पुनरभिव्यक्ति
Response अनुक्रिया
Rigidly अनम्य रूप से

S

Satellite उपग्रह
Scepticism संशयवाद
Scholasticism पाण्डित्यवाद
Search-light गवेषणा-प्रकाश
Seat आधार-स्थली
Seer द्रष्टा
Self-automation स्वचालन
Self-conceived स्वसंवेद्य
Self-consciousness स्वचेतना
Self-contained आत्म-अन्तर्विष्ट
Self-contradiction स्वतोव्याघात, वदतोव्याघात
Self-contradictory स्वविरोधी
Self-evident स्वत:सिद्ध
Self-existent स्वयंभू
Self-growth आत्माभिवर्द्धन
Self-procreation वंशोत्पादन
Semantics शब्द-विज्ञान
Sensation संवेदना, संविति
Sense experience इन्द्रियानुभव
Sensibility, Faculty of संवेदन शक्ति
Sequence अनुक्रम
Solidity सघनता, ठोसपन
Species उपजाति
Speculation परिकल्पना
Speculative bias परिकल्पनात्मक अभिनति
Spiral वर्तुलाकार
Stage सोपान
Standpoint दृष्टिकोण
Subject विषयी, ज्ञाता
Subjective आत्मगत, व्यक्तिगत
Substance द्रव्य
Substratum अधिष्ठान
Sucecssion अनुक्रम
Sufficient Reason यथेष्ट हेतु

Superimposed अध्यारोपित, अधिष्ठित
Supernatural अतिप्राकृतिक, अलौकिक
Supersensible अतीन्द्रिय
Super-sensuous अतीन्द्रिय
Supra-rational अतिबौद्धिक
Survival of the Fittest योग्यतम का अवशेष
Syllogism न्यायवाक्य, मध्यपदीय अनुमान-वाक्य
Symbol प्रतीक
Symbolism प्रतीकवाद
Symbolization प्रतीकीकरण
Symmetrical सममित

T

Table सारणी, तालिका
Taboo वर्जित, निषिद्ध
Tabula rasa कोरी पट्टी
Technical school तकनीकी विद्यालय, प्राविधिक विद्यालय
Teleological प्रयोजनात्मक
Teleology प्रयोजनवाद
Temporal कालिक
Theism ईश्वरवाद
Theology ईश्वरमीमांसा, ईश्वरविज्ञान
Thesis पक्ष
Things-in-themselves वस्तुओं के यथार्थ रूप, पारमार्थिक वस्तुएँ
Trance उपसमाधि
Tran scendent अतीत, अनुभवातीत, अत्यानुभविक
Tran cendental standpoint पारमार्थिक दृष्टिकोण
Transformation परिणति

U

Ultimate अन्तिम, चरम, परम
Ultimate Reality परम सत्ता
Ultimate Value चरम मूल्य
Uncrossable अलंघ्य
Understanding, Faculty of बोध-शक्ति
Undifferentiated अविभेदित
Uniform एकरूप
Unilateral एकपक्षीय
Unity एकता, ऐक्य
Universal सार्वभौम
Unpredictability अज्ञातपूर्वता
Unworldliness असांसारिकता
Utilitarian उपयोगितावादी
Utilitarianism उपयोगितावाद

V

Vacillation अनिश्चय
Valid प्रामाणिक
Valuation मूल्यांकन
Variability परिवर्त्तनशीलता
Veracity सत्यशीलता
Verae Causae वास्तवकारण
Verbalism वाचिकता, शाब्दिकता
Verdict अधिनिर्णय, अधिमत

Verification	सत्यापन	Wisdom	प्रज्ञान, धी
Vibration	कंपन	Wish	अभिलाषा
Vice	दुर्गंण	Witness	साक्षी
Virtue	सद्गुण		**X**
Vision	दृष्टि, साक्षात्कार	Xenophobia	अज्ञातजनभीति
Volition	संकल्प		**Y**
Volutary action	ऐच्छिक कार्म	Yellow spot	पीतस्थल
	W		**Z**
Whole	साकल्य	Zenith	शिरोबिन्दु

सहायक ग्रन्थ-सूची

(Bibliography)

अंग्रेजी

Adamson	'The Development of Greek Philosophy' (1940)
Alexander, S.	'Space, Time and Deity' (Macmillon Co. (1920)
Aliotta	'The Idealistic Reaction Against Science Translated by Agnes. Me Caskill (Macmillan Co.)
Bahm A. J.	'Philosophy—An Introduction' (Asia Publishing House, 1964)
Baldwin J. M.	'Dictionary of Philosophy and Psychology (Macmillon Co.)
Barrett, C.	'Contemporary Idealism in America (Macmillon Co.)
Bergson, H.	'Creative Evolution' (Henry Holt and Co
Bergson, H.	'Time and Free Will' (Macmillan Co.)
Boodin, J. G.	'Cosmic Evolution' (Macmillan Co.)
Brahma, N. K.	'The Philosophy of Hindu Sadhana' (Kegan Paul)
Bradley, F. H.	'Appearance and Reality'
Broad, C. D.	'Determinism, Indeterminism and Lebertarianism' (Macmillan. Co.)
Broad, C. D.	'Scientific Thought' (Harcourt Brace and Co.)
Brightman, E S.	'Introduction to Philosophy' (Henry Holt and Co.)
Burnet, J.	'Greek Philosophy' (Macmillan Co.)
Caird, Edward	'Hegel'

Chatterji, S. C.	'Fundamentals of Hinduism'
Columbia Associates in Philosophy	'Introduction to Reflective Thinking' (Houghton Mifflin Co.)
Coster, G.	'Yoga and Western Psychology' (Oxford University Press)
Cotton, Edward H. (Editor)	'Has Science Discovered God ?' (Thomas Y. Crowel Co.)
Cunningham, G. W.	'Problems of Philosophy' Chakravarty, Chatterji and Co., Calcutta.)
Cushman, H. E.	'A Beginners History of Philosophy' (Houghton Mifflin Co.)
Darwin, Charles	'Descent of Man' (D. Appleton and Co.)
Darwin, C. G.	'The New Conception of Matter' (Macmillan Co.)
Das Gupta, S. N.	'A History of Indian Philosophy' Vols. I and II
Das Gupta S. N.	'The Study of Patanjala Yoga as Philosophy and Religion' (Kegan Paul)
Datta, D. M.	'Chief Currents of Contemporary Philosophy'
Descartes	'Discourse on Method,' Translated by John Jeitch (Everyman's Library)
Descartes	'Meditations'
Deussen, P.	'A Constructive Survey of the Upanishadic Philosophy'
Deussen, P.	'The System of Vedanta' (Chicago, 1912)
Dewy, John	'How We Think' (D. C. Health and Co.)
Durant, Drake	'Mind and its Place in Nature' (Macmillan Co.)
Erdmann, J. E.	"History of Philosophy", translated by Hough, 3 Vols. (Macmillan Co.)
Eddington, Sir Arthur	'The Nature of the Physical World' (Macmillan Co.)
Falckenburg	'History of Modern Philosophy
Geddes and Thomson	'Evolution' (Home University Library, Henry Holt and Co.)
Haldane, J. S.	'Materialism' (Harper, 1932)

Haldane, J. S. 'Mechanism, Life and Personality' (John Murray)

Henderson, L. J. 'The Fitness of Environment' (Macmillan Co.)

Hocking, W. E. 'The Meaning of God in Human Experience' (Yale University Press)

Hoernle, R. F. A. 'Idealism' (George H. Doran Co.)

Hoffding, H. 'A History of Modern Philosophy' translated by B. E. Meyer (Macmillan Co.)

Hume, David 'An Enquiry Concerning Human Understanding'

Hume, David 'Essay on Liberty and Necessity'

Jacks, L. P. 'The Revolt Against Mechanism' (Macmillan Co., 1934)

James, Mac Kaye 'The Dynamic Universe' (Charles Scriber's Son)

James, William 'A Pluralistic Universe' (Longmans, Green and Co.)

James, William 'The Varieties of Religious Experience' (Longmans, Green and Co.)

James, William 'The Will to Believe' (Longmans, Green and Co.)

Jeans, Sir James 'The Mysterious Universe' (Macmillan Co.)

Jeans, Sir James 'The New Background of Science' (Macmillan Co.)

Jeans, Sir James 'The Stars in Their Courses' (Macmillan Co.)

Jeans, Sir James 'Through Space and Time' (Macmillan Co.)

Jeans, Sir James 'The Universe Around Us' (Macmillan Co.)

Laird, John 'Problems of the Self' (Macmillan Co.)

Lane, H. H. 'Evolution and Christian Faith' (Princeton University Press)

Lange, F. A. 'History of Materialism' (Treubner and Co.)

Leighton, J. Alexander 'Man and the Cosmos' (D. Appleton and Co.)

Leuba, J. H.	'A Psychological Study of Religion' (Open Court Publishing Company)
Locke, John	'An Essay Concerning Human Understanding'
Mason, F., Editor	'The Great Design' (Macmillan Co.)
Max Planck	'Where is Science Going ?' (W. W. Norton and Company)
Mc Dougall, W.	'Body and Mind' (Methuen and Co.)
Montague, W. P	'The Ways of Knowing' (Macmillan Co.)
More, L. T.	'The Limitations of Science' (Henry Holt and Co.)
Morgan, Lloyd	'Emergent Evolution' (Henry Holt and Co.)
Morris, C. W.	'Six Theories of Mind' (The University of Chicago Press)
Muirhead, J., H. Editor	'Contemporary British Philosophy' (Macmillan Company)
Muirhead, J. H.	'The Use of Philosophy' (The Harvard University Press, 1929)
Noble, Edmund	'Purposive Evolution' (Henry Holt and Co.)
Patrick, G. T. W.	'Introduction to Philosophy' (Houghton Mifflin Co.)
Perry, R. B.	'Present Philosophical Tendencies' (Longmans Green and Co.)
Pratt, J. B.	'Matter and Spirit' (Macmillan Co.)
Pratt, J. B.	'The Religious Consciousness' (Macmillan Company)
Radhakrishnan, S.	'Indian Philosophy', Vols. I and II
Rama Tirtha, Swami	'In Woods of God - realisation, Vols. I to VIII (Swami Rama Tirtha Pratishthan, Lucknow)
Ranade, R. D.	'A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy'
Rashdall, H.	'The Theory of Good and Evil' (Oxford University Press)
Richardson, C. A.	'Spiritual Pluralism and Recent Philosophy' (Cambridge University Press)

Royce, Josiah	'The Conception of God' (Macmillan Co.)
Russel, Bertrand	'The A. B. C. of Atoms' (E. P. Dutton and Co.)
Russel, Bertrand	'The Analysis of Mind' (George Allen and Unwin, Ltd.)
Russel, Bertrand	'Our Knowledge of the External World' (Open Court Publishing Co.)
Seal, B. N.	'Positive Sciences of the Hindus'
Sellars, R. W.	'Essays in Critical Realism' (Macmillan Co.)
Shapley, Harlow	'Flights from Chaos'
Sinclair, May	'A Defence of Idealism' (Macmillan Co.)
Stace, W. T.	'A Critical History of Greek Philosophy' (Macmillan Co.)
Stace, W. T.	'The Theory of Knowledge and Existence' (Clarendon Press, Oxford)
Strong, C. A.	'Why the Mind Has a Body ?' (Macmillan Co.)
Thomson, J Arthur	'Introduction to Science' (Home University Library, Henry Holt and Company)
Weber, A. and Perry, R. B.	'History of Philosophy' (Charles Scribner's Sons)
Windleband, W.	'A History of Philosophy' Translated by J. H. Tufts (Macmillan Co.)

संस्कृत और हिन्दी

अपौरुषेय	दश उपनिषद्
श्री कृष्ण	श्रीमद्भगवद्गीता
महर्षि पतञ्जलि	योगसूत्र
श्री माधवाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह
श्री शंकराचार्य	ब्रह्मसूत्र भाष्य
गुलाबराय	पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास
जयदेव सिंह	पाश्चात्य दर्शन की रूप-रेखा
तुलसी	रामचरित मानस
बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन

दार्शनिकों का देश तथा जीवन-काल

(Philosophers Countries and Life-periods)

A

Ammonius Saccas [Greek] 175 to 242
Anaxagoras [Greek] 500 to 428 B.C.
Anaximander [Greek] 611 to 547 B.C.
Anaximenes [Greek] 588 to 524 B.C.
Anselm, St. [English] 1033 to 1109
Aquinas, St. [Naples] 1224 to 1274
Aristotle [Greek] 384 to 322 B.C.
Augustine, St. [African] 353 to 430
Avenarius, R. [German] 1843 to 1896
Averroes [Arabian] 1126 to 1198

B

Badarayana Vyasa, Maharshi [Indian]
Bacon, Francis [English] 1561 to 1626
Bentham, Jeremy [French] 1748 to 1832
Bergson [French] 1859 to 1941
Berkeley [Irish] 1685 to 1753
Bosanquet, Bernard [English] 1848 to 1923
Bradley, F. H. [English] 1846 to 1924
Brentano [German] 1838 to 1917
Bruno, Giordano [Italian] 1548 to 1600

C

Cabanis [French] 1757 to 1808
Caird, Edward [Scottish] 1835 to 1908
Caird, John [Scottish] 1820 to 1898
Campanell, Tommaso [Italian] 1568 to 1639
Cassirer, Ernest [German] 1874 to 1945
Chubb [English] 1679 to 1746
Clifford, William 1845 to 1879

Collier, Arthur, (English) 1680 to 1732
Comte, Auguste (French) 1798 to 1857
Croce, B. (Italian) 1866 to 1952
Cunningham (Scottish) 1805 to 1861
Cabanis (French) 1757 to 1808

D

Darwin (British) 1809 to 1882
Democritus (Greek) 460 to 370 B.C.
Descartes, Rene (French) 1595 to 1650
Dewy, John (American) 1859 to 1952

E

Eckhart, Meister (German) 1260 to 1320
Eddington, A. S. (British) 1882 to 1944
Empedocles (Greek) 495 to 435 B.C.
Epicurus (Greek) 341 to 270 B.C.
Erigena, John Scotus (Irish) 815 to 877
Eucken, Rudolf (German) 1844 to 1926

F

Fichte (German) 1762 to 1814

G

Gentile, G. (Italian) 1875 to 1944
Geulinex, Arnold (Belgian) 1625 to 1669
Gorgias (Greek) 483 to 375 B. C.
Green, T. H. (English) 1836 to 1882

H

Hamann, J. G. (German) 1730 to 1788
Hamilton, William (Scottish) 1788 to 1856
Hegel (German) 1770 to 1831
Heidegger (Swiss) 1633 to 1698
Helvetius (French) 1715 to 1771
Heraclitus (Greek) 540 to 475 B.C.
Herbert of Cherbury (English) 1583 to 1648
Hocking, William Ernest (American) 1873 to.........

Hoffding H. (Danish) 1843 to 1931
Holbach (German) 1723 to 1789
Holt (English) 1642 to 1710
Hume, David (Scottish) 1711 to 1776
Husserl (German) 1859 to 1938

I

Iamblichus (Syrian)...........to 330

J

Jacob, Bochme (German) 1575 to 1624
Jacobi, F. H. (German) 1743 to 1819
James, William (American) 1842 to 1910
Jaspers, Karl (German) 1883 to.........

K

Kant, Immanuel (German) 1724 to 1804
Kapila Maharshi (Indian)
Kierkegard, S. A. (Danish) 1813 to 1855
Kulpe (German) 1868 to 1915

L

Lamarck (French) 1744 to 1829
Laplace (French) 1749 to 1827
Leibnitz (German) 1646 to 1716
Leucippus (Greek) Contemporary of Empedocles
Lewis (American)
Locke (English) 1632 to 1704
Lotze, Hermann (German) 1817 to 1881
Lucretius (Roman) 98 to 55 B.C.

M

Mach, Ernst (Austrian) 1838 to 1916
Machiavelli (Italian) 1469 to 1527
Mackenzie (English)
Madhavacharya (Indian) 14th century
Maimonides, Moses (Arabian) 1135 to 1204
Malebranche, Nicolas (French) 1638 to 1715

Marcel, Gabriel 1889 to.........
Marvin (American)
Maxwell, James Clerk (British) 1831 to 1879
Mc Taggart (English) 1866 to 1925
Meinong, A. (German) 1853 to 1921
Mill, John Stuart (English) 1806 to 1873
Montague (American)......to 1873
Montaigne, Michal (French) 1533 to 1592
Montesquieu (French) 1743 to 1794
Moore, G. E. (English) 1873 to 1958
Morgan, Lloyd (French)

N

Nicolas of Cusa, 1401 to 1464

P

Paracelsus (German) 1493 to 1541
Parmenides (Greek) About 514 B.C. to......
Patanjali, Maharshi (Indian)
Paulsen, Friedrich (German) 1846 to 1908
Peirce, C. S. (American) 1839 to 1914
Perry, R. B. (American)
Philo (Greek) 30 B.C. to 50 A.D.
Plato (Greek) 427 to 347 B.C.
Plotinus (Egyptian) 204 to 269
Plutarch, the younger (Greek) 350 to 433
Poincare, Henri (French) 1854 to 1912
Porphyry (Roman) 232 to 304
Proclus (Turkish) 410 to 485
Protagoras (Greek) 480 to about 410 B.C.
Pyrroh (Greek) 365 to 270 B.C.
Pythagoras (Greek) 580 — 570 to 500 B.C.

R

Radhakrishnan, S. (Indian) 1884 to 1915
Rama Krishna Pramahansa (Indian) 1836 to 1885
Rama Tirtha, Swami (Indian) 1873 to 1906
Ramanuja, Acharya (Indian) 12th century

Rousseau (German) 1712 to 1778
Royce, Josiah (American) 1855 to 1916
Russel, Bertrand (English) 1872 to 1972

S

Santayana, George (Spanish) 1863 to 1952
Sartre (French) 1905 to.........
Schiller (German) 1864 to 1937
Schopenhauer (German) 1788 to 1860
Scotus, John Duns (British) 1274 to 1308
Sellars (American)
Simon, St. (French) 1760 to 1825
Shankara (Indian)
Socrates, Acharya (Greek) 469 to 399 B.C.
Spaulding (American)
Spencer, Herbert (English) 1820 to 1903
Spinoza (Dutch) 1632 to 1677

T

Taylor, Jeremy 1613 to 1667
Toland, John (French) 1670 to 1721
Tolstoy, Leo (Russian) 1828 to 1910
Tulsi Dasa, Santa (Indian) 1611 to 1737

U

Underhill, (British)

V

Vaihinger, Hans, (German), 1852 to 1933
Victor Cousin (French) 1752 to 1867
Vivekanada, Swami (Indian) 1863 to 1902
Voltaire (French) 1694 to 1778

W

Weber (German) 1804 to 1891
Whitehead, A. N. (American) 1861 to 1947
Will Durant (French) 1885 to.........
William of Occam (English) 1280 to 1347

Windleband, Wilhelm (German) 1848 to 1915
Wolf, Christian (German) 1679 to 1754
Wundt, Wilhelm (German) 1832 to 1920

X

Xenophanes (Greek) 570 to 480 B.C.

Z

Zeno of Cyprus (Greek) 342 to 270 B.C.
Zeno of Elea (Greek) 490 to 430 B.C.

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

दर्शनशास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
चार्वाक दर्शन	आचार्य आनन्द झा	150.00
निगण्ट ज्ञातपुत्र	ज्ञानचन्द्र जैन	8.00
भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	100.00
योग दर्शन	डॉ0 सम्पूर्णानन्द	86.00
प्रतीक शास्त्र	परिपूर्णानन्द वर्मा	150.00
पतन की परिभाषा	डॉ0 परिपूर्णानन्द वर्मा	85.00
पश्चिमी दर्शन	डॉ0 दीवान चन्द्र	75.00
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य	रमाकान्त त्रिपाठी	40.00
सौन्दर्यशास्त्र एक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	100.00
समकालीन भारतीय दर्शन	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	150.00
ललित विस्तर	मू0 भगवान बुद्ध की वाणी अनु0प्रो0 शान्ति भिक्षु शास्त्री	135.00
एच0एफ0 ब्रेडले का दर्शन	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	27.00
कांट का दर्शन	प्रो0 सभाजीत मिश्र	64.00
नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	96.00
भारतीय दर्शन	डॉ0 देवराज	120.00
समकालीन पाश्चात्य दर्शन	डॉ0 लक्ष्मी सक्सेना	130.00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-20-9

मूल्य रु0 100=00